श्रीविष्णुशर्म विरचिते पञ्चतन्त्रके

मित्रसंप्राप्तिः

(अन्वय, संस्कृत टीका, समास, व्याकरण, हिन्दी अनुवाद एवं
हिन्दी तथा संस्कृत में कथासार आदि के सहित)

सम्पादक
डा० रामकृष्ण आचार्य
राजा बलवन्तसिंह कालेज, आगरा

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

विनोद पुस्तक मन्दिर
कार्यालय : रांगेय राघव मार्ग, आगरा-२
विक्री-केन्द्र : हॉस्पिटल रोड, आगरा-३

प्रथम संस्करण
१९६८ 7/-
मूल्य :

कैलाश प्रिन्टिङ्ग प्रेस, आगरा-२
[१२७६८]

सम्पादकीय

संस्कृत कथा-साहित्य ही नहीं, अपितु समग्र विश्व के कथा-साहित्य मे 'पञ्चतन्त्र' का महत्त्वपूर्ण स्थान सर्वविदित है। यही कारण है कि विश्व की अनेक भाषाओं मे इसके विभिन्न अनुवाद प्रस्तुत हो चुके हैं। यह कहने की आवश्यकता नही कि कथारस का आस्वादन कराने के अतिरिक्त, यह ग्रन्थ भारतीय नीतिशास्त्र के साथ संस्कृत भाषा मे प्रवेश कराने मे भी बड़ा सहायक है और साथ ही पूर्वत: प्रविष्ट जनो को एतद्विषयक और भी अधिक नैपुण्य प्रदान करने वाले ग्रन्थो मे अग्रगण्य है। इसीलिए इसके विभिन्न अंश विभिन्न परीक्षाओं में निर्धारित हैं।

इस ग्रन्थरत्न का द्वितीय तन्त्र—मित्रसंप्राप्ति—भी इसका एक महत्त्वपूर्ण भाग है, हितोपदेश का 'मित्रलाभ' प्रकरण बहुत कुछ इसी पर आधारित है। पञ्चतन्त्र के इस भाग—मित्रसंप्राप्ति—का अनतिसंक्षिप्त एवं अनतिविस्तृत यह संस्करण मुख्यतः परीक्षार्थियो के लिए उपस्थित किया जा रहा है। इसमें सम्पूर्ण मूलपाठ के साथ उसका (पद्य भाग का) अन्वय, संस्कृत टीका, (गद्य एवं पद्य दोनों भागो का) समास, व्याकरण एवं हिन्दी अनुवाद दिया गया है। साथ ही अन्त मे सभी कथाओं का हिन्दी एवं संस्कृत मे सार देकर इसे सभी प्रकार से परीक्षोपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

आशा है, जिनके लिए यह संस्करण प्रस्तुत किया गया है, वे इससे पूर्ण लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे।

गुरु-पूर्णिमा
सम्वत् २०२५

—सम्पादक

विषय-सूची

विष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके

मित्रसंप्राप्तिः

कथामुखम्

प्रसंगः—ग्रन्थकार अपने द्वारा प्रस्तूयमान ग्रन्थ 'पञ्चतन्त्र' की प्रस्तावना लिखते हुए सर्वप्रथम ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के उद्देश्य से मङ्गलाचरण करते हैं :—

ब्रह्मा रुद्रः कुमारो हरिवरुणयमा वह्निरिन्द्रः कुबेरः,
चन्द्रादित्यौ सरस्वत्युदधियुगनगा वायुरुर्वी भुजङ्गाः ।
सिद्धा नद्योऽश्विनौ श्रीर्दितिरदितिसुता मातरश्चण्डिकाद्याः,
वेदास्तीर्थानि यज्ञा गणवसुमुनयः पान्तु नित्यं ग्रहाश्च ।।१।।

अन्वयः—ब्रह्मा रुद्रः कुमारः हरिवरुणयमाः वह्निः इन्द्रः कुबेरः चन्द्रादित्यौ सरस्वती उदधियुगनगाः वायुः उर्वी भुजङ्गाः सिद्धाः नद्यः अश्विनौ श्रीः दितिः अदितिसुताः चण्डिकाद्याः मातरः वेदाः तीर्थानि यज्ञाः गणवसुमुनयः ग्रहाः च नित्यम् पान्तु ।

सं० टी०:—ब्रह्मा प्रजापतिः रुद्रः शिवः कुमारः शिवपुत्रः स्वामिकार्तिकेयः हरिवरुणयमाः हरिश्च वरुणश्च यमश्च हरिवरुणयमाः विष्णुजलेशयमाः वह्निः अग्निः इन्द्रः सुरेशः कुबेरः यक्षेश्वरः चन्द्रादित्यौ चन्द्रश्च आदित्यश्च चन्द्रादित्यौ सोमसूर्यौ सरस्वती तन्नामिका नदी उदधियुगनगाः उदधयश्च युगाश्च नगाश्च उदधियुगनगाः समुद्रयुगपर्वताः वायुः पवनः उर्वी पृथ्वी भुजङ्गाः सर्पाः सिद्धाः देवविशेषाः नद्यः सरितः अश्विनौ सूर्यपुत्रौ अश्विनीकुमारौ श्रीः लक्ष्मीः दितिः कश्यपपत्नीनामन्यतमा दैत्यमाता अदितिसुताः अदितेः सुताः अदितिसुताः अदितिपुत्राः आदित्या इत्यर्थः चण्डिकाद्याः चण्डिका आद्या यासां ताः चण्डिकाद्याः चण्डिकाप्रभृतयः मातरः देव्यः वेदाः ऋग्वेदादयः चत्वारो वेदाः तीर्थानि पुण्यस्थानानि यज्ञा मखा गणवसुमुनयः गणाः देवसङ्घविशेषाः वसवः अष्टसंख्याकाः प्रसिद्धाः देवविशेषाः मुनयः मननशीलाः तत्त्वज्ञाः जनाः ते च ते च ते गण-

वसुमुनयः ग्रहा प्रसिद्धाः नवग्रहा च नित्यम् सर्वदा सर्वान् इति शेषः पान्तु रक्षन्तु ।

समास —हरिवरुणयमा=हरिश्च वरुणश्च (द्वन्द्व) । चन्द्रादित्यौ= चन्द्रश्च आदित्यश्च (द्वन्द्व) । उदधियुगनगा =उदधयश्च युगाश्च नगाश्च (द्वन्द्व) । अदितिसुता.=अदिते सुता. (तत्पुरुष) । चण्डिकाद्या =चण्डिका आद्या यासां ता (बहुव्रीहि) । गणवसुमुनय =गणाश्च वसवश्च मुनयश्च (द्वन्द्व) ।

व्याकरण —यज्ञा =यज्+नङ् (न), सन्धिकार्य से 'ज्' और 'न' का 'ज्ञ', प्रथमा बहुवचन । पान्तु='पा' धातु, लोट् लकार, प्रथमपुरुष, बहुवचन ।

शब्दार्थः—कुमार =शिवपुत्र स्वामिकार्तिकेय । नग=पर्वत । उर्वी= पृथ्वी । सिद्धा =देवो का वर्गविशेष । गण=देवो के सङ्घ विशेष ।

हिन्दी अनुवाद —ब्रह्मा, शिव, शिवपुत्र स्वामिकार्तिकेय, विष्णु, वरुण, यम, अग्नि, इन्द्र, कुबेर, चन्द्र, सूर्य, सरस्वती, समुद्र, युग, पर्वत, वायु, पृथ्वी, सर्प, सिद्ध, नदियाँ, अश्विनीकुमार, लक्ष्मी, दिति, अदितिपुत्र (आदित्य) चण्डिका आदि देवियाँ, वेद, तीर्थ, यज्ञ, देवो के विभिन्न गण (सङ्घ), वसु मुनि एव ग्रह (सब की) रक्षा करें ।

विशेष—भारतीय ग्रन्थप्रणेता विद्वानो की प्रायः शिष्टपरम्परा रही है कि वे अपने ग्रन्थ के पूर्व मगलाचरण का विन्यास करते हैं । तदनुसार यहाँ भी ग्रन्थकार ने मगलाचरण किया है । मंगलाचरण मुख्यतः तीन प्रकार का माना जाता है :—नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक एव वस्तुनिर्देशात्मक । इस श्लोक मे आशीर्वादात्मक मगलाचरण है ।

भारतीय देववाद के अनुसार नदी, पर्वत, समुद्र आदि का भी अधिष्ठाता देव माना जाता है, अत यहाँ इन पदार्थों के नाम से इन के अधिष्ठाता देवो का ही निर्देश किया गया है ।*

प्रसग:—ग्रन्थकार अपने पूर्ववर्ती नीतिशास्त्रकारो को नमस्कार करते हुए नमस्कारात्मक मंगलाचरण करते हैं—

मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय ।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः ॥ २ ॥

अन्वयः—मनवे वाचस्पतये शुक्राय ससुताय पराशराय विदुषे चाणक्याय च नयशास्त्रकर्तृभ्यः नमः अस्तु ।

सं० टी०.—मनवे मानवधर्मशास्त्रप्रणेत्रे वाचस्पतये बृहस्पतये शुक्राय भृगुपुत्राय दैत्यगुरवे ससुताय सुतेन सहितः ससुतः तस्मै सपुत्राय व्याससहिताय इत्यर्थः पराशराय तन्नामकाय व्यासजनकाय मुनये विदुषे विद्याविदे चाणक्याय तन्नामकाय प्रसिद्धाय नीतिज्ञाय च नयशास्त्रकर्तृभ्यः नयशास्त्राणि नीतिशास्त्राणि तेषां कर्तृभ्यः प्रणेतृभ्यः नमः नमस्कारः अस्तु भवतु ।

समास —वाचस्पतये=वाचां पतिः तस्मै (तत्पु०) ससुताय=सुतेन सहित. तस्मै (तत्पु०)। नयशास्त्रकर्तृभ्यः=नयस्य शास्त्राणि तेषां कर्तारः तेभ्यः (तत्पु०)।

व्या०—विदुषे=विद्+शतृ (वसु=वस्), प्रत्यय के 'व्' को 'उ' सम्प्रसारण। कर्तृ=कृ+तृच् (तृ), धातु की 'ऋ' को 'अर्' गुण ।

शब्दार्थः—वाचस्पतये=बृहस्पति के लिए। नयशास्त्रकर्तृभ्य=नीतिशास्त्र के प्रणेताओं के लिए।

हि० अनु० —मनु, बृहस्पति, शुक्र, अपने पुत्र (व्यास) के साथ पाराशर, एवं विद्वान् चाणक्य, इन नीतिशास्त्रकारों के लिए नमस्कार है।

विशेषः—इस श्लोक मे प्राचीनकाल के प्रसिद्ध नीतिशास्त्रकारों को नमस्कार कर यह सूचित किया गया है कि प्रस्तूयमान 'पञ्चतन्त्र' ग्रन्थ इन नीतिशास्त्रकारों के सिद्धान्तों पर आधारित एक नीति ग्रन्थ है।

प्रसंग —ग्रन्थकार प्रस्तूयमान ग्रन्थ 'पचतन्त्र' का परिचय देते हैं :—

सकलार्थशास्त्रसारं जगति समालोक्य विष्णुशर्मेदम् ।
तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम् ॥३॥

अन्वय —विष्णुशर्मा जगति सकलार्थशास्त्रसारं समालोक्य पञ्चभिः तन्त्रैः (युक्तम्) इदम् सुमनोहरम् शास्त्रम् चकार ।

सं० टी०:—विष्णुशर्मा जगति भूमण्डले सकलार्थशास्त्रसारम् सकलानि च तानि अर्थशास्त्राणि सकलार्थशास्त्राणि तेषां सारम् निखिलनीतिशास्त्रतत्त्व समालोक्य समालोड्य सावधानतया सूक्ष्मतया च विचार्य इत्यर्थः

पञ्चभि. पञ्चसख्याकै तन्त्रै' तदाख्यै भागै युक्तम् इति शेषः इदम् प्रस्तूयमानम् सुमनोहरम् रमणीयतमम् शास्त्रम् शासक ग्रन्थरत्नम् चकार कृतवान् ।

समास —सकलार्थशास्त्रसारम्=सकलानि च तानि अर्थशास्त्राणि (कर्मधारय), तेषा सारम् (तत्पु०) ।

व्या० समालोक्य=सम्+आ+लोक्+य वा (ल्यप्=य) । चकार='कृ' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

शब्दार्थ —सकलार्थशास्त्रसारम्=सभी नीतिशास्त्रो के सार को । समालोक्य=अच्छी तरह देख और विचार कर ।

हि० अनु०.—विष्णुशर्मा ने जगत् मे स्थित सभी नीतिशास्त्रो के तत्त्व को अच्छी तरह देख और विचार कर पाँच तन्त्रो (भागो) से युक्त इस अतीव मनोहर शास्त्र (पचतन्त्र) का प्रणयन किया है ।

विशेष —प्राचीन काल मे नीतिशास्त्र के लिए 'अथशास्त्र' शब्द का भी प्राय प्रयोग होता रहा है, जैसा कि यहाँ भी हुआ है । इस प्रकार ग्रन्थकार ने प्रस्तूयमान ग्रन्थ 'पचतन्त्र की एक नीति ग्रन्थ के रूप में सारवत्ता प्रकट की है ।

इस श्लोक मे 'इदम्' और 'एतद् से पुनरावृत्ति हो जाती है, दूसरी ओर 'युक्तम्' का अध्याहार करना पडता है, अत ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ 'एतत्' के स्थान पर कुछ युक्तार्थक अन्य ही पाठ मूलत होगा ।

प्रसग —अब प्रस्तावना के अन्त तक 'पञ्चतन्त्र' की रचना की हेतुभूत घटना का वर्णन किया जा रहा है —

। तद् यथानुश्रूयते ।

हि० अनु०—जैसा कि सुना जाता है ।

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्य नाम नगरम् । तत्र सकलार्थिकल्पद्रुम प्रवरमुकुटमणिमरीचिमञ्जरीचर्चितचरणयुगल सकलकलापारगतोऽमरशक्तिर्नाम राजा बभूव । तस्य त्रय' पुत्रा परमदुर्मेधसो बहुशक्तिरुग्रशक्तिरनन्तशक्तिश्चेति नामानो बभूव । अथ राजा तान् शास्त्रविमुखानालोक्य सचिवानाहूय प्रोवाच—'भो , ज्ञातमेतद्भवद्भिर्यन्ममैते पुत्रा शास्त्रविमुखा विवेकरहिताश्च । तदेतान् पश्यतो मे महदपि राज्य न सौख्यमावहति ।

समासः—सकलार्थिकल्पद्रुम =सकलाश्च ते अर्थिनः (कर्मधा०), तेषां कल्पद्रुम. (तत्पु०)। प्रवरमुकुटमणिमरीचिमञ्जरीचर्चितचरणयुगल.=प्रवराणां मुकुटमणयः, (तत्पु०), तेषां मरीचय. (तत्पु०), तासां मञ्जर्यः (तत्पु०), ताभिः चर्चितम् चरणयुगलम् यस्य सः (बहु०)। सकलकलापारगत.=सकलाश्च ताः कला (कर्मधा०) तासु पारगत (तत्पु०)। परमदुर्मेधस.=परमाश्च ते दुर्मेधसः (कर्मधा०)। शास्त्रविमुखा.=शास्त्रेभ्यः विमुखा (तत्पु०) विवेकरहिताः=विवेकेन रहिता (तत्पु०)।

व्या—दाक्षिणात्ये=दक्षिण+त्यक् (त्य), शब्द के आदि स्वर 'अ' को 'आ' वृद्धि। गत =गम्+क्त (त), धातु के 'म्' का लोप। बभूव='भू' धातु, लिट् लकार, प्र० पु०, एक०। बभूवु ='भू' धातु, लि० ल०, प्र० पु०, बहु०। आलोक्य=आ+लोक्+क्त्वा (ल्यप्=य)। आहूय=आ+ह्वे+क्त्वा (ल्यप्=य), धातु के 'व्' को 'उ' सम्प्रसारण, 'ए' का पूर्वरूप, 'उ' को दीर्घ। प्रोवाच='प्र' पूर्वक 'ब्रू' धातु, लि० ल०, प्र० पु०, एक०। ज्ञातम्=ज्ञा+क्त (त)। पश्यत =दृश् (पश्य्)+शतृ (अत), षष्ठी एक०। मे='मम' का वैकल्पिक रूप। आवहति='आ' पूर्वक 'वह्' धातु, लट्, प्र० पु०, एक०।

शब्दार्थ.—दाक्षिणात्ये=दक्षिण दिशा म होने वाले मे। सकलार्थिकल्पद्रुम =सभी याचको के लिए कल्पवृक्ष (मनोरथपूरक दाता)। प्रवरमुकुटमणिमरीचिमञ्जरीचर्चितचरणयुगल =जिसके चरणयुगल उच्च जनो की मुकुटमणियो की किरणो से अर्चित होते है अर्थात् जिसके चरणो मे मुकुटधारी बडे-बडे राजा नतमस्तक होते हैं। परमदुर्मेधस.=अत्यन्त दुर्बुद्धि। आवहति= देता है।

हि० अनु०.—दक्षिण-प्रदेश मे 'महिलारोप्य' नामक नगर है। वहाँ सभी याचको के कल्पवृक्ष (मनोरथपूरक दाता), बडे-बडे राजाओ की मुकुटमणियो की किरणो से अर्चित या शोभित चरणयुगल वाला एव सकल कलाओ मे पारगत अमरशक्ति नाम का राजा था। उसके बहुशक्ति, उग्रशक्ति एव अनन्तशक्ति नाम वाले अत्यन्त दुर्बुद्धि तीन पुत्र थे। राजा ने उन (पुत्रो) को शास्त्रविमुख देख मन्त्रियो को बुलाकर (उनसे) कहा—आर्य! आप लोगो को यह ज्ञात है कि मेरे ये पुत्र शास्त्रो से विमुख और विवेकहीन है, अतः इनको देखते हुए मुझको बडा राज्य भी सुख नही देता है।

अथवा साध्विदमुच्यते ।

हि॰ अनु॰ —अथवा (इसीलिए) यह ठीक ही कहा जाता है ।

अजातमृतमूर्खेभ्यो मृताजातौ सुतौ वरम् ।
यतस्तौ स्वल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत् ।।४।।

अन्वय —(सीधा है) ।

स॰ टी॰—अजातमृतमूर्खेभ्य अजातश्च मृतश्च मूर्खश्च अजातमृतमूर्खा तेभ्य अनुत्पन्नमृतमूढेभ्य मृताजातौ मृतानुत्पन्नौ सुतौ पुत्रौ यदि स्त तद् इति शेष वरम् उत्तमम् यत तौ मृतानुत्पन्नौ पुत्रौ स्वल्पदु खाय स्वल्प च तद् दु खम् तस्मै अल्पक्लेशाय भवत इति शेष किन्तु जड मूर्खस्तु यावज्जीवम् जीवन पर्यन्तम् दहति दु ख ददाति ।

समास —अजातमृतमूर्खेभ्य =अजातश्च मृतश्च मूर्खश्च तेभ्य (द्वन्द्व) । मृताजातौ=मृतश्च अजातश्च (द्वन्द्व) । स्वल्पदु खाय=स्वल्प च तद् दु खम् तस्मै (कर्मधा॰) । यावज्जीवम्=यावत् जीवति तावत् (उपपद तत्पु॰) ।

व्या॰ —अजात=नञ् (अ)+जन्+क्त (त) धातु के न् को आ । मृत=मृ+क्त (त) । यावज्जीवम्=यावत्+जीव+णमुल (अम्) । दहेत्= दह् धातु लिङ्लकार (प्र॰ पु॰, एक॰) ।

शब्दार्थ —यावज्जीवम्=जीवनपर्यन्त । दहेत्=जलाता है, दु ख देता है ।

हि॰ अनु॰ —अनुत्पन्न उत्पन्न होकर मरे हुए और मूर्ख पुत्रो मे से मृत और अनुत्पन्न पुत्रो का होना अच्छा है क्योकि ये दोनो तो थोडे ही दु ख के लिए होते हैं किन्तु मूर्ख तो जीवनपर्यन्त जलाता अर्थात् दु ख देता है ।

वरं गर्भस्रावो वरमृतुषु नैवाभिगमनम्,
वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता ।
वरं वन्ध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसतिः
न चाविद्वान् रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः ।।५।।

अन्वय —गर्भस्राव वरम् ऋतुषु न एव अभिगमनम् वरम् जात प्रेतः वरम्, कन्या एव जनिता अपि वरम् वन्ध्या भार्या वरम् गर्भेषु वसति अपि च वरम् रूपद्रविणगुणयुक्त अपि अविद्वान् तनय न च वरम् ।

स० टी०—गर्भस्राव. गर्भस्य स्राव. गर्भपात वरम् उत्तमम्, ऋतुषु रजोदर्शनानन्तर गर्भाधानकालेषु न एव नहि अभिगमनम् पत्नीसमागम. वरम्, जात. उत्पन्न. पुनश्च प्रेत मृत वरम्, कन्या पुत्री एव जनिता उत्पादिता अपि वरम्, वन्ध्या प्रसवहीना भार्या पत्नी वरम्, गर्भेषु वसति. स्थिति. अपि च वरम्, किन्तु रूपद्रविणगुणयुक्त रूप च द्रविण च गुणाश्च तै. युक्त सौन्दर्य-धनगुणोपेत अपि अविद्वान् मूर्ख तनय पुत्र न च कदाचिदपि नहि वरम् उत्तमम् ।

समास:—रूपद्रविणगुणयुक्त.=रूप च द्रविण च गुणाश्च (द्वन्द्व), तै युक्त (तत्पु०),

व्या०:—स्राव =स्रु+घञ् (अ), धातु क 'उ' को 'औ वृद्धि, जिसको कि 'आव्' आदेश । अभिगमनम्=अभि+गम्+ल्युट् (यु=अन) । प्रेत = प्र+इ+क्त (त) । जनिता=जन्+णिच् (इ)+इट (इ)+क्त (त)+टाप् (आ), 'णिच्' की 'इ' का लोप ।

शब्दार्थ.—गर्भस्राव —गर्भपात । अभिगमनम्=समागम । प्रेत =मरा हुआ । वसति.=स्थिति, निवास । द्रविण=धन ।

हि० अनु०:—गर्भपात हो जाना अच्छा, ऋतुकाल मे भार्या के पास न जाना अच्छा, पुत्र का उत्पन्न होकर मर जाना अच्छा, कन्या का उत्पन्न होना अच्छा, पत्नी का वन्ध्या होना अच्छा, (सन्तान का) गर्भ मे ही रह जाना अच्छा, किन्तु सौन्दर्य, धन और गुण से युक्त भी पुत्र का मूर्ख का होना (बिल्कुल) अच्छा नहीं है ।

> किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा।
> कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न भक्तिमान् ॥ ६ ॥

अन्वय —तया धेन्वा किम् क्रियते या न सूते न दुग्धदा, जातेन पुत्रेण क अर्थ य न विद्वान् न भक्तिमान् ।

स० टी० —तया धेन्वा गवा किम् क्रियते विधीयते या न सूते प्रसव करोति न च दुग्धदा दुग्ध ददाति । तेन जातेन उत्पन्नेन पुत्रेण सुतेन क अर्थ.

प्रयोजनम् यः न विद्वान् विद्यावान् न च भक्तिमान् भक्तिरस्यास्तीति भगवद्भक्तः अस्तीति शेषः ।

समास :—दुग्धदा=दुग्ध ददाति इति (उपपद तत्पु०) ।

व्या०ः—क्रियते='कृ' धातु, कर्मवाच्य, लट्, प्र० पु०, एक० । सूते=षूङ् (सू), लट्, प्र० पु०, ए.व० पु० । दुग्धदा=दुग्ध+दा+क (अ)+टाप् (आ), धातु के 'आ' का लोप । भक्तिमान्=भक्ति+मतुप् (मत्) ।

शब्दार्थः—क्रियते—किया जावे । सूते=प्रसव करती है, बच्चे देती है । दुग्धदा=दूध देनी वाली ।

हि० अनु० —उस गौ से क्या किया जावे, जो न बच्चे देती है और न दूध देती है (इसी प्रकार) उस उत्पन्न हुए पुत्र से क्या प्रयोजन (सिद्ध हो सकता है), जो न विद्वान् है और न भक्त है ।

विशेष.—यहाँ प्रतिवस्तूवमा अलकार है ।

> वरमिह वा सुतमरणं मा मूर्खत्व कुलप्रसूतस्य ।
> येन विबुधजनमध्ये जारज इव लज्जते मनुजः ॥७॥

अन्वयः—इह सुतमरणम् वा वरम्, कुलप्रसूतस्य मूर्खत्वम् मा (वरम्), येन मनुजः विबुधजनमध्ये जारज इव लज्जते ।

स० टी०ः—इह जगति सुतमरण पुत्रमरण वा वक्ष्यमाणस्थितेः वैकल्पिकरूपेण वरम् उत्तमम्, किन्तु कुलप्रसूतस्य कुले प्रसूतस्य सुकुलोत्पन्नस्य मूर्खत्व जडत्व मा नहि वरम् इति शेषः । येन मूर्खत्वेन मनुज. मनुष्यः विबुधजनमध्ये विबुधाना जनाना मध्ये पण्डितसमाजे जारजः जाराद् जातः सकर. इव यथा लज्जते लज्जितो भवति ।

समासः—कुलप्रसूतस्य=कुले प्रसूत तस्य (तत्पु०) विबुधजनमध्ये= विबुधाश्च ते जनाः (कर्मधा०), तेसा मध्ये (तत्पु०) । जारजः=जाराद् जातः (उपपदतत्पु०) ।

व्या०.—प्रसूत=प्र+सूङ् (सू)+(त) । जारजः=जार+जन्+ड(अ), धातु की 'टि' (अन्) का लोप । मनुजः=मनु+जन्+ड (अ), धातु की 'टि' (अन्) का लोप । लज्जते=लज्ज् लट् ल०, प्र० ए०व० ।

शब्दार्थः—जारजः=जार (माता का उपपति) से उत्पन्न, संकर।

हि० अनु०:—यहाँ पुत्र का मरण अच्छा, किन्तु कुलीन पुत्र का मूर्ख होना अच्छा नहीं, क्योंकि मूर्खत्व के कारण मनुष्य विद्वज्जनों के बीच में जारज (संकर सन्तान) के समान लज्जित होता है (मूर्खता के कारण कुलीनता का महत्त्व नगण्य हो जाता है)।

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससंभ्रमा यस्य।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति ॥८॥

अन्वयः—गुणिगणगणनारम्भे यस्य नाम्नि कठिनी ससंभ्रमा न पतति, तेन अम्बा यदि सुतिनी, वद, वन्ध्या कीदृशी भवति।

सं० टी०:—गुणिगणगणनारम्भे गुणिनां गणाः तेषां गणना तस्या आरम्भे विद्वज्जनसकलनावसरे यस्य जनस्य नाम्नि कठिनी कनिष्ठिका अंगुलिः ससंभ्रमा सत्वरा न पतति, तेन पुत्रेण अम्बा माता यदि सुतिनी पुत्रिणी, पुनः, वद कथय, वन्ध्या प्रसवहीना स्त्री कीदृशी कथंभूता भवति।

समास.—गुणिगणगणनारम्भे=गुणिनाम् गणाः (तत्पु०), तेषां गणना (तत्पु०), तस्याः आरम्भे (तत्पु०)।

व्या०:—सुतिनी=सुत+इन्+ङीप् (ई)।

शब्दार्थः—कठिनी=कनिष्ठिका (छोटी) अंगुली। ससंभ्रमा=त्वरा या हड़बड़ाहट के साथ, पतति=पड़ती है।

हि० अनु०:—गुणियों के गणों या समूहों के प्रारम्भ में जिसके (नाम पर) कनिष्ठिका (छोटी) अंगुली नहीं पड़ती है अर्थात् जिसका नाम कनिष्ठिका अंगुली पर नहीं आता है। उस (पुत्र) से यदि माता (अपने को) पुत्रवती (मानती है), तो फिर बताओ, बाँझ स्त्री कैसी होती है!

विशेष.—प्रायः गणना प्रायः कनिष्ठिका से प्रारम्भ होती है, अतः पहला अर्थात् सर्वश्रेष्ठ का नाम कनिष्ठिका पर पड़ता है। फलतः गुणियों की गणना में सर्वश्रेष्ठ गुणी का नाम ही कनिष्ठिका पर आवेगा। प्रस्तुत श्लोक के अनुसार जिस माता का पुत्र सर्वश्रेष्ठ गुणी नहीं है, उसे अपने को एक प्रकार से बन्ध्या

ही समझना चाहिए। अर्थात् पुत्रवती होने का वास्तविक गर्व वही माता कर सकती है, जिसका पुत्र सर्वश्रेष्ठ गुणी हो।

तदेतेषा यथा बुद्धिप्रकाशो भवति तथा कोऽप्युपायोऽनुष्ठीयताम्। अत्र च मद्दत्ता वृत्ति भुञ्जानानाम् पण्डिताना पञ्चशती तिष्ठति। ततो यथा मम मनोरथा. सिद्धि यान्ति तथानुष्ठीयताम्' इति

समास —बुद्धिप्रकाश =बुद्धे. प्रकाश· (तत्पु०)। पञ्चशती=पञ्चानां शताना समाहार: (द्विगु)।

व्या० —अनुष्ठीयताम् ='अनु' पूर्वक 'स्था' धातु, कर्मवाच्य, लोट, प्र० पु० एक०। भुञ्जानानाम्==भुज्+शानच् (आन), धातु के 'इ' और 'ज्' के बीच मे श्नम् (न) जिसके 'अ' का लोप।

हि० अनु० —अत जिस प्रकार इन बालको की बुद्धि का विकास हो ऐसा कोइ उपाय कीजिए। यहाँ मेरी दी हुई जीविका का उपभोग करने वाले पाँच सौ पण्डित हैं, अत जैसे मेरे मनोरथ सिद्ध हो वैसा कीजिएगा।

तत्रैक प्रोवाच—हि० अनु०.—उन (मन्त्रियो) मे से एक बोला—

देव, द्वादशभिवर्षै व्याकरण श्रूयते। ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि, अर्थशास्त्राणि चाणक्यदीनि, कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि। एव च ततो धर्मार्थकामशास्त्राणि ज्ञायन्ते। तत प्रतिबोधन भवति।'

व्या०. श्रूयते='श्रु' धातु, कर्मवाच्य, लट्, प्र० एक०। ज्ञायते=ज्ञा, कर्मवाच्य, लट, प्र० बहु०।

शब्दार्थ —श्रूयते=सुना जाता है अर्थात् पढा जाता हैं। प्रतिबोधनम्= ज्ञान, बोध, समझ।

हि० अनु० —'राजन्! बारह वर्षो मे व्याकरण सुना जाता है अर्थात् अध्ययन पूर्ण होता है। फिर मनु आदि द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र, चाणक्य आदि द्वारा प्रणीत अर्थशास्त्र, वात्स्यायन आदि द्वारा प्रणीत कामशास्त्र (पढने होते हैं), इस प्रकार तब धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र एव कामशास्त्र का ज्ञान होता है। तब बुद्धि या समझ आती है।

अथ तन्मध्यत सुमतिर्नाम सचिव प्राह—

हि० अनु०.—इसके बाद उनके बीच से सुमति नामक मन्त्री बोला—

'अशाश्वतोऽयं जीवितव्यविषयः। प्रभूतकालज्ञेयानि शब्दशास्त्राणि। तत्संक्षेपमात्रं शास्त्रं किंचिदेतेषां प्रबोधनार्थं चिन्त्यताम्' इति।

समासः—जीवितव्यविषय.=जीवितव्यश्च असौ विषयः (कर्मधा०), अथवा, जीवितव्यानां विषयः (तत्पु०)।

प्रभूतकालज्ञेयानि=प्रभूतश्च असौ कालः (कर्मधा०), तेन ज्ञेयानि (तत्पु०)।

व्या०:—जीवितव्य=जीव्+इट् (इ)+तव्य। ज्ञेयानि=ज्ञा+यत् (य), धातु के 'आ' को 'ई' जिसे 'ए' गुण।

प्रबोधन=प्र+बुध्+ल्युट् (यु=अन), धातु की उपधा 'इ' को 'ओ' गुण। चिन्त्यताम्=चिति (चिन्त्), कर्मवाच्य, लोट्, प्र० एक०।

शब्दार्थ.—जीवितव्यविषय=जीवन प्राणियों का विषय या क्षेत्र, प्राणिमात्र। अशाश्वत.=अचिरस्थायी।

हि० अनु०:—जीवन अचिरस्थायी है अर्थात् सदा रहने वाला नहीं है और शब्दशास्त्र बहुत काल में जाने जा सकते हैं; अतः इन (बालकों) के ज्ञान के लिए किसी संक्षिप्तमात्र शास्त्र को सोचना चाहिए।'

विशेष—यहाँ 'शब्दशास्त्र' से तात्पर्य केवल 'व्याकरण' का न होकर समग्र शब्दनिबद्ध वाङ्मय का है।

उक्तं च यतः—

हि० अनु०:—क्योंकि कहा भी गया है—

> अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्,
> स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
> सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु
> हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥६॥

अन्वय—शब्दशास्त्रम् अनन्तपारम् किलम्, तथा आयुः स्वल्पम्, विघ्नाः च बहवः; ततः फल्गु अपास्य सारम् ग्राह्यम्, यथा हंसैः अम्बुमध्यात् क्षीरम् इव (गृह्यते)।

सं० टी०:—शब्दशास्त्रम् शब्दनिबद्धं शास्त्रम् समग्र वाङ्मयम् अनन्तपारम् अनन्तः पारः यस्य तत् अमोघम् किल निश्चयेन, तथा आयुः जीवनम् स्वल्पम् लघु, विघ्नाः अन्तरायाः च विघ्नाः बहुसंख्याकाः सन्तीति शेषः,

तत तस्माद् फल्गु नि सार वस्तु अपास्य त्यक्त्वा सारम् तत्त्वम् ग्राह्यम् उपादेयम्, यथा हसै मरालै, अम्बुमध्यात् जलमध्यात् क्षीरम् दुग्धम् इव यथा गृह्यते इति शेष ।

समास —अम्बुमध्यात्=अम्बुन मध्यम् तस्मात् (तत्पु०) ।

व्या० —ग्राह्यम्=ग्रह्+ण्यत् (य), धातु की उपधा 'अ' को 'आ' वृद्धि ।

अपास्य=अप+अस्+क्त्वा (ल्यप्=य) ।

शब्दार्थ —शब्दशास्त्रम्=वाङ्मय । अनन्तपारम्=अनन्त पार या सीमा वाला, असीम । किल=निश्चित रूप स । फल्गु=नि सार वस्तु, तुष या भूसी, छिलका ।'

हि० अनु० —वाङ्मय निश्चित रूप से अपरिमित है और जीवन थोडा है तथा विघ्न भी बहुत हैं, अत नि सार अश को छोड कर उसी प्रकार (शास्त्रो का) सार ग्रहण कर लेना चाहिए, जिस प्रकार हस जल के बीच म से दूध ग्रहण कर लेते है ।

विशेष.—इस श्लोक मे समानार्थक 'यथा और 'इव' का प्रयोग होने से व्यर्थ की पुनरावृत्ति होगई है ।

तदत्रास्ति विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मण सकलशास्त्रपारगमश्छात्रससदि लब्ध-कीर्ति । तस्मै समर्पयतु एतान् । स नून प्राक् प्रबुद्धान् करिष्यति । इति । स राजा तदाकर्ण्य विष्णुशर्माणमाहूय प्रोवाच—'भो भगवन्, मदनुग्रहार्थमेतानर्थ-शास्त्र प्रति द्राग्यथानन्यसदृशान् विदधासि तथा कुरु । तदाह त्वा शासनशतेन योजयिष्यामि ।'

समास —सकलशास्त्रपारगम =सकलानि च तानि शास्त्राणि (कर्मधा०), तेषु तेषा वा पारगम (तत्पु०) । छात्रससदि=छात्राणा ससद् तस्याम् (तत्पु०) । लब्धकीर्ति =लब्धा कीर्ति येन स (बहु०)। मदनुग्रहार्थम्=मम अनुग्रह मदनुग्रह, (तत्पु०), तस्मै इदम् मदनुग्रहार्थम् (तत्पु०) अनन्यसदृशान्=अन्येन सदृशा, (तत्पु०), न अन्यसदृशा अन यसदृशा तान् (नञ् तत्पु०) । शासनशतेन= शासनाना शतम् तेन (तत्पु०) ।

व्या० —पारगम =पार+गम्+खच् (अ), शब्द और धातु के बीच मे 'मुम्' (म्) का आगम । प्रबुद्धान्=प्र+बुध्+क्त (त), प्रत्यय के 'त' को ध',

धातु के 'ध्' को 'द्', विदधासि='वि' पूर्वक 'धा' धातु, लट्, मध्यमपु०, एकव० ।

शब्दार्थ —सकलशास्त्रपारगम =सकल शास्त्रो मे पारगत । छात्रसंसदि= छात्रो के समाज मे । लब्धकीर्ति=कीर्ति को प्राप्त कर चुकने वाला । द्राक्= शीघ्र ही । प्रबुद्धान्=ज्ञानवान्, समझदार । आकर्ण्य=सुनकर । विदधासि= बनाते हो, बना सको । शासनशतेन=सौ शासनो या परवानो से अथवा सौ ग्रामो के राज्य से । योजयिष्यामि=युक्त करूँगा ।

हि० अनु० —सो यहाँ पर सकलशास्त्रो मे पारगत एव छात्रसमाज में कीर्ति प्राप्त कर चुकने वाला 'विष्णुशर्मा' नामक ब्राह्मण है । उसे इन्हे सौंपदो । वह निश्चित रूप से शीघ्र ही (इन्हे) विद्वान् बना देगा । उस राजा ने यह सुनने के बाद विष्णुशर्मा को बुला कर (उससे) कहा—'हे भगवन् ! मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिए इन (बालको) को जिस प्रकार शीघ्र ही (आप) नीतिशास्त्र में अनन्यसाधारण या अद्वितीय (विद्वान्) बना सकें, वैसा कीजिए । तब मैं आपको सौ शासनो से युक्त करूँगा अर्थात् आपके अनुकूल सौ परवाने (राजाज्ञा) जारी कर दूँगा या सौ ग्रामो का राज्य आपको दूँगा ।

अथ विष्णुशर्मा त राजानमूचे—'देव, श्रूयता मे तथ्यवचनम् । नाह विद्याविक्रय शासनशतेनापि करोमि । पुनरेतान् तव पुत्रान् मासषट्केन यदि नीतिशास्त्रज्ञान करोमि, तत. स्वनामत्याग करोमि । किं बहुना, श्रूयता ममैष सिंहनाद । नाहमर्थलिप्सुर्ब्रवीमि । ममाशीतिवर्षस्य व्यावृत्तसर्वेन्द्रियार्थस्य न किंचिदर्थेन प्रयोजनम् । किन्तु त्वत्प्रार्थनासिद्ध्यर्थं सरस्वतीविनोद करिष्यामि । तल्लिख्यतामद्यतनो दिवस । यद्यह षण्मासाभ्यन्तरे तव पुत्रान्नयशास्त्र प्रत्यनन्य-सदृशान् करिष्यामि, ततो नार्हति देवो देवमार्ग सदर्शयितुम् ।'

समास —व्यावृत्तसर्वेन्द्रियार्थस्य=सर्वाणि च तानि इन्द्रियाणि (कर्मधा०), तेषामर्था (तत्पु०) व्यावृत्ता सर्वेन्द्रियार्था यस्य तस्य (बहु०) ।

व्या० —ऊचे='ब्रू' धातु, लिट्, प्र० पु० एकव० । श्रूयताम्='श्रु' धातु, कर्मवाच्य, लोट, प्र० पु० एकव० । नीतिशास्त्रज्ञान्=नीतिशास्त्र+ज्ञा+क (अ), धातु के 'आ' का लोप । ब्रवीमि='ब्रू' धातु, लट्, उ० पु०, एक० ।

व्यावृत्त=वि+आ+वृत्+क्त (त)। लिख्यताम्='लिख्' धातु, कर्मवाच्य, लोट्, प्र० पु०, एक०। संदर्शयितुम्=सम्+णिजन्त 'दृश्' (दर्शय्)+इट् (इ)+तुमुन् (तुम्)।

शब्दार्थः—ऊचे=बोला। सत्यवचनम्=सत्य बात। सिंहनादः=घोषणा। अर्थलिप्सु=धन का लालची। व्यावृत्तसर्वेन्द्रियार्थस्य=सभी इन्द्रियों के विषयों से विरत।

हि० अनु०:—तब विष्णुशर्मा उस राजा से बोला—'राजन्, मेरी सच्ची बात सुनिए। मैं सौ ग्रामों के राज्य से विद्या की बिक्री नहीं कर सकता हूँ। फिर भी तुम्हारे इन पुत्रों को यदि मैं छः महीने में नीतिशास्त्रवेत्ता न बना दूँ, तो अपने नाम का त्याग कर दूँगा (अपना नाम बदल दूँगा)। अधिक क्या। मेरी यह घोषणा सुनिए। मैं धन का लालची होकर यह नहीं कहता हूँ। सभी इन्द्रियों के विषयों से विरत मुझ अस्सी वर्ष वाले व्यक्ति को धन से कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु तुम्हारी प्रार्थना की सिद्धि के लिए मैं (इसी रूप में) विद्या का विनोद करूँगा। सो आज का दिन लिख लीजिए। यदि मैं छः महीने के भीतर तुम्हारे पुत्रों को नीतिशास्त्र में अद्वितीय (विद्वान्) न बना दूं, तो भगवान् मुझे देवमार्ग न दिखावें अर्थात् मुझे सद्गति प्रदान न करें।

अथासौ राजा तां ब्राह्मणस्यासम्भाव्यां प्रतिज्ञां श्रुत्वा ससचिवः प्रहृष्टो विस्मयान्वितस्तस्मै सादरं तान् कुमारान् समर्प्य परां निर्वृतिमाजगाम। विष्णुशर्मणापि तानादाय तदर्थं मित्रभेद-मित्रप्राप्ति-काकोलूकीय-लब्धप्रणाश-अपरीक्षितकारकाणि चेति पञ्च तन्त्राणि रचयित्वा पाठितास्ते राजपुत्राः। तेऽपि तान्यधीत्य मासषट्केन यथोक्ताः संवृत्ताः। ततः प्रभृत्येतत्पञ्चतन्त्रकं नाम नीतिशास्त्रं बालावबोधनार्थं भूतले प्रवृत्तम्।

समास'—बालावबोधनार्थम्=बालानाम् अवबोधनम् तस्मै इदम् (तत्पु०)।

व्या०:—श्रुत्वा=श्रु+क्त्वा (त्वा) समर्प्य=सम्+अर्प्+क्त्वा (ल्यप्=य)। आजगाम='आ' पूर्वक 'गम्' धातु, लिट्, प्र० पु० एकव०। आदाय=आ+दा+क्त्वा (ल्यप्=य)। रचयित्वा=रच्+णिच् (इ)+इट् (इ)+क्त्वा (त्वा)। पाठिता=णिजन्त 'पठ्' (पाठि)+इट् (इ)+क्त (त), 'णिच्' को 'इ' का लोप। अधीत्य=अधि+इङ् (इ)+तुक् (त)+क्त्वा (ल्यप्=य)।

उक्त=व्र् (वच्)+क्त (त), धातु के 'व्' को 'उ' सम्प्रसारण । संवृत्ताः=सम्+वृत्+क्त (त)। अवबोधन=अव+बुध्+ल्युट् (यु=अन), धातु की उपधा 'उ' को 'ओ' गुण । प्रवृत्तम्=प्र+वृत्+क्त (त)।

शब्दार्थः—असमात्याम्=असमव, आश्चर्यपूर्ण । निर्वृतिम्=शान्ति को, आनन्द को ।

हि० अनु०:—इस के बाद वह राजा ब्राह्मण की उस आश्चर्यजनक प्रतिज्ञा को सुनकर मन्त्रियों समेत प्रसन्न एवं विस्मित हो उस (ब्राह्मण) को सादर अपने पुत्र सौंपकर परम शान्ति को प्राप्त हुआ । विष्णुशर्मा ने भी उन को लेकर उनके लिए मित्रभेद, मित्रप्राप्ति (मित्रसंप्राप्ति), काकोलूकीय, लब्धप्रणाश एवं अपरीक्षितकारक, ये पाँच तन्त्र बनाकर उन्हें उन राजपुत्रों को पढ़ाया । वे (राजपुत्र) भी उन (तन्त्रों) को पढ़कर छः महीने में जैसे बताए गए थे वैसे (अद्वितीय विद्वान्) हो गए । तब से यह 'पञ्चतन्त्रक' नाम वाला नीतिशास्त्र बालकों के ज्ञान के लिए भूतल में प्रवृत्त या प्रचलित हुआ ।

अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च ।
न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन ॥१०॥

अन्वय—यः इदं नीतिशास्त्रम् नित्यम् अधीते शृणोति च, (सः) शक्रात् अपि कदाचन पराभवम् न आप्नोति ।

सं०टी०.—यः योजनः इदं प्रस्तुतं नीतिशास्त्रम् पञ्चतन्त्राख्य नीतिशास्त्रग्रन्थम् अधीते पठति शृणोति च । स शक्राद् इन्द्रादपि कदाचन कदाचित् पराभव पराजयं न नहि आप्नोति लभते ।

व्या०:—अधीते='अधि' पूर्वक 'इङ्' (इ) धातु, लट्, प्र० पु०, एक० । शृणोति='श्रु' धातु, लट्, प्र० पु०, एक० । आप्नोति=आप्लृ (आप्) धातु, लट्, प्र० पु०, एक० ।

पराभवम्=परा+भू+अप् (अ), धातु के 'ऊ' को 'ओ' गुण जिसे कि 'अव्' आदेश ।

शब्दार्थः—पराभवम्=पराजय को, अपमान को । शक्रात्=इन्द्र से ।

हि०अन० —जो इस नीतिशास्त्र को नित्य पढता तथा सुनता है, वह इन्द्र से भी कभी पराजय प्राप्त नही करता है।

इति कथामुखम्।[1]

१—इस कथामुख (प्रस्तावना) मे 'विष्णुशर्मा इद चकार' के रूप मे परोक्ष भूतार्थक लिट लकार का प्रयोग तथा 'तद्यथानुश्रूयते' के द्वारा एक जनश्रुति के रूप मे पचतन्त्र-रचना के विवरण को प्रस्तुत कर विष्णुशर्मा के द्वारा पचतन्त्र की रचना का कथन किये जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस कथामुख की रचना स्वय पचतन्त्ररचयिता विष्णुशर्मा ने नही की, अपितु अन्य किसी तत्परवर्ती लेखक ने की है।

यदि ऐसा मान लिया जावे कि विष्णुशर्मा ने अपने ग्रन्थ को प्राचीनता की भावना और नीतिशास्त्रीय गौरव देने के उद्देश्य से जानबूझ कर ऐसे रूप मे प्रस्तावना लिखी है, तो दूसरी बात है।

मित्रसंप्राप्तिः

अथेदमारभ्यते मित्रसंप्राप्तिर्नाम द्वितीय तन्त्रम् ।

हि० अनु०:—अब यह 'मित्रसंप्राप्ति' नामक द्वितीय तन्त्र प्रारम्भ होता है ।

विशेष.—जैसा कि पूर्व मे कहा जा चुका है, 'पंचतन्त्र' मे मित्रभेद, मित्रसंप्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश एवं अपरीक्षितकारक, इस क्रम से ये पांच तन्त्र या भाग हैं, इस प्रकार यह 'मित्रसंप्राप्ति' नामक तन्त्र पंचतन्त्र का दूसरा तन्त्र है, इनमे पूर्व 'मित्रभेद' नामक प्रथम तन्त्र है, जिसमे मित्रो के भेद (फूट) की कथाएँ हैं, प्रस्तुत तन्त्र मे, जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है, मित्रो की सप्राप्ति अर्थात् प्राप्ति या लाभ की कथाएँ हैं, हितोपदेश का 'मित्रलाभ' नामक भाग बहुत कुछ पंचतन्त्र के इसी तन्त्र पर आधारित है । इसके बाद के तृतीय तन्त्र 'काकोलूकीय' मे काक और उलूक की मुख्य कथा है, जिसके अंग रूप मे अन्य अवान्तर कथाएँ उसमे वर्णित हैं, अतः उसका यह (काकोलूकीय) नाम है । चतुर्थ तन्त्र 'लब्धप्रणाश' मे लब्ध अर्थात् प्राप्त के प्रणाश या नष्ट हो जाने की कथाएँ हैं । पंचम या अन्तिम तन्त्र 'अपरीक्षितकारक' में अपरीक्षित अर्थात् बिना परीक्षा या विचार किए ही काम करने वालो और ऐसा करने से होने वाली हानि की कथाएँ हैं ।

यस्यायमाद्यः श्लोकः—

हि० अनु० :—जिसका ('मित्रसंप्राप्ति' नामक द्वितीय तन्त्र का) यह प्रथम श्लोक है—

असाधना अपि प्राज्ञा बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः।
साधयन्त्याशु कार्याणि काकाखुमृगकूर्मवत् ॥१॥

अन्वय —प्राज्ञा बुद्धिमन्त. बहुश्रुता असाधना अपि काकाखुमृगकूर्मवत् आशु कार्याणि साधयन्ति।

स० टी० —प्राज्ञाः प्रकर्षेण जनान्ति इति प्रज्ञा त एव प्राज्ञा प्रकृष्ट-ज्ञानवन्त बुद्धिमन्त बुद्धिरस्ति एषामिति बुद्धिमन्तः विवेकशीला बहुश्रुता बहु श्रुत शास्त्राध्ययन यषा ते अर्थातबहुशास्त्रा असाधना साधनविहीना अपि काकाखुमृगकूमवत् वायसमूषकहरिणकच्छपवत् आशु शीघ्र कार्याणि काय-जातानि साधयन्ति निष्पादयन्ति।

समास —बहुश्रुता =बहु श्रुत येषा ते (बहु०)। असाधना =नास्ति अविद्यमान वा साधन येषा ते (बहु०)। काकाखुमृगकूर्मवत्=काकश्च आखुश्च मृगश्च कूर्मश्च (द्वन्द्व) तैं तुल्यम् (तद्धित)।

व्या० —प्राज्ञा =प्र+ज्ञा+क (अ), धातु के आ' का लोप। बुद्धिमन्त =बुद्धि+मतुप् (मत्)। श्रुत=श्रु=क्त (त)। काकाखुमृगकूमवत्= काकाखुमृगकूर्म+वति (वत्)। कार्याणि=कृ+ण्यत् (य), धातु की 'ऋ' को 'आर' वृद्धि। साधयन्ति=णिजन्त 'साध्' (साधय्) धातु, लट, प्र० पु०, बहु०।

शब्दार्थ —बहुश्रुता =पर्याप्त शास्त्राध्ययन या अनुभवी विद्वानो के सम्पर्क से युक्त, लोक-व्यवहार के ज्ञान से पूर्ण।

हि० अनु० —ज्ञानवान्, विवेकशील (समझदार) एव बहुश्रुत जन साधन-विहीन होने पर भी काक (कौआ), चूहा, हरिण एव कछुवे के समान शीघ्र ही कार्यों को सिद्ध कर लेते हैं।

विशेष —पचतन्त्र एव हितोपदेश सरीखे नीतिकथाग्रन्थो म कथाएँ इस शैली म निबद्ध की गई हैं कि पहल वर्णनाय कथा का बीज या सकत सूत्र किसी नीतिपरक श्लोक में वर्णित नीति के उदाहरण क रूप म दे दिया जाता है और फिर उस बीज की व्याख्या क रूप म कथा प्रस्तुत की जाती है। यहाँ इस श्लोक म भी एक नीति की बात कही गई है और साथ ही 'काकाखुमृगकूर्मवत्'

के द्वारा उस बात के उदाहरण के रूप मे कथा का बीज दे दिया गया है। अब आगे इसी की व्याख्या के रूप मे कथा प्रस्तुत की जावेगी, जिससे श्लोक मे वर्णित नीति की पुष्टि होगी। यत. यह श्लोक इस तन्त्र का प्रथम श्लोक है, अतः इसमे वर्णित नीति एवं संकेतित कथा इस तन्त्र की क्रमशः मुख्यनीति एव मुख्य कथा है। इसी के अंग रूप मे आगे विविध नीतिवचन एव अवान्तर-कथाओं का विन्यास किया गया है। यतः इस श्लोक मे 'प्राज्ञा.' आदि के रूप मे बहुवचन का प्रयोग कर अनेक व्यक्तियो के द्वारा कार्यसाधन की बात कही गई हैं अत इससे प्रस्तुत तन्त्र—मित्रसम्प्राप्ति—का यह स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है कि इसमे ऐसे मित्रो की मुख्य कथाएँ हैं जो एक-दूसरे को प्राप्त कर परस्पर सहयोग करते हुए अपने विवेक से कार्य निष्पन्न करते हैं।

अस्तु ! इस प्रकार यह श्लोक प्रस्तुत तन्त्र की मुख्य कथा का संकेत-श्लोक है।

(मुख्यकथा)

तद्यथानुश्रूयते—

हि० अनु०:—जैसा कि सुना जाता है—

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्। तस्य नातिदूरस्थो महोच्छ्रायवान् नानाविहङ्गोपभुक्तफलः कीटैरावृतकोटरश्छायाश्वासितपथिकजन-समूहो न्यग्रोधपादपो महान्।

समास.—महोच्छ्रायवान्=महान् च असौ उच्छ्रायः (कर्मधा०), सोऽस्यास्तीति (तद्धित)। नानविहंगोपभुक्तफलः=नाना च ते विहङ्गा. (कर्मधा०), तै. उपभुक्तानि फलानि यस्य सः (बहु०)। छायाश्वासितपथिक-जनसमूहः=पथिकाश्च ते जनाः (कर्मधा०), तेषा समूहः (तत्पु०), छायया आश्वासितः पथिकजनसमूह. येन सः (बहु०)।

व्या०:—उपभुक्त=उप+भुज्+क्त (त)। आवृत=आ+वृ+क्त (त)। आश्वासित=आ+णिजन्त श्वस् (श्वास्)+इट् (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थ:—नातिदूरस्थः=थोडी दूर पर ही स्थित। महोच्छ्रायवान्=अधिक ऊँचाई वाला, बहुत ऊँचा। नानाविहङ्गोपभुक्तफलः=जिसके फलो का

अनेक पक्षियो के द्वारा उपभोग किया जाता है। आवृतकोटर =भरे या घिरे हुए कोटर (खोलर) वाला। छायाऽऽश्वासितपथिकजनसमूह =जिसने अपनी छाया से पथिक जनो के समूह को आश्वस्त या शान्त किया है। न्यग्रोधपादप = वटवृक्ष, बरगद का पेड।

हि० अनु० —दक्षिण दिशा के प्रदेश (दक्षिण प्रदेश) मे महिलारोप्य नामक नगर है। उससे थोडी दूर पर ही एक बरगद का बहुत बडा ऐसा पेड स्थित है, जो बहुत ऊँचा है, जिसके फलो का अनेक पक्षी उपभोग करते हैं जिसके कोटर (खोलार) कीडो से भरे हुए हैं तथा जो अपनी छाया से (श्रान्त) पथिक जनो के समूह को आश्वस्त (श्रान्ति विहीन) करता रहता है।

अथवा युक्तम्।

हि० अनु० —क्यो न ऐसा हो (क्योकि) यह ठीक ही है—

छायासुप्तमृग शकुन्तनिवहैर्विष्वग्विलुप्तच्छद
कीटैरावृतकोटर कपिकुलै स्कन्धे कृतप्रश्रय।
विश्रब्ध मधुपैर्निपीतकुसुम श्लाघ्य स एव द्रुम,
सर्वाङ्गैर्बहुसत्त्वसङ्गसुखदो भूभारभूतोऽपर ॥२॥

अन्वय —(य) छायासुप्तमृग, शकुन्तनिवहै विष्वक् विलुप्तच्छद कीटै आवृतकोटर, कपिकुलै स्कन्धे कृतप्रश्रय, मधुपै विश्रब्ध निपीतकुसुम, सर्वाङ्गै बहुसत्त्वसङ्गसुखद, स एव द्रुम श्लाघ्य, अपर भूभारभूत।

स० टी० —य वृक्ष छायासुप्तमृग छायाया सुप्ता मृगा यस्य स छायाश्रितपशु शकुन्तनिवहै शकुन्ताना निवहै पक्षिसमूहै विष्वक् समन्तात् विलुप्तच्छद विलुप्ता छदा यस्य स तिरोहितपत्र, कीटै कीटाणुभि आवृतकोटर आवृतानि कोटराणि यस्य स तिरोहितनिष्कुह कपिकुलै कपीना कुलै मर्कटसमूहै स्कन्धे प्रकाण्डे कृतप्रश्रय कृत प्रश्रय यस्मिन् स विहिताश्रय मधुप भ्रमरै विश्रब्ध निस्सकोच निपीतकुसुम निपीतानि कुसुमानि यस्य स पीतपुष्परस इत्यर्थ, सर्वाङ्गै, सकलाङ्गै बहुसत्त्वसङ्गसुखद बहूनि च तानि सत्त्वानि तेभ्य सङ्गसुख ददातीति बहुजीवसपर्कसुखदाता, स एव द्रुम एतादृश

एव वृक्ष श्लाघ्य प्रशसनीय, अपर अनेतादृश वृक्षवस्तु भूभारभूत भुव पृथिव्या भारभूत एव अस्तीति शेष ।

समास —छायासुप्तमृग =छायाया सुप्ता मृगा यस्य स (बहु०) । शकुन्तनिवहै=शकुन्ताना निवहास्तै (तत्पु०) । विलुप्तच्छद =विलुप्ता छदा यस्य स (बहु०) । आवृतकोटर=आवृतानि कोटराणि यस्य सः (बहु०) । कृतप्रश्रय =कृत प्रश्रय यस्य यस्मिन् वा स (बहु०) । निपीतकुसुम = निपीतानि कुसुमानि यस्य स (बहु०) । बहुसत्त्वसङ्गसुखद.=बहूनि च तानि सत्त्वानि (कमधा०), तेभ्य सङ्गसुखम् (तत्पु०) । तद् ददाति (उपपदतत्पु०) । भूभारभूत =भुव भारभूत (तत्पु०) ।

व्या० —सुप्त=ष्वप् (स्वप्)+क्त (त), धातु के 'व्' को 'उ' सम्प्रसारण । विलुप्त=वि+लुप्+क्त (त) । आवृत=आ+वृ+क्त (त) । प्रश्रय=प्र+श्रिञ् (श्रि) अच् (अ), धातु को 'इ' का 'ए' गुण ।

शब्दार्थ —छायासुप्तमृग =जिसकी छाया में पशु सोए हुए हैं। शकुन्तनिवहै =पक्षियों के समूहों के द्वारा । विलुप्तच्छद =जिसके पत्ते छिप या ढक गए हैं । कृतप्रश्रय =जिसका आश्रय या सहारा लिया है । विश्रब्धम्= बिना किसी शका या सकोच के, इतमीनान के साथ ।

हि० अनु० '—जिसकी छाया मे पशु सोए हुए हैं, पक्षियों के समूहो के द्वारा जिसके पत्ते ढक गए हैं, जिसके कोटर (खोखर) कीडो से भरे हुए हैं, जिसके तने पर बन्दरो के समूहो ने आश्रय ले रखा है, भ्रमर जिसके पुष्परस का निस्सकोच पान करते हैं, जो अपने सभी अगो से अनेक जीवों को अपने सग या सम्पर्क का सुख देता है, वही वृक्ष श्लाघ्य या प्रशसनीय है, अन्य वृक्ष (जो कि ऐसा नहीं है) पृथ्वी का केवल भार है ।

विशेष—यहाँ यह अन्योक्ति भी गम्य है कि परोपकारी मनुष्य ही वास्तविक मनुष्य है ।

तत्र च सपुण्यनको नाम वायस प्रतिवसति स्म । स कदाचित् प्राणयात्रार्थं पुरमुद्दिश्य प्रचलितो यावत् प्रपश्यति, तावज्जालहस्तोऽतिकृष्णतनु स्फुटितचरण ऊर्ध्वकेशो यमकिङ्कराकारो नर सम्मुखो बभूव । अथ त दृष्ट्वा शङ्कितमना

व्यचिन्तयत्—'यदय दुरात्माद्य ममाश्रयवटपादपसंमुखोऽभ्येति । तन्न ज्ञायते किमद्य वटवासिना विहङ्गमाना सक्षयो भविष्यति न वा ।' एवं बहुविध विचिन्त्य तत्क्षणान्निवृत्य तमेव वटपादप गत्वा सर्वान् विहङ्गमान् प्रोवाच—'भो , अयं दुरात्मा लुब्धको जालतण्डुलहस्त समभ्येति । तत्सर्वथा तस्य न विश्वसनीयम् । एष जाल प्रसार्य तण्डुलान् प्रक्षेप्स्यति । ते तण्डुला भवद्भि सर्वैरपि कालकूट-सदृशा द्रष्टव्या ।' एव वदतस्तस्य स लुब्धकस्तत्र वटतल आगत्य जाल प्रसार्य सिन्दुवारसदृशान् तण्डुलान् प्रक्षिप्य नातिदूर गत्वा निभृत स्थित । अथ ये पक्षिणस्तत्र स्थितास्ते लघुपतनकवाक्यार्गलया निवारिता तान् तण्डुलान् हालाहलाङ्कुरानिव वीक्षमाणा निभृताः तस्थु । अत्रान्तरे चित्रग्रीवो नाम कपोतराज सहस्रपरिवार प्राणयात्रार्थं परिभ्रमन् तान् तण्डुलान् दूरतोऽपि पश्यन् लघुपतनकेन निवार्यमाणोऽपि जिह्वालौल्यादभक्षणार्थमपतत् । सपरिवारो निबद्धश्च ।

समास —जालहस्त =जाल हस्ते यस्य स (बहु०) । अतिकृष्णतनु = अतिकृष्णा तनु यस्य स (बहु०) । स्फुटितचरण =स्फुटितौ चरणौ यस्य स' (बहु०) ऊर्ध्वकेश =ऊर्ध्वा केशा यस्य स (बहु०) यमकिंकराकार =यमस्य किंकर (तत्पु०), तस्येव आकार यस्य स (बहु) । लघुपतनकवाक्यार्गलया= लघुपतनकस्य वाक्यम् (तत्पु०), तदेव अगला (कर्मधा०) तया ।

व्या०.—उद्दिश्य=उत्+दिश्+क्त्वा (ल्यप्=य) । बभूव='भू धातु, लिट्, प्र० पु०, एक० । दृष्ट्वा=दृश्+क्त्वा (त्वा) । विचिन्त्य—वि +चिति (चिन्त्)+क्त्वा (ल्यप्=य)। विश्वसनीयम्=वि+श्वस्+अनीयर (अनीय) । प्रसार्य=प्र+णिजन्त 'सृ' (सार्) क्त्वा (ल्यप्=य) द्रष्टव्या =दृश्+तव्य, धातु की 'ऋ' के बाद 'अम्' (अ), 'श्' को 'ष्' । निबद्धः=नि+बन्ध्+क्त (त), धातु के 'न्' का लोप, प्रत्यय के 'त' को 'ध', धातु के 'ध्', को 'द्' ।

शब्दार्थ.—उद्दिश्य=लक्ष्य करके, ओर । स्फुटितचरण =फूटे या लहूलुहान पैरो वाला । लुब्धक' =बहेलिया । प्रसार्य=फैला कर । प्रक्षेप्स्यति=फैंकेगा, बखेरेगा । कालकूटसदृशा =विष के समान द्रष्टव्या.=देखने चाहिए । सिन्दुवारसदृशान्=सिन्दुवार (सम्हालू) के बीजो के समान । प्रक्षिप्य=फैंक या

बखेर कर। निभृतः=शान्त, चुपचाप। लघुपतनकवाक्यार्गलया=लघुपतनक के वाक्य की अर्गला (जंजीर) से। निवारिताः=रोके हुए। हालाहलाङ्कुरान्=विष के अंकुर। निवार्यमाण =रोका जाने वाला। जिह्वालौल्याद्=जीभ की चंचलता से। अपतत्=गिर पड़ा, टूट पड़ा। निबद्ध.=बँध गया।

हि० अनु०—वहाँ लघुपतनक नामक कौआ रहता था। वह कभी जीवन यात्रा (जीविका की तलाश) के लिए नगर की ओर चलता हुआ ज्यों ही दृष्टि डालता है, त्यों ही हाथ में जाल लिए हुए अत्यन्त काले शरीर वाला, लहूलुहान पैरों वाला, खड़े बालों वाला, यमदूत के समान आकार वाला एक व्यक्ति सम्मुख हुआ (दिखाई दिया)। तब उसको देखकर शंकितचित्त हो सोचने लगा—'आज यह दुष्ट मेरे आश्रयभूत वटवृक्ष की ओर जा रहा है। सो न मालूम, क्या आज वटवृक्ष पर रहने वाले पक्षियों का नाश होगा या नहीं।' ऐसा अनेक प्रकार से सोचकर उसी क्षण लौटकर उसी वटवृक्ष पर जाकर वह सब पक्षियों से बोला—'अरे, यह दुष्ट बहेलिया हाथ में जाल और चावल लेकर सामने आ रहा है। सो किसी भी प्रकार उसका विश्वास नहीं करना चाहिए। यह जाल को फैलाकर चावलों को बखेरेगा। वे चावल आप सब लोगों को जहर के समान देखने चाहिए। उसके ऐसा कहते हुए ही, वह बहेलिया उस वटवृक्ष के नीचे आ गया और जाल फैलाकर सिन्दुवार (सम्हालू) के बीजों के समान चावलों को बखेर कर थोड़ी दूर हो जा चुपचाप बैठ गया। तब जो पक्षी वहाँ (वटवृक्ष पर) बैठे थे, वे लघुपतनक के वाक्यों की जंजीर से रोके जाने के कारण उन चावलों को विष के अंकुर के समान देखते हुए चुपचाप बैठे रहे। इसी बीच में चित्रग्रीव नाम का कपोतराज (कबूतरों का राजा) अपने हजारों परिवारियों (साथियों) के साथ जीविका की तलाश में घूमता हुआ उन चावलों को देखकर लघुपतनक के द्वारा रोके जाने पर भी जीभ की चंचलता से खाने के लिए (उन चावलों पर) टूट पड़ा और अपने सम्पूर्ण परिवार के साथ (जाल में) बँध गया।

अथवा साध्विदमुच्यते—

हि० अनु०:—क्यों न ऐसा हो, क्योंकि यह ठीक ही कहा जाता है—

जिह्वालौल्यप्रसक्तानां जलमध्यनिवासिनाम् ।
अचिन्तितो वधोऽज्ञानां मीनानामिव जायते ॥३॥

अन्वयः—जिह्वालौल्यप्रसक्तानाम् अज्ञानाम् जलमध्यनिवासिनाम् मीनानाम् इव अचिन्तित वध. जायते ।

स० टी०—जिह्वालौल्यप्रसक्तानाम् रसनाचापल्यवशीभूतानाम्[1] अज्ञाना मूर्खाणा जनानाम् जलमध्यनिवासिनाम् जलमध्ये निवास कुर्वताम् मीनानाम् मत्स्यानाम् इव यथा अचिन्तित असभावित वधः मृत्यु जायते भवति ।

समास.—जिह्वालौल्यप्रसक्तानाम्=जिह्वाया लौल्यम् (तत्पु०), तस्मिन् प्रसक्तानाम् (तत्पु०) । जलमध्यनिवासिनाम्=जलस्य मध्यम् (तत्पु०), तस्मिन् निवसन्ति (उपपदतत्पु०), तेषाम् ।

व्या०.—लौल्य=लोल+ष्यञ् (य), शब्द के आदि स्वर 'ओ' को 'औ' वृद्धि । प्रसक्तानाम्=प्र+सञ्ज्+क्त (त), धातु के 'न्' का लोप, 'ज्' को 'ग्' जिसे कि 'क्' । जलमध्यनिवासिनाम्=जलमध्य+नि+वस्+णिनि (इन्), धातु की उपधा 'अ' को 'आ' वृद्धि । अचिन्तित=नञ् (अ)+चिति (चिन्त्)+इट् (इ)+क्त (त) । जायते=जनी (जन्) धातु, लट्, प्र० पु०, एक व० ।

शब्दार्थ—जिह्वालौल्यप्रसक्तानाम्=जीभ की चचलता के वशीभूत लोगो का । अचिन्तितः=असभावित, आकस्मिक ।

हि० अनु०—जीभ की चचलता के वशीभूत मूर्ख लोगो की, जल के बीच मे रहने वाली मछलियो की तरह असभावित मौत हो जाती है ।

[1]—यद्यपि सस्कृत-टीका मे समस्त पदो का विग्रह भी प्रदर्शित किया जाता है, जैसा कि पूर्व मे अब तक निदर्शनार्थ किया गया है, किन्तु यत यहाँ स्पष्टतः समझने के लिए सस्कृत-टीका के बाद समासो के विग्रह प्रदर्शित किए ही गए हैं, अत अब आगे व्यर्थ की पुनरावृत्ति से बचने के लिए संस्कृत-टीका मे विग्रह प्रदर्शित नहीं किए जा रहे हैं ।

अथवा दैवप्रतिकूलतया भवत्येवम् । न तस्य दोषोऽस्ति ।

हि० अनु० :—अथवा दैव (भाग्य) के प्रतिकूल होने से ऐसा होता है। (अतः) उसका दोष नहीं है।

उक्तं च

हि० अनु० :—कहा भी है—

पौलस्त्यः कथमन्यदारग्रहणे दोषं न विज्ञातवान्,
रामेणापि कथं न हेममहरिणस्यासम्भवो लक्षितः।
अक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण सहसा प्राप्तो ह्यनर्थः कथम्,
प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ॥४॥

अन्वय :—पौलस्त्यः अन्यदारग्रहणे दोषम् कथम् न विज्ञातवान्, रामेण अपि हेममहरिणस्य असम्भवः कथम् न लक्षितः, युधिष्ठिरेण च अपि अक्षैः कथम् सहसा अनर्थः प्राप्तः, हि प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसाम् मतिः प्रायः क्षीयते।

म० टी०.—पौलस्त्यः पुलस्त्यवंशोद्भवः रावणः अन्यदारग्रहणे परस्त्रीपरिग्रहे दोषम् अपराधं लाञ्छनं वा कथं न विज्ञातवान् विदितवान्, रामेण अपि हेममहरिणस्य सुवर्णमृगस्य असम्भवः सम्भवाभावः कथं न लक्षितः दृष्टः विचारितो वा, युधिष्ठिरेण च अपि अक्षैः द्यूतैः कथं सहसा अकस्मादेव अनर्थः सङ्कटः प्राप्तः लब्धः, हि यतः, प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसाम् निकटवर्तिसंकटविमूढचित्तानां जनानां मतिः बुद्धिः प्रायः क्षीयते क्षीणा भवति।

समास.—अन्यदारग्रहणे = अन्यस्य दाराः (तत्पु०), तेषां ग्रहणे (तत्पु०), हेममहरिणस्य = हेम्नः हरिणः तस्य (तत्पु०), असंभव = न सम्भवः (नञ् तत्पु०), प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसाम् = प्रत्यासन्ना च असौ विपत्तिः (कर्मधा०), तया मूढम् मनः येषां तेषाम् (बहु०)।

व्या०:—पौलस्त्यः = पुलस्त्य + अण् (अ), शब्द के आदिस्वर 'उ' का 'औ' वृद्धि, शब्द के अन्तिम स्वर 'अ' का लोप। ग्रहण = ग्रह् + ल्युट् (यु = अन)। विज्ञातवान् = वि + ज्ञा + क्तवतु (तवत्)। लक्षित = लक्ष् + इट् (इ) + क्त (त)। प्राप्तः = प्र + आप् + क्त (त)। प्रत्यासन्न = प्रति + आ + सद् + क्त (त), धातु के 'द्' और प्रत्यय 'त', दोनों को 'न्न'।

शब्दार्थ.—पौलस्त्य =पुलस्त्यवंशीय रावण । असंभव =न होना, असभावना । लक्षित =देखा, सोचा । अक्षैः =पासो से । प्रत्यासन्नविपत्ति-मूढमनसाम्=शीघ्र आने वाली विपत्ति से विवेकहीन चित्त वालो की । क्षीयते=क्षीण या नष्ट हो जाती है ।

तथा च ।

हि० अनु०—पुलस्त्यवंशीय रावण ने दूसरे की स्त्री के ग्रहण मे दोष क्यो नही जाना, राम ने भी सोने के मृग का न होना क्यो नही सोच पाया, युधिष्ठिर ने भी पासो मे एकदम अनर्थ क्यो प्राप्त कर लिया, (इसलिए कि) शीघ्र आने वाली विपत्ति से विवेकहीन चित्त वालो की बुद्धि प्रायः क्षीण हो जाती है ।

हि० अनु० —और भी ।

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम् ।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ॥ ५ ॥

अन्वय —कृतान्तपाशबद्धानाम् दैवोपहतचेतसाम् महताम् अपि बुद्धयः कुब्जगामिन्यः भवन्ति ।

स० टी० —कृतान्तपाशबद्धानाम् यमजालनियन्त्रितानाम् दैवोपहतचेतसाम् भाग्यपीडितचित्तानाम् महताम् महापुरुषाणाम् अपि बुद्धयः मतयः कुब्जगामिन्यः हितप्रतिकूलवर्तिन्यः भवन्ति जायन्ते ।

समास —कृतान्तपाशबद्धानाम्=कृतान्तस्य पाशाः (तत्पु०), तैः बद्धानाम् (तत्पु०) । दैवोपहतचेतसाम्=दैवेन उपहतम् (तत्पु०), दैवोपहतं चेतः येषां तेषाम् । कुब्जगामिन्यः =कुब्जं यथा स्यात् तथा गच्छन्ति (उपपदतत्पु०) ।

व्या० — उपहत=उप+हन्+क्त (त), धातु के 'न्' का लोप ।

शब्दार्थ —कृतान्तपाशबद्धानाम्=यम या मृत्यु के जालो से बँधे हुए लोगो की । दैवोपहतचेतसाम्=दैव या भाग्य से मारे हुए चित्त वालो की । कुब्जगामिन्यः =विपरीत दिशा मे जाने वाली ।

हि० अनु० —मृत्यु के जालो से बँधे हुए एवं भाग्य के द्वारा मारे हुए या मूढ बनाए गए चित्त वाले महापुरुषो की भी बुद्धियाँ (हित के) विपरीत दिशा में जाने वाली हो जाती हैं ।

अत्रान्तरे लुब्धकस्तान् बद्धान् विज्ञाय प्रहृष्टमनाः प्रोद्यतयष्टिस्तद्वधार्थं प्रधावितः। चित्रग्रीवोऽप्यात्मानं सपरिवारं बद्धं मत्वा लुब्धकमायान्तं दृष्ट्वा तान् कपोतानूचे—अहो, न भेतव्यम्। उक्तं च—

व्या०—विज्ञाय=वि+ज्ञा+क्त्वा (ल्यप्=य)। मत्वा=मन्+क्त्वा (त्वा), धातु के 'न्' का लोप।

आयान्तम्=आ+या+शतृ (अत्)।

शब्दार्थः—अत्रान्तरे=इस बीच में, इतने में। प्रोद्यतयष्टि=लाठी उठाकर, उठी हुई लाठी वाला। प्रधावित=दौड़ा। ऊचे=बोला।

हि० अनु०:—इतने में वह बहेलिया उन (कबूतरों) को बँधा हुआ जानकर प्रसन्न हो लाठी उठाकर उनके वध के लिए दौड़ा। चित्रग्रीव भी अपने को सपरिवार बँधा जानकर, बहेलिये को आता देखकर उन कबूतरों से बोला—'अरे! डरना नहीं चाहिए। कहा भी है—

व्यसनेष्वेव सर्वेषु यस्य बुद्धिर्न हीयते।
स तेषां पारमभ्येति तत्प्रभावादसंशयम् ॥६॥

अन्वयः—सर्वेषु व्यसनेषु एव यस्य बुद्धिः न हीयते, स तत्प्रभावात् असंशयम् तेषाम् पारम् अभ्येति।

सं० टी०:—सर्वेषु सकलेषु व्यसनेषु संकटेषु यस्य जनस्य बुद्धिः मतिः न हीयते क्षीयते, स तत्प्रभावात् तद्बुद्धिप्रभावात् असंशयम् निस्सन्देहम् तेषाम् संकटानाम् पारम् अन्तम् अभ्येति गच्छति।

व्या०:—हीयते='ओहाक्' (हा) धातु, कर्मवाच्य, लट्, प्र० पु०, एक०। अभ्येति='अभि' पूर्वक 'इण्' (इ) धातु, लट्, प्र० पु०, एक०।

शब्दार्थ—व्यसनेषु=संकटों में। हीयते=छूटती है, नष्ट होती है। अभ्येति=पहुँचता है, जाता है।

हि० अनु०:—सभी संकटों में जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं होती (सावधान बनी रहती है), वह उस (बुद्धि) के प्रभाव से निश्चय ही उन (संकटों) के पार पहुँच जाता है (संकटों को पार कर देता है)।

सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।
उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा ॥७॥

अन्वय —सम्पत्तौ च विपत्तौ च महताम् एकरूपता (भवति), सविता उदये रक्त, तथा अस्तमये च रक्त (भवति)।

स० टी० —सम्पत्तौ अभ्युदय विपत्तौ सङ्कट महताम् महापुरुषाणाम् एकरूपता समानरूपता भवति, सविता सूर्य उदये उदयकाले रक्त रक्तवर्ण, तथा अस्तमये अस्तगमनकाले च रक्त रक्तवर्ण भवतीति शेष।

समास —एकरूपता=एक रूप यस्य स एकरूप (बहु०), तस्य भावः एकरूपता (तद्धित)।

रूपा —एकरूपता=एकरूप+तल् (त)+टाप् (आ)। उदय=उत्+इण् (इ)+अच् (अ)। अस्तमये=अस्तम्+इण् (इ)+अच् (अ)।

शब्दार्थ —एकरूपता =समान रूप या दशा का होना। अस्तमये=अस्त होने के समय म।

हि० अनु० —सम्पत्ति और विपत्ति म महापुरुषो की एक सी ही दशा रहती है, सूर्य अपने उदयकाल मे भी लाल होता है और अस्त होने के काल मे भी लाल रहता है।

विशेष —यह दृष्टान्त अलकार है।

तस्मद्वयं सर्वे हेलयोड्डीय सपाशजाला अस्यादर्शन गत्वा मुक्ति प्राप्नुम। नो चेद् भयविक्लवा सन्तो हेलया समुत्पात न करिष्यथ। ततो मृत्युमवाप्स्यथ।

उक्तच—

समास —सपाशजाला =पाशश्च जाल च (द्वन्द्व) ताभ्या सहिता (तत्पु०)।

रूपा —उड्डीय=उत्+डीङ् (डी)+क्त्वा (ल्यप्=य)। गत्वा=गम्+क्त्वा (त्वा) धातु के 'म्' का लोप। सन्त =अस्+शतृ (अत्), धातु के आदिम 'अ' का लोप।

शब्दार्थ —हेलया=एक साथ जोर लगाने के द्वारा। अदर्शनम=दृष्टि से ओझल। भयविक्लवा =भय से व्याकुल। समुत्पातम्=उडान।

हि०० अनु० —सो हम सब एक साथ जोर लगाते हुए पाशजाल अर्थात् बन्धन भूत जाल के साथ उड कर इसकी दृष्टि से ओझल हो छुटकारा प्राप्त करें। नहीं तो यदि तुम भयभीत होकर एक साथ जोर लगाते हुए उडान नही करोगे, तो मृत्यु को प्राप्त करोगे। कहा भी है—

**तन्तवोऽप्यायता नित्य तन्तवो बहुला समा. ।
बहून् बहुत्वादायासान् सहन्तीत्युपमा सताम् ॥८॥**

अन्वय —आयता तन्तवः अपि बहुला समा तन्तव (सन्त) बहुत्वात्‌ नित्यम् बहून् आयासान् सहन्ति, इति सताम् उपमा (अस्ति) ।

सं० टी० —आयाता. आयामयुक्ताः दीर्घा. तन्तव अपि बहुला. सन्तान-वितानयुक्ता. मघटिता· समा सदृशा· परस्परसहयोगिन इत्यर्थ सन्त बहुत्वात् अनेकत्वात् वस्त्ररूपेण मघटितत्वाद् इत्यर्थ नित्यम् बहून् बहुसख्याकान् आयासान् सघातान् भारान् वा सहन्ति सहन्ते इति सताम् सज्जनानाम् उपमा तुलना अस्तीति शेष. ।

व्या०:—सहन्ति='षह्' (सह्) धातु, लट्, प्र० पु० बहु०, भौवादिक 'षह्' धातु आत्मनेपदी है, अत. यहाँ इसे 'णिच्' के प्रयोग से रहित चौरादिक मानना चाहिए ।

शब्दार्थ —आयासान्=झटको, धक्को, भारो, या खिचावो को ।

हि० अनु०—लम्बे लम्बे (पतल. दुबल) धागे भी (सन्तान-वितान रूप मे वस्त्र रूप मे) सघटित और इस प्रकार परस्पर सहयोगी तन्तु होकर बहुत या सघटित होने के कारण बहुत से खिचावो, धक्को या भारो को सहन करते हैं, यह सज्जनो की उपमा है अर्थात् ऐसा ही सज्जन करते हैं ।

तथानुष्ठिते लुब्धको जालमादायाकाशे गच्छता तेषा पृष्ठतो भूमिस्थोऽपि पर्यधावत् । तत ऊर्ध्वानन श्लोकमेनमपठत्—

समास —ऊर्ध्वानन =ऊर्ध्वम् आननम् यस्य स (बहु०) ।

व्या०.—अनुष्ठिते=अनु+स्था+क्त (त), धातु क 'आ' को 'इ' । आदाय=आ+दा+क्त्वा (ल्यप्=य) । गच्छताम्=(गम्=गच्छ्)+शतृ (अत्) । पर्यधावत्='परि' पूर्वक 'धाव्' धातु लङ् लकार, प्र० पु०, एक० ।

शब्दार्थ —ऊर्ध्वानन =ऊपर को मुख किए हुए ।

हि० अनु०.—वैसा करने पर बहेलिया जाल को लेकर आकाश मे उड़ने वाले उन (पक्षियो) के पीछे जमीन पर ही स्थित हो दौड़ा । फिर ऊपर को मुख किए हुए उसने यह श्लोक पढ़ा—

जालमादाय गच्छन्ति सहता पक्षिणोऽप्यमी ।
यावच्च विवदिष्यन्ते पतिष्यन्ति न सशयः ॥८॥

अन्वय.—अमी पक्षिण अपि सहता (सन्त) जालम् आदाय गच्छन्ति, (एते) यावत् च विवदिष्यन्ते (तावत्) पतिष्यन्ति, (अत्र) सशय न (अस्ति)।

स० टी० —अमो एते पक्षिण विहगा अपि सहता सङ्घटिता सन्त जालम् आदाय गृहीत्वा गच्छन्ति उड्डीयन्ते, एते यावत् यदैव च विवदिष्यन्ते विवाद करिष्यन्ति, तावदेव पतिष्यन्ति, अस्मिन विषये सशय. सन्देह न अस्तीति शेष ।

व्या० —विवदिष्यन्ते='वि' पूर्वक 'वद्' धातु, लृट्, प्र० पु०, बहुव० 'वद्' धातु मूलत परस्मैपदी है, किन्तु 'वि' पूर्वक होकर 'विवाद' अर्थ मे प्रयुक्त होने पर आत्मनेपदी हो जाती है।

शब्दार्थ —सहता =सघटित । विवदिष्यन्ते=विवाद या झगडा करेंगे ।

हि० अनु० —ये पक्षी भी सघटित होकर जाल को लेकर उडे जारहे हैं, किन्तु ज्योही विवाद करेंगे त्योही गिर पडेंगे । इसम सशय नही ।

लघुपतनकोऽपि प्राणयात्राक्रिया त्यक्त्वा किमत्र भविष्यतीति कुतूहलात् तत्पृष्ठतोऽनुसरति । अथ दृष्टेरगोचरता गतान् विज्ञाय लुब्धको निराश. श्लोकम-पठन्निवृत्तश्च ।

समास —प्राणयात्राक्रियाम्=प्राणेभ्य यात्रा (तत्पु०), तस्या क्रिया ताम् (तत्पु०) ।

व्या० —त्यक्त्वा=त्यज्+क्त्वा (त्वा) । दृष्टे =दृश्+क्तिन् (ति), धातु के 'श्' को 'ष्' ।

शब्दार्थ —प्राणयात्राक्रियाम्=जीवनयात्रा की क्रिया को, जीविका (भोजन) की तलाश के काय को । कुतूहलात्=कौतुक या जिज्ञासा से । अगोचरताम्—ओझल ।

हि० अनु० —लघुपतनक भी जीविका (भोजन) की तलाश क कार्य को छोड कर 'यहाँ क्या होगा,' इस जिज्ञासा से उनके पीछे गया । इधर (पक्षियो

को) दृष्टि से ओझल हुए जान कर बहेलिया ने निराश होकर यह श्लोक पढा और लौट आया—

नहि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य हि भवितव्यता नास्ति ॥१०॥

अन्वय —यद् न भाव्यम् (तत्) नहि भवति, भाव्यम् च यत्नेन विना अपि भवति । यस्य हि भवितव्यता नास्ति (तत्) करतलगतम् अपि नश्यति ।

सं० टी०:—यत् न नहि भाव्यम् भवितव्य भवितु नियतमित्यर्थ तत् नहि भवति घटते । भाव्य भवितव्य च यत्नेन प्रयासेन विना अपि भवति, यस्य हि भवितव्यता भवितु नियति नास्ति तत् करतलगतम् कराधिकृतम अपि नश्यति प्रणाश प्राप्नोति ।

व्या०— भाव्यम्=भू+ण्यत् (य), धातु क 'ऊ' का औ वृद्धि । भवितव्यता=भू+इट् (इ)+तव्य+तल् (त)+टाप् (आ) ।

हि० अनु० —जो होनहार नही है वह नहीं होता है और होनहार यत्न क बिना भी हो जाता है, जिसकी भवितव्यता नही है अर्थात् जो होनहार नही है, वह हाथ पर रक्खा हुआ भी नष्ट हो जाता है ·

। तथा च ।

हि० अनु०:—और भी ।

पराङ्मुखे विधौ चेत् स्यात् कथचिद् द्रविणोदय ।
तत्सोऽन्यदपि सगृह्य याति शङ्खनिधिर्यथा ॥११॥

अन्वय —विधौ पराङ्मुखे (सति) कथचित् द्रविणोदय, स्यात् चेत्, तत् स. अन्यद् अपि सगृह्य याति यथा शङ्खनिधि (याति)

स० टी० —विधौ विधातरि पराङ्मुखे प्रतिकूले सति कथचित् येन केन प्रकारेण द्रविणोदय, धनप्राप्ति, स्याद् भवेत् चेत्, तत् तत: स धनोदय अन्यत् पूर्वमर्जितं धनम् अपि सगृह्य गृहीत्वा याति नश्यति यथा शङ्खनिधि शङ्खनामको निधिविशेष यातीति शेष ।

समास —पराङ् मुखम् यस्य तस्मिन् (बहु०) । द्रविणोदय =द्रविणस्य उदय (तत्पु०) शङ्खनिधि=शङ्खश्च असौ निधि (कर्मधा०) .

व्या० —विधौ='विधि' शब्द, सप्तमी, एक० । सगृह्य=सम्+ग्रह+क्त्वा (ल्यप्=य), धातु के 'र्' को 'ऋ' सम्प्रसारण ।

शब्दार्थ —विधौ=विधाता के । पराङ्मुखे=प्रतिकूल होने पर। द्रविणोदय=धन की प्राप्ति । सगृह्य=समेट कर । शङ्खनिधि='शङ्ख' नामक निधि ।

हि० अनु० —विधाता के प्रतिकूल होने पर यदि किसी तरह धन की प्राप्ति हो भी जाय तो वह धन अन्य (पूर्वसंचित धन) को भी साथ में समेट कर चला जाता है, जिस प्रकार 'शंख' नामक निधि (पूर्वसंचित धन को भी लेकर चली जाती है) ।

तदास्तां तावद् विहङ्गामिषलोभो यावत् कुटुम्बवर्तनोपायभूत जालमपि मे नष्टम् । चित्रग्रीवोऽपि लुब्धकमदर्शनीभूत ज्ञात्वा तानुवाच—भो, निवृत्तः स दुरात्मा लुब्धक । तत्सर्वैरपि स्वस्थैर्गम्यतां महिलारोप्यस्य प्रागुत्तरदिग्भाग । तत्र मम सुहृद् हिरण्यको नाम मूषक सर्वेषां पाशच्छेद करिष्यति । उक्त च—

समास —विहङ्गामिषलोभ =विहङ्गानाम् आमिषम् (तत्पु०), तस्य लोभ (तत्पु०) । कुटुम्बवर्तनोपायभूतम्=कुटुम्बस्य वर्तनम् (तत्पु०), तस्य उपायभूतम् (तत्पु०) ।

व्या० —आस्ताम्='आस्' धातु, लट्, प्र० पु०, एकव० । नष्टम्=णश् (नश्)+त (त), धातु के 'श्' का 'ष्' । गम्यताम्='गम्' धातु, कर्मवाच्य, लोट् प्र० पु०, एक० ।

शब्दार्थ —आस्ताम्=बना रहे, छोड़ा जावे । विहङ्गामिषलोभः=पक्षियों के मांस का लोभ । कुटुम्बवर्तनोपायभूतम्=कुटुम्ब की जीविका का उपाय । अदर्शनीभूतम्=दृष्टि से ओझल ।

हि० अनु० —सो अब पक्षियों के मांस के इस लोभ को छोड़ा जावे, जिससे कुटुम्ब की जीविका का साधन मेरा जाल भी चला गया । चित्रग्रीव भी बहेलिए को दृष्टि से ओझल जान कर उन (कबूतरों) से बोला—'अरे ! वह दुष्ट बहेलिया लौट गया, सो सबको स्वस्थ (निश्चिन्त) होकर महिलारोप्य नगर की पूर्वोत्तर दिशा में चलना चाहिए । वहाँ मेरा मित्र हिरण्यक नामक चूहा सब का बन्धन काट देगा । कहा भी है—

सर्वेषामेव मर्त्यानां व्यसने समुपस्थिते ।
वाङ्मात्रेणापि साहाय्यं मित्रादन्यो न सदधे ॥१२॥

अन्वयः—व्यसने समुपस्थिते मित्रात् अन्य. सर्वेषाम् एव मर्त्यानाम् वाङ्मात्रेण अपि साहाय्यम् न सदधे ।

स० टी०.—व्यसन सकटे समुपस्थिते समापतिते सति मित्रात् सुहृद. अन्य। इतर. वाङ्मात्रेण वचन मात्रेण अपि साहाय्यम् सहायताम् न सदधे समयान् कृतवान् करोति वा इत्यर्थः ।

व्या०—समुपस्थिते—सम्+उप+स्था+क्त (त), धातु के 'आ' को 'इ' । वाङ्मात्रेण=वाच्+मात्रच् (मात्र) । साहाय्यम्=सहाय+ष्यञ् (य), शब्द के आदि स्वर 'अ' को 'आ' वृद्धि, उसके अन्तिम स्वर 'अ' का लोप । संदधे='सम्' पूर्वक 'धा' धातु, आत्मनेपद, लिट्, प्र० पु०, एक० ।

हि० अनु०:—संकट के उपस्थित होने पर मित्र से अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति कभी मनुष्य की वचनमात्र से भी सहायता नहीं जोड़ता है (करता है) ।

एव ते कपोताश्चित्रग्रीवेण सबोधिता महिलारोप्ये नगरे हिरण्यकबिलदुर्गं प्रापु. । हिरण्यकोऽपि सहस्रमुखबिलदुर्गं प्रविष्टः सन्नकुतोभय. सुखेनास्ते । अथवा साध्विदमुच्यते—

व्या० —सबोधिता=सम्+णिजन्त 'बुध्' (बोध्)+इट् (इ)+क्त (त) । प्रापु ='प्र' पूर्वक 'आप्' लिट्, प्र० पु०, बहु० । प्रविष्ट =प्र+विश्+क्त (त) ।

शब्दार्थ —सबोधिता =कह कर समझाए गए । प्रापुः=पहुँचे । सहस्रमुखबिलदुर्गम्=हजार मुख (छिद्र) वाले बिल रूपी दुर्ग में । अकुतोभय =निर्भय ।

हि० अनु.०—इस प्रकार चित्रग्रीव के द्वारा कह कर समझाए गए वे कबूतर महिलाराप्य नगर में हिरण्यक के बिल रूपी किले पर पहुँचे । हिरण्यक भी हजार मुख (छिद्र) वाले बिल रूपी किले में प्रविष्ट हो निर्भय होकर सुख से रहता था । क्यों न ऐसा हो क्योंकि यह ठीक ही कहा जाता है—

न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम् ।
तत्कर्म सिध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन यद्रणे ॥१५॥

अन्वय —रणे राज्ञा यत् कर्म एकेन दुर्गेण सिध्यते तत् गजाना सहस्रेण न (सिध्यते) न च वाजिनाम् लक्षेण (सिध्यते) ।

स० टी० —रणे युद्ध राज्ञा नृपाणा यत् कर्म कार्यम् एकेन केवलेन दुर्गेण सिध्यते निष्पद्यते तत् कर्म गजाना हस्तिना सहस्रेण न सिध्यते न च वाजिनाम् अश्वानां लक्षेण सिध्यते ।

व्या० —सिध्यते=कर्तृवाच्य म 'सिध्' धातु का शुद्ध प्रयोग 'सिध्यति' होता है, अत यह कर्मकर्तृ प्रयोग मानना होगा—'सिध्' (सिघ्) धातु, कर्मकर्तृ लट्, प्र० पु०, एक० ।

हि० अनु० —युद्ध मे राजाओ का जो काम केवल एक दुर्ग से सिद्ध होता है, वह न तो हजारो हाथियो से सिद्ध होता है और न लाखो घोडो से सिद्ध होता है ।

शतमेकोऽपि सधत्ते प्राकारस्थो धनुर्धर ।
तस्माद् दुर्गं प्रशसन्ति नीतिशास्त्रविदो जना ॥१७॥

अन्वय —प्राकारस्थ एक अपि धनुर्धर शतम् संधत्ते, तस्माद् नीतिशास्त्रविद जनाः दुर्गम् प्रशसन्ति ।

सं० टी० —प्राकारस्थ दुर्गस्थित एक अपि धनुर्धर धनुर्धारी शतम् शतसख्याकान् जनान् सधत्ते विध्यति, तस्माद् अत एव नीतिशास्त्रविद नीतिशास्त्रवेत्तार जना दुर्गम् प्राकार प्रशसन्ति श्लाघयन्ति ।

समास —प्राकारस्थ =प्राकारे तिष्ठति (उपपदतत्पु०) धनुर्धर =धरतीति धर (कृदन्त), धनुष धर (तत्पु०) । नीतिशास्त्रविद =नीतिशास्त्र विदन्ति (उपपदतत्पु०) ।

व्या० —प्राकारस्थ =प्राकार+स्था+क (अ), धातु के 'आ' का लोप । धनुर्धर =धनुष्+धृ+अच् (अ), धातु की 'ऋ' को 'अर्' गुण । सधत्ते=

'सम्' पूर्वक 'धा' धातु, लट्, प्र० पु०, एकव० । नीतिशास्त्रविद =
नीतिशास्त्र+विद्+क्विप् (×)[1] ।

शब्दार्थ —प्राकारस्य =परकोटे में स्थित (दुर्गस्थित) । सधत्त =सधान करता है, बेधता है ।

हि० अनु०—परकोटे के भीतर दुर्ग में स्थित एक भी धनुधर सैंकडो व्यक्तियो को (बाण) से बेध देता है । इसलिए नीतिशास्त्रज्ञ जन दुर्ग की प्रशसा करते हैं ।

अथ चित्रग्रीवो बिलमासाद्य तारस्वरेण प्रोवाच—'भो भो मित्र हिरण्यक, सत्वरमागच्छ । महती मे व्यसनावस्था वर्तते, तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि बिलदुर्गान्तर्गत सन् प्रोवाच—'भो, को भवान् । किमर्थमायात । कि कारणम् कीदृक्ते व्यसनावस्थानम् । तत्कथ्यताम् इति । तच्छ्रुत्वा चित्रग्रीव आह—'भो, चित्रग्रीवो नाम कपोतराजोऽहं ते सुहृत् । तत्सत्वरमागच्छ । गुरुतर प्रयोजनमस्ति ।' तदाकर्ण्य पुलकिततनु प्रहृष्टात्मा स्थिरमनास्त्वरमाणो निष्क्रान्त । अथवा साध्विदमुच्यते ।

समास—पुलकिततनु —पुलकिता तनु यस्य स (बहु०) । प्रहृष्टात्मा = प्रहृष्ट आत्मा यस्य स (बहु०) । स्थिरमना =स्थिर मन यस्य स (बहु०) ।

व्या —आसाद्य=आ+चौरादिक णिजन्त 'पद्' (साद्)+क्त्वा (ल्यप्=य) । प्रोवाच— प्र' पूर्वक 'ब्रू' धातु, लिट् प्र० पु०, एक० । श्रुत्वा= श्रु+क्त्वा (त्वा) । कथ्यताम्='कथ्' धातु, भावकर्म, लोट्, प्र० पु०, एक० । आकर्ण्य=आ+कर्ण्+क्त्वा (ल्यप्=य), । प्रहृष्ट=प्र+हृष्+क्त (त) । त्वरमाण =त्वर+शप (अ)+युक् (म्)+शानच् (आन) । निष्क्रान्त = निस्+क्रम्+क्त (त) ।

शब्दार्थ —तारस्वरेण=उच्च स्वर से । सत्वरम्=शीघ्र । व्यसनावस्था= सकट की दशा या हालत । बिलदुर्गान्तर्गत =बिल रूपी दुर्ग के भीतर स्थित । प्रोवाच=बोला । आयात =आए । व्यसनावस्थानम्=सकट दशा ।

१—(×), यह चिन्ह इस बात का द्योतक है कि प्रत्यय के सभी अशो का लोप हो जाता है अर्थात् उसका कोई अश अवशिष्ट नही रहता ।

गुरुतरम्=बड़ा भारी, बहुत बड़ा। आकर्ण्य=सुनकर। पुलकिततनुः=पुलकित या रोमाञ्चित शरीर वाला। प्रहृष्टात्मा=प्रसन्नचित्त। स्थिरमनाः=शान्त मन वाला। त्वरमाणः=जल्दी करता हुआ। निष्क्रान्तः=निकला।

हि० अनु०:—इसके बाद चित्रग्रीव बिल पर पहुँच कर ऊँचे स्वर से बोला—'अरे! मित्र हिरण्यक, शीघ्र आओ। मेरी बहुत बड़ी संकट की दशा है। यह सुन कर हिरण्यक भी बिल रूपी दुर्ग के भीतर स्थित हो बोला—'अरे' आप कौन हैं? किस लिए आए हो? क्या कारण है? तुम्हारी संकट दशा कैसी है? सो कहो। यह सुनकर चित्रग्रीव बोला—'अरे! मैं तेरा मित्र चित्रग्रीव नाम कपोतराज हूँ।'सो शीघ्र आओ। बहुत बड़ा प्रयोजन है।' यह सुन कर वह पुलकित, प्रसन्नचित्त एवं शान्तमना हो जल्दी से निकला। क्यों न ऐसा हो क्योंकि यह ठीक कहा जाता है—

> सुहृदः स्नेहसंपन्ना लोचनानन्ददायिनः।
> गृहे गृहवतां नित्यमागच्छन्ति महात्मनाम् ॥१७॥

अन्वयः—स्नेहसंपन्नाः लोचनानन्ददायिनः सुहृदः महात्मनाम् गृहवताम् गृहे नित्यम् आगच्छन्ति।

सं० टी०:—स्नेहसंपन्नाः प्रेमयुक्ताः लोचनानन्ददायिनः नयनसुखदातारः सुहृदः सखायः महात्मनाम् महापुरुषाणाम् गृहवताम् गृहस्थानाम् गृहे सदने नित्यम् सर्वदा आगच्छन्ति शुभागमनम् कुर्वन्ति।

समासः—स्नेहसंपन्नाः=स्नेहेन सपन्ना (तत्पु०)। लोचनानन्ददायिनः= लोचनाभ्याम् आनन्दम् ददाति (उपपद तत्पु०)। महात्मनाम्=महान् आत्मा येषां तेषाम् (बहु०)।

व्याः०—संपन्नाः=सम्+पद्+क्त (त)। लोचनानन्ददायिनः= लोचनानन्द+दा+युक् (य्)+णिनि (इन्)। गृहवताम्=गृह+मतुप् (मत्), 'म' को 'व'।

शब्दार्थः—गृहवताम्=गृहस्थों के।

हि० अनु:०—स्नेह से युक्त एवं नेत्रों को आनन्द देने वाले मित्र महात्मा गृहस्थों के घर में नित्य आते रहते हैं।

आदित्यस्योदयस्तात ताम्बूल भारती कथा ।
इष्टा भार्या सुमित्र च अपूर्वाणि दिने दिने ॥१८॥

अन्वय —(स्पष्ट व सीधा है) ।

स० टी० —हे तात आदित्यस्य सूर्यस्य उदय उद्गम ताम्बूल तदाख्य प्रसिद्ध पत्रम् भारती कथा महाभारतस्य कथा इष्टा प्रिया भार्या पत्नी सुमित्रम् सज्जन सखा दिने दिने प्रतिदिनम् सर्वदा इत्यर्थ. अपूर्वाणि नवीनानि सन्तीति शेष ।

हि० अनु० —हे तात सूर्योदय, पान, महाभारत की कथा, प्रिया . भार्या, अच्छा मित्र ये प्रतिदिन (सवदा) नवीन हो (अनुभून होते हैं) ।

सुहृदो भवने यस्य समागच्छन्ति नित्यश ।
चित्ते च तस्य सौख्यस्य न किंचित्प्रतिम सुखम् ॥१९॥

अन्वय —यस्य भवने नित्यश सुहृद समागच्छन्ति, तस्य चित्ते च (अनुभूयमानस्य) सौख्यस्य किंचित् सुखम् प्रतिमम् न (अस्ति) ।

स० टी० —यस्य जनस्य भवने सदने नित्यश सवदा सुहृद मित्राणि समागच्छन्ति समागमन कुर्वन्ति, तस्य जनस्य चित्ते हृदये च अनुभूयमानस्य सौख्यस्य सुखस्य किंचित् अ यत् किमपि सुखम् प्रतिम उपमानम् सदृशमित्यर्थ न अस्ति ।

शब्दार्थ —प्रतिमम्=उपमान, सदृश ।

हि० अनु० —जिस व्यक्ति के घर मे सर्वदा सुहृद आते रहते है, उसके हृदय मे जो सुख अनुभूत होता है, उसके समान अन्य कोई सुख नहीं होता है ।

अथ चित्रग्रीव सपरिवार पाशबद्धमालोक्य हिरण्यक सविषादमिदमाह—भो , किमेतत् । स आह—'भो , जानन्नपि किं पृच्छसि । उक्त च यत —

हि० अनु ०—तब चित्रग्रीव को सपरिवार जाल मे बंधा देखकर हिरण्यक दु ख के साथ यह बोला—'अरे ! यह क्या । वह (चित्रग्रीव) बोला— अरे ! जानते हुए भी क्या पूछते हो, क्योकि कहा भी है—

यस्माच्च येन च यदा च यथा च यच्च,
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म,
तस्माच्च तेन च तदा च तथा च तच्च,
तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति ॥२०॥

अन्वय—(सीधा व स्पष्ट है)।

स० टी०—यस्मात् यस्माद्धेतो च येन येन जनेन च यदा यस्मिन् काले च येन प्रकारेण च यत् यद् विशिष्ट कर्म च यावत् यत्परिमाणक च यत्र यस्मिन् स्थाने च शुभाशुभ सदसत् आत्मकर्म स्वकीयं कर्म भवति, तस्मात् तस्मादेव हेतो च तेन तेनैव जनेन च तदा तस्मिन्नेव काले च तथा तेनैव प्रकारेण च तत् तदनुरूपमेव च फलम् तावत् तत्परिमाणकमेव च तत्र तस्मिन्नेव स्थाने च कृतान्तवशात् फलदातृयमवशाद् उपैति प्राप्नोति।

समास—शुभाशुभम्=शुभ च अशुभ च, अनयो समाहार (समाहार द्वन्द्व)। आत्मकर्म=आत्मन कर्म (तत्पु०)।

व्या०—उपैति='उप' पूर्वक 'इण्' (इ) धातु, लट्, प्र० पु०, एक०।

शब्दार्थ—कृतान्तवशात्=फलदाता यम के वश (नियन्त्रण) से।

हि० अनु०—जिस हेतु से, जिस व्यक्ति के द्वारा या सग से, जब, जिस प्रकार जो, जितना और जहाँ अपना शुभ या अशुभ कर्म होता है, उसी हेतु से, उसी व्यक्ति के द्वारा या सग से, तभी, उसी प्रकार, वही, उतना ही, और वहीं (जीव) फलदाता यम के नियन्त्रण से फल प्राप्त करता है।

तत्प्राप्त मयैतद्बन्धन जिह्वालौल्यात्। सांप्रत त्व सत्वर पाशविमोक्ष कुरु।' तदाकर्ण्य हिरण्यक प्राह—

हि० अनु०—सो मैंने यह बन्धन जिह्वा की चपलता के कारण प्राप्त किया है। अब तुम शीघ्र ही पाशमोचन करो अर्थात् बन्धन से छुटकारा दिलाओ।' यह सुन कर हिरण्यक बोला—

अर्धार्धाद्योजनशतादामिष वीक्षते खग।
सोऽपि पार्श्वस्थित दैवाद् बन्धन न च पश्यति ॥२१॥

अन्वय—खग अर्धार्धात् योजनशतात् आमिषम् वीक्षते, स अपि दैवात् पार्श्वस्थितम् बन्धनम् न पश्यति।

स० टी० —खग पक्षी अर्धार्धाद् अर्धाद् अर्धाद् अर्धस्य अर्धात् चतुर्थांशाद् वा योजनशतात् क्रोशचतुशतकाद् आमिषम् मासम् वीक्षते पश्यति स एतादृश पक्षी अपि दैवाद् दैवयोगाद् भाग्यवशात् पार्श्वस्थितम् समीपवर्ति बन्धनम् न पश्यति अवलोकते ।

समास —अर्धार्धात्=अधमअर्धम् तस्मात, अथवा—अधस्य अधम् तस्मात् (तत्पु०) । योजनशतात्=योजनानाम् शतम् तस्मात् (तत्पु०) । पार्श्वस्थितम्=पार्श्वे स्थितम् (तत्पु०) ।

व्या —वीक्षते='वि' पूर्वक 'ईक्ष्' धातु, लट, प्र० पु० एक० ।

शब्दार्थ —अर्धार्धात्=आधे आधे से अथवा—आधे के आधे अर्थात् चतुर्थांश से । आमिषम्=मास । वीक्षते=देख लेता है । पार्श्वस्थितम्= पास मे स्थित । योजनशतात्=सौ योजन अर्थात् चार सौ कोस मे ।

हि० अनु० —पक्षी आधे आधे अथवा चतुर्थांश योजन शत (पचास या पच्चीस योजन) मे मास देख लेता है, किन्तु वह भी दैवयोग से पास मे स्थित अपने बन्धन को नही देख पाता है ।

तथा च ।

हि० अनु० —और भी ।

रविनिशाकरयोर्ग्रहपीडनम्,
गजभुजङ्गविहगमबन्धनम् ।
मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रताम्,
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥२२॥

अन्वय —रविनिशाकरयो ग्रहपीडनम् गजभुजङ्गविहङ्गमबन्धनम् मतिमताम् दरिद्रताम् च निरीक्ष्य अहो विधि बलवान् इति मे मति (भवति) ।

स० टी० —रविनिशाकरयो सूर्यचन्द्रयो ग्रहपीडनम् राहुकेतुप्रभृतिभि ग्रहै ग्रहणम् गजभुजङ्गविहङ्गमबन्धनम् हस्तिना सर्पाणा पक्षिणा च नियन्त्रणम् मतिमताम् बुद्धिमताम् दारिद्रताम् धनहीनताम विलोक्य दृष्ट्वा अहो विधि विधाता

भाग्य वा बलवान् प्रबल इति इत्थम् मे मम मनि बुद्धि धारणा वा भवतीति शेष ।

समास —रविनिशाकरयो =रविश्च निशाकरश्च तयो (द्वन्द्व)। ग्रहपीडनम् =ग्रहै पीडनम् (तत्पु०)। गजभुजङ्गविहगमबन्धनम्=गजाश्च विहङ्गमाश्च (द्वन्द्व), तेषा बन्धनम् (तत्पु०)।

व्या०—पीडनम्=पीड्+ल्युट् (यु=अन)। बन्धनम्=बन्ध्+ल्युट् (यु=अन)। मतिमताम् मति+मतुप् (मत्)। निरीक्ष्य=निर्+ईक्ष्+क्त्वा (ल्यप्=य) दरिद्रताम्=दरिद्र+तल् (त)+टाप् (आ)। बलवान्=बल+मतुप् (मत्=वत्)। मे='मम' का वैकल्पिक रूप।

शब्दार्थ —निरीक्ष्य=देख कर।

हि० अनु०.—सूय और चन्द्र का अन्य ग्रहों के द्वारा ग्रहण रूप पीडन, हाथी, सप एव पक्षियो का बन्धन और बुद्धिमानो की दरिद्रता देखकर विधि ही बलवान् है, ऐसी मेरी धारणा होती है।

तथा च।

हि० अनु०—और भी।

> व्योमैकान्तविचारिणोऽपि विहगा सम्प्राप्नुवन्त्यापदम्,
> बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मीना समुद्रादपि।
> दुर्नीत किमिहास्ति किं च सुकृत क स्थानलाभे गुण,
> काल सर्वजनान् प्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥२३॥

अन्वय —व्योमैकान्तविचारिण अपि विहगा आपदम् सम्प्राप्नुवन्ति, मीना निपुणै अगाधसलिलात् समुद्रात् अपि बध्यन्ते, इह किम् दुर्नीतम् अस्ति, किम् च सुकृतम् (अस्ति), स्थानलाभे क गुण (अस्ति), प्रसारितकर काल सवजनान् दूरात् अपि गृह्णाति।

स० टी० —व्योमैकान्तविचारिण आकाशस्य एकान्तप्रदेशे विचरण कुर्वन्त अपि विहगा पक्षिण आपदम् विपत्तिम् सम्प्राप्नुवन्ति लभन्ते, मीना मत्स्या निपुणै कुशलै जनै अगाधसलिलात् असीमजलात् समुद्रात् सागरात् अपि बध्यन्ते गृह्यन्ते, इह अस्मिन् जगति किम् दुर्नीतम् दुष्कृत विवेकहीनतया वा

कृत कार्यम्, किम् च सुकृतम् पुण्य समीचीनतया वा कृत कार्यम् अस्ति, स्थान-लाभे समुचितस्थानस्य पदस्य वा प्राप्तौ क गुण उपयोगिता (अस्ति), प्रसारितकर विस्तृताधिकार कालः समय मृत्युर्वा सर्वजनान् सकलान् प्राणिन. दूरात् विप्रकृष्टाद् अपि गृह्णाति ग्रहण करोति ।

समास — व्योमैकान्तविचारिण = व्योम्न एकान्तम् (तत्पु०), तस्मिन् विचरन्ति (उपपदतत्पु०) । प्रसारितकर = प्रसारिता करा यस्य सः (बहु०) ।

व्या — व्योमैकान्तविचारिण = व्योमैकान्त + वि + चर् + णिनि (इन्) । बध्यन्ते = 'बन्ध्' धातु, कर्मवाच्य, लट्, प्र० पु०, बहुव० । दुर्णीतम् = दुर् + नी + क्त (त) । सुकृतम् = सु + कृ + क्त (त) ।

शब्दार्थ — व्योमैकान्तविचारिण = आकाश के एकान्त प्रदेश मे विचरण करने वाले । बध्यन्ते = बाँधे जाते हैं, पकडे जाते हैं । दुर्णीतम् = बुरा कार्य, नीति के विपरीत कार्य । सुकृतम् = अच्छा कार्य, नीति के अनुकूल काय । प्रसारितकर = फैलाए हुए हाथो वाला ।

हि० अनु० — आकाश के एकान्त प्रदेश मे विचरण करने वाले भी पक्षी सकट प्राप्त करते हैं, मत्स्य (मच्छ) कुशल व्यक्तियो के द्वारा अथाह जल वाले समुद्र से भी पकड लिए जाते हैं । (वस्तुत) इस जगत् मे कौनसा कार्य नीति के विपरीत और कौनसा रीति के अनुकूल है तथा समुचित स्थान या पद की प्राप्ति म भी क्या लाभ है (क्योकि) फैलाए हुए हाथों वाला काल सभी प्राणियो को दूर से भी पकड लेता है ।

एवमुक्त्वा चित्रग्रीवस्य पाश छेत्तुमुद्यत स तमाह—'भद्र, मा मैवं कुरु । प्रथम मम भृत्याना पाशच्छेद कुरु । तदनु ममापि च ।' तच्छ्रुत्वा कुपितो हिरण्यक प्राह—'भो , न युक्तमुक्त भवता । यत स्वामिनोऽनन्तर भृत्या ।' स आह—भद्र, मा मैव वद । मदाश्रया सर्व एते वराका । अपर स्वकुटुम्ब परित्यज्य समागता । तत्कथमेतावन्मात्रमपि समान न करोमि । उक्त च—

व्या० — छेत्तुम् = छिदिर (छिद्) + तुमुन (तुम्) । उक्तम् = ब्रू (वच्) + क्त (त), धातु के 'व्' को 'उ' सम्प्रसारण । परित्यज्य = परि + त्यज् + क्त्वा (ल्यप् = य) ।

शब्दार्थ.—छेत्तुम्=काटने को। उद्यतम्=तैय्यार। वराका.=बेचारे। परित्यज्य=छोड़कर। एतावन्मात्रम्=केवल इतना।

हि० अनु०—ऐसा कहकर चित्रग्रीव के बन्धन को काटने के लिए प्रस्तुत उस (चूहे) से वह (चित्रग्रीव) बोला—'भाई ऐसा मत करो। पहले मेरे भृत्यो (सेवकों, अनुयायियो) का जाल काटो, उसके बाद मेरा भी (काटना)। यह सुनकर क्रुद्ध हो हिरण्यक बोला—'अरे! आपने ठीक नही कहा, क्योकि स्वामी के बाद ही भृत्य (आते हैं)।' वह बोला—'भाई, ऐसा मत कहो। ये सब बेचारे मेरे आश्रित हैं। दूसरे, अपने कुटुम्ब को छोडकर (मेरे साथ) आए हैं। तो क्या मैं केवल इतना भी (इनका) समान न करूँ। कहा भी है—

य समान सदा धत्ते भृत्यानां क्षितिपोऽधिकम्।
वित्ताभावेऽपि त दृष्ट्वा ते त्यजन्ति न कर्हिचित् ॥२४॥

अन्वय—य क्षितिप सदा भृत्यानाम् अधिकम् समानम् धत्ते, तम् वित्ताभावे अपि दृष्ट्वा ते कर्हिचित् न त्यजन्ति।

सं० टी०—य क्षितिप भूमिपाल सदा सर्वदा भृत्यानाम् सेवकानाम् अधिकम् पर्याप्तम् समानम् समादरम् धत्ते धारयति करोति इत्यर्थ, तम् एतादृशम् राजानम् वित्ताभावे धनाभावे अपि दृष्ट्वा अवलोक्य ते भृत्याः कर्हिचित् कदाचित् न त्यजन्ति परित्यागं कुर्वन्ति।

व्या०—धत्ते='धा' धातु, आत्मनेपद, लट्, प्र० पु०, एक०। क्षितिपः= क्षिति+पा+क (अ), धातु के 'आ' का लोप।

शब्दार्थ—धत्ते=धारण करता है, करता है। क्षितिप=राजा। वित्ताभावे=धन के अभाव मे।

हि० अनु०—जो राजा सर्वदा सेवको का अधिक समान करता है, उसको धन के अभाव की दशा मे भी देखकर वे कभी नही छोडते हैं।

तथा च।

हि० अनु०—और भी।

विश्वासः सपदां मूल तेन यूथपतिर्गज।
सिंहो मृगाधिपत्येऽपि न मृगैः परिवार्यते ॥२५॥

अन्वय —विश्वास सम्पदाम् मूलम् (अस्ति), तेन गज यूथपति (भवति), सिंह मृगाधिपत्ये अपि मृगै न परिवार्यते ।

स० टी० —विश्वास विस्रम्भ सम्पदाम् सम्पत्तीनाम् मूल कारणम् अस्ति तेन विश्वासेन गज हस्ती यूथपति स्मूहाधिपति भवति सिंह मृगेन्द्र मृगाधिपत्ये मृगराजत्वे अपि मृगै पशुभि न परिवार्यते परिवृतो भवति ।

समास —यूथपति =यूथस्य पति (तत्पु०) मृगाधिपत्ये=मृगाणाम् आधिपत्ये (तत्पु०) ।

व्या० —आधिपत्य=अधिपति+ष्यञ (य) शब्द के आदि स्वर अ को वृद्धि अन्तिम स्वर 'इ' का लोप । परिवार्यते= परि पूर्वक णिजन्त 'वृ (वार) धातु कर्मवाच्य लट् प्र० पु०, एक० ।

शब्दार्थ —परिवार्यते=आसपास घेरा जाता है ।

हि० अनु० —विश्वास सम्पत्तियो का मूल है जिस (विश्वास) के कारण हाथी यूथपति (झुण्ड का मालिक) बन जाता है किन्तु सिंह पशुओ का राजा होने पर भी पशुओ के द्वारा नही घेरा जाता है (हाथी के विषय मे यह विश्वास है कि वह नही मारेगा, अत पशु घेरे रहते हैं और वह इस प्रकार यूथपति बन जाता है कि तु यत सिंह के विषय मे ऐसा विश्वास नही है, अत पशु उसे घेरते नही अपितु उससे दूर ही रहते हैं) ।

अपर मम कदाचित् पाशच्छेद कुर्वतस्ते द तभङ्गो भवति । अथवा दुरात्मा लुब्धक समभ्येति तन्नून मम नरकपात एव । उक्त च—

हि० अनु० —दूसरे मेरा बन्धन काटते हुए कदाचित् तुम्हारा दाँत भी टूट सकता है और यदि इतने मे दुष्ट बहेलिया आगया तो निश्चय ही मेरा नरकपात (नरक मे गमन) होगा । कहा भी है—

> सदाचारेषु भृत्येषु ससीदत्सु च य प्रभु ।
> सुखी स्यान्नरक याति परत्रेह च सीदति ॥३६॥

अन्वय —(सीधा है) ।

स० टी० —सदाचारेषु सदाचारपरायणषु भृत्येषु सेवकेषु ससीदत्सु सकट

ग्रस्तेषु सत्सु य प्रभु स्वामी सुखी सुखित स्यात् स नरक निरय याति गच्छति। परत्र परलोक इह अस्मिन् लोके च सीदति दु खितो भवति।

व्या० —ससीदत्सु=सम्+पद्लृ (सद्=सीद)+शतृ (अत)।

शब्दार्थ —ससीदत्सु=दु खी या सकटग्रस्त होने पर।

हि० अनु० —सदाचारपरायण सेवको के दु खी होने पर जो स्वामी सुखी रहता है, वह नरक को जाता है और परलोक तथा इस लोक मे दु खी होता है।

तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टो हिरण्यक प्राह—'भो, वेद्म्यह राजधर्मम पर मया तव परीक्षा कृता। तत् सर्वेषा पूर्व पाशच्छेद करिष्यामि। भवानप्यनेन विधिना बहुकपोतपरिवारो भविष्यति। उक्त च—

हि० अनु० —यह सुनकर प्रसन्न हो हिरण्यक बोला—(अरे! मैं राजधर्म जानता हूँ। कि तु मैंने तेरी परीक्षा की थी। सो पहले अन्य सबका बन्धन काटूँगा, आप भी इस विधि से बहुत कबूतरों के परिवार वाले हो जाओगे। कहा भी हैं—

> कारुण्य सविभागश्च यस्य भृत्येसु सर्वदा।
> सभवेत्स महीपालस्त्रैलोक्यस्यापि रक्षणे ॥२७॥

अन्वय —यस्य भृत्येषु सर्वदा कारुण्यम् सविभाग च (भवति), स महीपाल त्रैलोक्यस्य अपि रक्षणे सभवेत।

स० टी० —यस्य राज्ञ भृत्येषु सर्वदा कारुण्यम करुणा सविभाग समविभाजन च भवति स महीपाल राजा त्रैलोक्यस्य लोकत्रयस्य अपि रक्षणे पालने सभवेत समर्थो भवेत्।

समास —त्रैलोक्यस्य=त्रयाणा लोकाना समाहार त्रिलोकम् (समाहार द्विगु), त्रिलोकमेव त्रैलोक्यम् (स्वार्थ मे तद्धित 'ष्यञ्') तस्य।

व्या० —सविभाग =सम्+वि+भज्+घञ् (अ)। त्रैलोक्यस्य= त्रिलोक+ष्यञ् (य)।

शब्दार्थ —सविभाग =सम एव न्यायोचित विभाजन या वितरण।

हि० अनु० —जो राजा अपने सेवको पर करुणा तथा उनके बीच मे सम

एव न्यायोचित विभाजन या वितरण करता है, वह तीनो लोको के पालन म समथ होता है।

एवमुक्त्वा सर्वेषा पाशच्छेद कृत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवमाह—'मित्र, गम्यतामधुना स्वाश्रय प्रति। भूयोऽपि व्यसने प्राप्ते समागन्तव्यम्।' इति तान् सप्रेष्य पुनरपि दुर्गं प्रविष्ट। चित्रग्रीवोऽपि सपरिवार स्वाश्रयमगमत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

व्या० —गम्यताम्=गम्लृ (गम्) धातु, भावकर्मवाच्य, लोट्, प्र० पु०, एकव०। प्राप्ते=प्र+आप्लृ (आप्)+क्त (त)। समागन्तव्यम्=सम्+आ+गम्+तव्य। सप्रेष्य=सम्+प्रेष्ट (प्रेष्)+क्त्वा (ल्यप्=य)।

शब्दार्थ—भूय=फिर। व्यसने प्राप्ते=सकट के प्राप्त होने पर। समागन्तव्यम्=आना चाहिए। सप्रेष्य—भेजकर, पठा कर, विदाकर।

हि० अनु० —ऐसा कह कर सबका बन्धन काटकर हिरण्यक चित्रग्रीव से बोला—"मित्र, अब तुम अपने निवास-स्थान को जाओ। फिर भी सकट के प्राप्त होने पर तुम्हे चला आना चाहिए।' इस प्रकार उनको विदाकर फिर भी अपने दुर्ग (बिल) मे घुस गया। चित्रग्रीव भी सपरिवार अपने आश्रय स्थान को चला गया। इसीलिए यह ठीक ही कहा जाता है—

मित्रवान् साधयत्यर्थान् दु साध्यानपि वै यत ।
तस्मान् मित्राणि कुर्वीत समानान्येव चात्मनः ॥२८॥

अन्वय—यत मित्रवान् दु साध्यान् अपि अर्थान् साधयति वै, तस्मान् च आत्मन समानानि एव मित्राणि कुर्वीत।

स० टी० —यत यस्मात् मित्रवान् मित्रयुक्तः जन दु साध्यान् दु खेन साधयितुम् शक्यान् अर्थान् कार्याणि साधयति साफल्येन निष्पादयति। तस्मात् ततश्च आत्मन स्वस्य समानानि सदृशानि एव न तु असमानानि इत्यर्थ मित्राणि सुहृद कुर्यात्।

व्या ०—मित्रवान्=मित्र+मतुप् (मत्=वत्)। दु साध्यान्=दुस्+साध्+ण्यत् (य)।

हि० अनु० —यत मित्रों से युक्त व्यक्ति कठिन (कठिनता से हो सकने वाले) कार्यों को भी सिद्ध कर लेता है, अत (प्रत्येक व्यक्ति) अपने समान ही (असमान नहीं) मित्र बनावे।

लघुपतनकोऽपि वायस सर्वं त चित्रग्रीवबन्धनमोक्षमवलोक्य विस्मितमना व्यचिन्तयत्—'अहो, बुद्धिरस्य हिरण्यकस्य शक्तिश्च दुर्गसामग्री च। तदीदृगेव विधिर्विहङ्गानां बन्धनमोक्षात्मक। अह च न कस्यचिद् विश्वसिमि चलप्रकृतिश्च। तथाप्येन मित्र करोमि। उक्त च—

समास —चित्रग्रीवबन्धनमोक्षम्=बन्धनम् च मोक्ष च तयो समाहार बन्धनमोक्षम् (समाहार द्वन्द्व), चित्रग्रीवस्य बन्धनमोक्षम् (तत्पु०)। विस्मितमना =विस्मितम् मन· यस्य स (बहु०)। बन्धनमोक्षात्मक =बन्धनस्य मोक्ष· (तत्पु०), स आत्मा यस्य स (बहु०) चलप्रकृति =चला प्रकृति यस्य स (बहु०)।

व्या० —अवलोक्य=अव+लोक्+क्त्वा (ल्यप्)। विश्वसिमि='वि + पूर्वक 'श्वस्' धातु, लट्, उ० पु०, एक०।

शब्दार्थ —चित्रग्रीवबन्धनमोक्षम्=चित्रग्रीव का बन्धन और छुटकारा। ईदृग् एव=ऐसा ही बन्धनमोक्षात्मक =जिसका स्वरूप बन्धन का मोक्ष है, बन्धन के मोक्ष का। विश्वसिमि=विश्वास करता हूँ। चलप्रकृति =चचल स्वभाव वाला।

हि० अनु० —लघुपतनक कौआ भी चित्रग्रीव के उस सब बन्धन और छुटकारे को देखकर चकित हो सोचने लगा—'अरे, इस हिरण्यक की बुद्धि, शक्ति और दुर्गसामग्री (बिल रूपी दुर्ग) कैसी (आश्चर्यजनक) है। अच्छा! पक्षियों के बन्धन के मोक्ष का ऐसा ही तरीका (होना चाहिए)। मैं तो किसी का विश्वास नहीं करता हूँ और चचल स्वभाव वाला हूँ, फिर भी इसको मित्र बनाऊँ, कहा भी है—

> अपि सपूर्णतायुक्तै. कर्तव्याः सुहृदो बुधै.।
> नदीशः परिपूर्णोऽपि चन्द्रोदयमपेक्षते ॥२६॥

अन्वय —सपूर्णतायुक्तै अपि बुधै सुहृद कर्त्तव्या, नदीश परिपूर्ण अपि चन्द्रोदयम् अपेक्षते।

सं॰ टी॰ :—संपूर्णतायुक्तैः=सर्वसम्पन्नतासमन्वितैः अपि बुधैः विज्ञैः सुहृदः सखाय. कर्तव्याः विधेयाः, नदीशः समुद्रः परिपूर्णः सर्वविधपूर्णः अपि चन्द्रोदयम् चन्द्रस्य उदयम् अपेक्षते अपेक्षाम् करोति ।

समासः—सपूर्णतायुक्तैः—संपूर्णतया युक्ता. तैः (तत्पु॰) नदीशः=नदीनाम् ईश. (तत्पु॰) । चन्द्रोदयम्=चन्द्रस्य उदय तम् (तत्पु॰) ।

व्या॰ :—कर्तव्याः=कृ+तव्य । बुधैः=बुध्+क (अ) । अपेक्षते='अप' पूर्वक 'ईक्ष्' धातु, लट्, प्र॰ पु॰, एक॰ ।

हि॰ अनु॰ :—संपूर्णता (सर्वसम्पन्नता) से युक्त होने पर भी विज्ञ जनो (समझदार व्यक्तियो) को मित्र बनाने चाहिए (क्योकि) समुद्र परिपूर्ण होने पर भी चन्द्र के उदय की अपेक्षा (इच्छा) रखता है ।

विशेषः—यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलकार है ।

एव सप्रधाय पादपादवतीर्य बिलद्वारमाश्रित्य चित्रग्रीववच्छब्देन हिरण्यक समाहूतवान्—'एहि एहि भो हिरण्यक, एहि ।' तच्छब्द श्रुत्वा हिरण्यको व्यचिन्तयत्—'किमन्योऽपि कश्चित् कपोतो बन्धनशेषस्तिष्ठति येन मा व्याहरति ।' आह च—'भो., को भवानिति ।' स आह—'अहं लघुपतनको नाम वायस ।' तच्छ्रुत्वा विशेषादन्तर्लीनो हिरण्यक आह—'भो, द्रुत गम्यतामस्मात् स्थानात् ।' वायस आह—'अह तव पार्श्वे गुरुकार्येण समागत. । तत्किं न क्रियते मया सह दर्शनम् ।' हिरण्यक आह—'न मेऽस्ति त्वया सह सगमेन प्रयोजनम्' इति । स आह—भो, चित्रग्रीवस्य मया तव सकाशात्पाशमोक्षण दृष्टम् । तेन मम महती प्रीतिः सजाता । तत्कदाचिन्ममापि बन्धने जाते तव पार्श्वान्मुक्तिर्भविष्यति । तत्क्रियता मया सह मैत्री ।' हिरण्यक आह—'अहो, त्व भोक्ता । अह ते भोज्यभूत । तत्का त्वया सह मम मैत्री । तद्गम्यताम् । मैत्री विरोधभावात् कथम् । उक्त च—

समासः—बन्धनशेषः=बन्धनम् शेष: यस्य स. (बहु॰) ।

व्या॰ :—संप्रधार्यः=सम्+प्र+णिजन्त 'घ' (धार्)+क्त्वा (ल्यप्=य) । अवतीय=अव+तॄ+क्त्वा (ल्यप्=य) । आश्रित्य=आ+श्रि+तुक् (त्)+क्त्वा) ल्यप्=य) । समाहूतवान्=सम्+आ+ह्वे+क्तवतु (तवत्) ।

धातु के 'व्' को 'उ' सम्प्रसारण जिसे कि दीर्घ, 'ए' का पूर्वरूप। एहि=इण् (इ) धातु, लोट् प्र० पु०, एक०। व्यचिन्तयत्='वि' पूर्वक' चिति (चिन्त्) धातु, लङ्, प्र० पु०, एक०। व्याहरति='वि+आ' पूर्वक 'हृ' धातु, लट्, प्र० पु०, एक०। समागतः=सम्+आ+गम्+क्त (त), धातु के 'म्' का लोप। क्रियते='कृ' धातु, कर्मवाच्य, लट्, प्र० पु०, एक०। दृष्टम्=दृश्+क्त (त), धातु के 'श्' को 'ष्'। संजाता=सम्+जन्+क्त (त)+टाप् (आ), धातु के 'न्' को 'आ'। भोक्ता=भुज्+तृच (तृ), धातु की उपधा 'उ' को 'ओ' गुण। भोज्य=भुज्+ण्यत् (य), धातु की उपधा 'उ' को 'ओ' गुण। मैत्री=मित्र+ष्यत्र् (य), शब्द के आदि स्वर 'इ' को 'ऐ' वृद्धि, अन्तिम स्वर 'अ' का लोप=मैत्र्य+ङीप् (ई), 'य' का लोप।

शब्दार्थः—सम्प्रधार्य—विचार कर। समाहूतवान्=पुकारा, बुलाया। एहि=आओ। बन्धनशेषः=जिसका बन्धन (काटने को) अवशिष्ट (बाकी) रह गया है। व्याहरति=पुकारता है। विशेषात्=और अधिक। अन्तर्लीनः=भीतर छिपा हुआ। द्रुतम्=शीघ्र ही। गुरुकार्येण=बड़े या भारी काम से। मया सह दर्शनम्=मेरे साथ (मुझ से) साक्षात्कार (मुलाकात)। पार्श्वात्=पास से। भोक्ता=खाने वाला। भोज्यभूतः=खाद्य पदार्थ, भोजन।

हि० अनु०:—ऐसा विचार कर वृक्ष से उतर कर बिल के द्वार पर बैठ, चित्रग्रीव के समान शब्द से (कौए ने) हिरण्यक को पुकारा—'आओ-आओ, हे हिरण्यक आओ।' उस शब्द को सुनकर हिरण्यक सोचने लगा—'क्या कोई अन्य भी कबूतर ऐसा रह गया है, जिसका बन्धन (काटने से) अवशिष्ट रह गया हो, जिससे वह मुझे पुकारता है।' और बोला—'अरे! आप कौन हैं?' वह (कौआ) बोला—'मैं लघुपतनक नामक कौआ हूँ।' यह सुनकर और अधिक भीतर छिप कर हिरण्यक बोला—'अरे! शीघ्र ही इस स्थान से चले जाओ।' कौआ बोला—'मैं तेरे पास भारी कार्य से आया हूँ। तो फिर तुम मुझ से मुलाकात क्यों नहीं करते हो।' हिरण्यक बोला—'तुमसे मिलने से मुझे कोई प्रयोजन नहीं

है।' वह बोला—'देखो! मैंने तुम्हारे द्वारा चित्रग्रीव के बन्धन का मोक्ष (छुटकारा) देखा है, इससे (तुम्हारे प्रति) मेरी बडी प्रीति हो गई है, क्योंकि कभी मेरा भी बन्धन होने पर तुम्हारे द्वारा (मेरा) छुटकारा हो सकेगा। अत मेरे साथ मित्रता कीजिए। हिरण्यक बोला—'अरे! तुम भोक्ता (खाने वाले) हो और मैं तुम्हारा भोज्य (खाद्य या भोजन) हूँ। सो तेरे साथ मेरी कैसी मित्रता! अत चले जाओ। विरोध होने के कारण मित्रता क्यो कर (हो सकती है)। कहा भी है—

ययोरेव सम वित्त ययोरेव सम कुलम्।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥३०॥

अन्वय—(सीधा है)।

स० टी०—ययोः जनयो एव सम समान वित्त धन ययो जनयो एव सम कुलम् वश, तयो जनयो एव मैत्री मित्रता विवाह विवाहसम्बन्ध च स्यात्, पुष्टविपुष्टयो सबलदुर्बलयो प्रबलाधिकप्रबलयोर्वा तु न स्यादिति शेष।

समास—पुष्टविपुष्टयो = पुष्टश्च विपुष्टश्च तयो (द्वन्द्व)।

व्या०—पुष्ट = पुष् + क्त (त)। विपुष्ट = वि + पुष् + क्त (त)।

शब्दार्थ—पुष्टविपुष्टयो = सबल और दुबल का, अथवा—प्रबल और अधिक प्रबल का।

हि० अनु०—जिन व्यक्तियो का समान धन और समान कुल हो, उन्ही की मित्रता और विवाह होना चाहिए, सबल और दुबल का या प्रबल और अधिक प्रबल का अर्थात् असमान व्यक्तियो का नही होना चाहिए।

तथा च।

हि० अनु०—और भी।

यो मित्र कुरुते मूढ आत्मनोऽसदृश कुधी।
हीन वाप्यधिक वापि हास्यता यात्यसौ जन ॥३१॥

अन्वय—य मूढ कुधी आत्मन असदृशम् हीनम् अधिकम् वा अपि मित्रम् कुरुते, असौ जन हास्यताम् याति।

स६ टी० —य मूढ मूख कुधी दुर्बुद्धि आत्मन स्वस्य असदृशम् असमानम् हीनम् निकृष्टम् अधिकम् उत्कृष्टम् वा अपि मित्रम् सखायम् कुरुते विदधाति, असौ स जन पुरुष हास्यताम् उपहासपात्रताम् याति प्राप्नोति ।

समास —कुधी =कुत्सिता धी यस्य स (बहु०) ।

व्या —हास्यताम=हस्+ण्यत् (य), धातु की उपधा 'अ' को 'आ' वृद्धि ।

शब्दार्थ —कुधी =दुबु द्धि ।

हि० अनु० —जो मूख और दुबु द्धि व्यक्ति अपने असमान को, (अपने से) निकृष्ट या उत्कृष्ट को मित्र बनाता है, वह व्यक्ति उपहास का पात्र बनता है ।

तद्गम्यताम् इति । वायम आह—'भो हिरण्यक, एषोऽह तत्र दुर्गद्वार उपविष्ट । यदि त्व मैत्री न करोषि ततोऽह प्राणमोक्षण तवाग्र करिष्यामि, अथवा प्रायोपवेशन मे स्यात् इति । हिरण्यक आह—'भो ! त्वया वैरिणा सह कथ मैत्री करामि ।' उक्त च—

शब्दार्थ —प्रायोपवेशनम=उपवास, अनशन ।

हि० अनु० —सो जाओ ।' कौआ बोला—'हे हिरण्यक, यह मैं तेरे दुग (बिल) के द्वार पर बैठा हूँ । यदि तू मित्रता नही करता है ता मैं तेरे आगे प्राण छोड दूँगा, अथवा मरा अनशन हो होगा ।' हिरण्यक बोला—'अरे ! तुझ शत्रु के साथ मैं कैसे मित्रता करूँ । कहा भी है —

वैरिणा न हि सदध्यात् सुश्लिष्टेनापि सधिना ।
सुतप्तमपि पानीय शमयत्येव पावकम् ॥३२॥

अन्वय —सुश्लिष्टेन अपि सधिना वैरिणा न हि सदध्यात्, (यतो हि) सुतप्तम् अपि पानीयम् पावकम् शमयति एव ।

स० टी० —सुश्लिष्टेन सम्यक् सघटितन सधिना सन्धिकार्येण अपि वैरिणा शत्रुणा न हि सदध्यात् मैत्रीभाव कुर्यात्, यतोहि सुतप्तम् अतीव तप्तम् अपि पानीयम् जलम् पावकम् अग्निम् शमयति शान्त करोति एव ।

समास —सुश्लिष्टेन=सुतराम् श्लिष्ट तन (तत्पु०) सुतप्तम्=सुतराम् तप्तम् (तत्पु०) ।

व्या —सुश्लिष्टेन=सु+श्लिष्+क्त (त)। सन्धिना=सम्+धा+कि (इ), धातु के 'आ' का लोप। सुतप्तम=सु+तप्+क्त (त)। सदध्यात्= 'सम्' पूर्वक 'धा' धातु, लिङ्, प्र० पु०, एक०।

शब्दार्थ —सुश्लिष्टेन=अच्छी तरह बाँधी हुई से।

हि० अनु० —अच्छी तरह बाँधी हुई सन्धि के द्वारा भी शत्रु के साथ समझौता (सुलह, मेल) न करे, (क्योंकि) खूब तपा हुआ जल भी अग्नि को बुझाता ही है।

विशेष —यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

वायस आह—'भो, त्वया सह दर्शनमपि नास्ति कुतो वैरम्। तत्किमनुचित वदसि।' हिरण्यक आह—'द्विविध वैर भवति। सहज कृत्रिम च। तत्सहजवैरी त्वमस्माकम्। उक्त च—

हि० अनु० —कौआ बोला—'अरे! तेरे साथ साक्षात्कार भी नहीं हुआ, फिर वैर कैसे? सो क्यों अनुचित (बात) कहते हो।' हिरण्यक बोला—'वैर दो प्रकार का होता है—सहज या स्वाभाविक और कृत्रिम या बनाया हुआ। सो तू हमारा स्वाभाविक शत्रु है। कहा भी है—

कृत्रिम नाशमभ्येति वैर द्राक् कृत्रिमैर्गुणैः।
प्राणदान विना वैर सहज याति न क्षयम् ॥३३॥

अन्वय —कृत्रिमम् वैरम् कृत्रिमैः गुणैः द्राक् नाशम् अभ्येति (किन्तु) सहजम् वैरम् प्राणदानम् विना क्षयम् न याति।

स० टी० —कृत्रिमम् क्रियया निर्वृत्तम् वैरम् शात्रवम् कृत्रिमैः क्रियया निर्वृत्तैः गुणैः नाशम् क्षयम् अभ्येति प्राप्नोति, किन्तु सहजम् सहजात स्वाभाविकम् वैर शत्रुता प्राणदानम् जीवनान्तम् विना क्षयम् नाशम् न याति गच्छति।

व्या —कृत्रिमम्=कृ+क्री (क्त्रि)+मप् (म)।

शब्दार्थ —कृत्रिमम्=क्रिया से निष्पादित, बनाया हुआ, बनावटी। द्राक्=शीघ्र।

हि० अनु०:—कृत्रिम वैर कृत्रिम (परोपकार आदि) गुणों से शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, किन्तु सहज वैर जीवन के अन्त के बिना नष्ट नहीं होता।

वायस आह—'ओः द्विविधस्य वैरस्य लक्षणं श्रोतुमिच्छामि। तत्कथ्यताम्।' हिरण्यक आह—'भोः, कारणेन निर्वृत्तं कृत्रिमम्। तत्तदर्होपकारकरणाद् गच्छति। स्वाभाविकं पुनः कथमपि न गच्छति। तद्यथा—'नकुलसर्पाणाम्, शष्पभुङ्नखायुधानाम्, जलवह्न्योः, देवदैत्यानाम्, सारमेयमार्जाराणाम्, ईश्वर-दरिद्राणाम्, सपत्नीनाम्, सिंहगजानाम्, लुब्धकहरिणानाम्, श्रोत्रियभ्रष्ट-क्रियाणाम्, मूर्खपण्डितानाम्, पतिव्रताकुलटानाम्, सज्जनदुर्जनानाम्। न कश्चित्केनापि व्यापादितः, तथापि प्राणान् संतापयन्ति।' वायस आह—भो! अकारणमेतत्। श्रूयतां मे वचनम्।

समासः—तदर्होपकारकरणात्=तस्य अर्हः तदर्हः (तत्पु०), स च असौ उपकारः (कर्मधा०), तस्य करणं तस्मात् (तत्पु०)। नकुलसर्पाणाम्=नकुलाश्च सर्पाश्च तेषाम् (द्वन्द्व) (इसी प्रकार यहाँ से लेकर 'सज्जनदुर्जनानाम्' तक 'द्वन्द्व' समास है)।

व्या०—निर्वृत्तम्=निर्+वृत्+क्त (त)। उपकार=उप+कृ+घञ् (अ), धातु की 'ऋ' को 'आर्' वृद्धि। करण=कृ+ल्युट् (यु=अन), धातु की 'ऋ' को 'अर्' गुण। स्वाभाविकम्=स्वभाव+ठक् (ठ=इक), शब्द के आदि स्वर 'अ' को 'आ' वृद्धि, अन्तिम स्वर 'अ' का लोप। व्यापादित=वि+आ+णिजन्त 'पद्' (पाद्)+इट् (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थ—द्विविधस्य=दो प्रकार के। निर्वृत्तम्=निष्पन्न, निष्पादित, किया या बनाया हुआ। तदर्होपकारकरणात्=तदनुकूल उपकार के करने से। नकुलसर्पाणाम्=नेवला और सर्पों का। शष्पभुङ्नखायुधानाम्=घास खाने वाले और नाखून रूपी शस्त्र वालों का। सारमेयमार्जाराणाम्=कुत्ता और बिलावों का। ईश्वरदरिद्राणाम्=अमीर और गरीबों का। सपत्नीनाम्=सौतों का। लुब्धकहरिणानाम्=बहेलियों और हरिनों का। श्रोत्रियभ्रष्टक्रियाणाम्=वेद पाठी और भ्रष्ट आचरण वालों का। कुलटा=व्यभिचारिणी।

व्यापादित =मारा, मार डाला। संतापयन्ति=संतप्त करते हैं, संताप या दुःख देते हैं।

हि० अनु०:—कौआ बोला—'महोदय, दो प्रकार के वैर का लक्षण सुनना चाहता हूँ। सो कहिएगा।' हिरण्यक बोला—'महोदय, किसी कारण से निष्पन्न (पैदा हुआ) कृत्रिम होता है, वह तदनुकूल उपकार के करने से समाप्त हो जाता है। किन्तु स्वाभाविक (वैर) किसी प्रकार भी समाप्त नहीं होता है। जैसे कि—नेवला और सर्पों का, घास या अन्य खाने वाले और नाखून रूपी शस्त्र वालों का, जल और अग्नि का, देव और दैत्यों का, कुत्ता और बिलावों का, अमीर और गरीबों का, सौतों का, सिंह और हाथियों का, बहेलियों और हरिनों का, वेदपाठी और भ्रष्ट आचरण वालों का, मूर्ख और पण्डितों का, पतिव्रता और व्यभिचारिणी स्त्रियों का, तथा सज्जन और दुर्जनों का (वैर कभी समाप्त नहीं होता)। (यद्यपि) किसी न कोई मार नहीं डाला है, किन्तु प्राणों को दुःख देते हैं।' कौआ बोला—'महोदय, यह अकारण है। मेरा वचन सुनो।

कारणान्मित्रतां याति कारणादेति शत्रुताम्।
तस्मान्मित्रत्वमेवात्र योज्यं वैरं न धीमता ॥३४॥

अन्वय—(सब) कारणात् मित्रताम् याति कारणात् शत्रुताम् एति, तस्मात् अत्र धीमता मित्रत्वम् एव योज्यम् वैरम् न (योज्यम्)।

स० टी०—सर्वोऽपि जनः कारणात् कस्मादपि हेतोः मित्रताम् मैत्रीम् याति प्राप्नोति, कारणाद् हेतोरेव शत्रुताम् वैरम् एति प्राप्नोति। तस्मादत एव अत्र जगति धीमता बुद्धिमता मित्रत्वम् सखित्वम् एव योज्यम् योजनीयं करणीयमित्यर्थः, वैरम् शात्रवम् न योज्यम् करणीयम्।

व्या०—धीमता=धी+मतुप् (मत्)। योज्यम्=युज्+ण्यत् (य), धातु की उपधा 'उ' को 'ओ' गुण।

शब्दार्थ—धीमता=बुद्धिमान् के द्वारा।

हि० अ०—सब कोई किसी कारण से ही मित्रता प्राप्त करता है और

कारण से ही शत्रुता प्राप्त करता है। अत: इस जगत् में बुद्धिमान् को मित्रता ही जोड़नी चाहिए। वैर नहीं जोड़ना चाहिए।

तस्मात् कुरु मया सह समागमं मित्रधर्मार्थम्।' हिरण्यक आह—'भो:', श्रूयतां नीतिसर्वस्वम्।

हि० अनु०:—इसलिए मित्रता के लिए मेरे साथ मिलन करो।' हिरण्यक बोला'—भाई, नीति का सार सुनो।

सकृद्दुष्टमपीष्टं यः पुनः संधितुमिच्छति।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ।।३५।।

अन्वयः—यः सकृत् दुष्टम् इष्टम् अपि पुनः संधितुम् इच्छति, स मृत्युम् उपगृह्णाति यथा अश्वतरी गर्भम्।

स० टी०:—यःसकृद् एकदा दुष्टम् दोषयुक्तम् अपि इष्टम् अनुकूलम् पुनः संधितुम् समागन्तुम् इच्छति अभिलषति, स मृत्युम् मरणम् उपगृह्णाति वृणोति यथा अश्वतरी अश्वतरेण गर्भधात्रा सह संगमेन गर्भं गृहीत्वा मृत्युम् प्राप्नोति।

शब्दार्थः—अश्वतरी=खिच्चरी।

हि० अनु०:—जो एक बार दुष्ट हो चुकने वाले इष्ट (मन चाहे) से भी पुनः मिलने की इच्छा रखता है, वह मृत्यु को प्राप्त करता है, जिस प्रकार खिच्चरी गर्भधाता खिच्चर के साथ समागम करने से गर्भधारण कर मृत्यु को प्राप्त होती है।

अथवा गुणवानहम्। न मे कश्चिद् वैरयातना करिष्यति। एतदपि न संभाव्यम्। उक्तं च—

शब्दार्थः—वैरयातनाम्=वैर निभाने को, वैर के अनुकूल पीडा को। संभाव्यम्=संभावना करनी चाहिए।

हि० अनु०:—इसके अलावा, मैं गुणवान् हूँ, मुझ से कोई वैर नहीं निभाएगा, या वैर करके मुझे पीडा नहीं देगा, ऐसी भी सभावना नहीं करनी चाहिए। कहा भी है—

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम् ।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्,
अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थः तिरश्चां गुणैः ॥३६॥

अन्वयः—सिंह व्याकरणस्य कर्तुः पाणिनेः प्रियान् प्राणान् अहरत् अथ हस्ती मीमांसाकृतम् जैमिनिम् सहसा उन्ममाथ, मकरः छन्दोज्ञाननिधिम् पिङ्गलम् वेलातटे जघान, अज्ञानावृतचेतसाम् अतिरुषाम् तिरश्चाम् गुणैः कः अर्थः ।

स० टी० —सिंह मृगेन्द्र व्याकरणस्य शब्दशास्त्रस्य कर्तुः प्रणेतु पाणिनेः तन्नामकस्य मुने प्रियान् इष्टान् प्राणान् अहरत् हृतवान्, अथ च हस्ती गजः मीमांसाकृतम् मीमांसाशास्त्रकारम् जैमिनिम् मुनिम् सहसा हेलया एव उन्ममाथ हिंसितवान्, मकर नक्र छन्दोज्ञाननिधिम् छन्द शास्त्रज्ञानसागरम् पिङ्गलम् तदाख्य मुनिम् जघान हतवान्, अज्ञानावृतचेतसाम् अज्ञानातिरोहितविवेकानाम् अतिरुषाम् अतिकोपयुक्तानाम् तिरश्चाम् पशुपक्षिणाम् गुणैं अहताभि क अर्थः प्रयोजनम् ।

समास —मीमांसाकृतम्=मीमांसाम् करोति (उपपदतत्पु०) । छन्दोज्ञाननिधिम्=छन्दस ज्ञानम् (तत्पु०), तस्य निधि तम् (तत्पु०) । अज्ञानावृतचेतसाम् =अज्ञानेन आवृतम् चेत येषा तेषाम् (बहु०) ।

व्या० —कर्तुः=कृ+तृच् (तृ) मीमांसाकृतम्=मीमांसा+कृ+क्विप् (×)+तुक् (त्) जघान='हन्' धातु, लिट्, प्र० पु०, एक० ।

शब्दार्थ —अहरत्=ले लिया । मीमांसाकृतम्=मीमांसा-सूत्रों के प्रणेता । उन्ममाथ=मार डाला । जघान=मार दिया । अज्ञानावृतचेतसाम्=अज्ञान से घिरे हुए चित्त वालों का । तिरश्चाम्=पशु पक्षियों का ।

हि० अनु०:—सिंह ने व्याकरण-सूत्रों के प्रणेता पाणिनि मुनि के प्रिय प्राणों को ले लिया, और हाथी ने मीमांसासूत्रकार जैमिनि मुनि को एकदम मार डाला । मगर ने छन्दशास्त्र के ज्ञान के सागर पिङ्गल मुनि को समुद्र के तट पर मार डाला, (तो फिर) अज्ञान से तिरोहित विवेक वाले एवं अत्यन्त

क्रोध करने वाले पशुपक्षियों के गुणों से क्या लाभ या प्रयोजन है ? वायस आह—'अस्त्येतत् । तथापि श्रूयताम्—

हि॰ अनु॰ —कौआ बोला—'ऐसा तो है, फिर भी सुनो—

उपकाराच्च लोकानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां मैत्री स्याद्दर्शनात्सताम् ॥३७॥

अन्वय.—लोकानाम् उपकारात्, मृगपक्षिणाम् च निमित्तात् मूर्खाणाम् भयात् च, सताम् दर्शनात् मैत्री स्यात् ।[1]

हि॰ अनु॰ —सर्वसाधारणजनों की परस्पर उपकार से पशु पक्षियों की किसी कारण विशेष से, मूर्खों की भय और लोभ से तथा सज्जनों की दर्शन से ही मित्रता हो जाती है ।

मृद्घट इव सुखभेद्यो दुःसंधानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघट इव दुर्भेदः सुकरसन्धिश्च ॥३८॥

अन्वय—दुर्जन. मृद्घट इव सुख भेद्य दुःसन्धान च भवति, सुजन तु कनकघट इव दुर्भेद सुकरसन्धि च भवति ।

समास—मृद्घट =मृद घट (तत्पु॰)। सुखभेद्य =सुखेन भेद्य (तत्पु॰)। दुःसन्धान =दुःखेन सधातु शक्य (उपपदतत्पु॰)। कनकघट =कनकस्य घट (तत्पु॰)। दुर्भेद =दुःखेन भेत्तुं शक्य (उपपदतत्पु॰)। सुकरसन्धि =सुकर सन्धि यस्य यस्मिन् वा (बहु॰)।

व्या॰ः—भेद्य =भिद्+ण्यत् (य)। दुःसधान =दुस्+सम्+धा+युच् (यु=अन)। दुर्भेद =दुस्+भिद्+खल् (अ)।

शब्दार्थ—सुखभेद्य =सुख या सरलता से फोड़ने योग्य। दुःसधान =

1—अब तक पूर्ववर्ती श्लोकों की जो संस्कृत टीका दी गई है उसमें ऐसी टीका लिखने का अनुभव हो चुका होगा, अत अब आगे प्रत्येक श्लोक की संस्कृत टीका न देकर केवल विशिष्ट एवं अपेक्षाकृत कठिन श्लोकों की ही संस्कृत-टीका दी जावेगी।

जो दु ख या कठिनता से जोडा जा सके । दुर्भेदः=जो दु ख से फोडा जा सके । सुकरसन्धि =जो सरलता से जोडा जा सके ।

हि० अनु० —दुष्ट मिट्टी के घडे के समान सुख से अलग हो जाता है तथा कठिनता से जोडा जा सकता है किन्तु सज्जन सोने के घडे के समान कठिनता से अलग होता है तथा सरलता से जोडा जा सकता है । (दुष्टो की मित्रता कठिनता से होती है और शीघ्र ही टूट जाती है, सज्जनो की मित्रता सरलता से हो जाती है तथा कठिनता मे टूटती है) ।

इक्षोरग्रात् क्रमश. पर्वणि पर्वणि यथा रसविशेषः ।
तद्वत् सज्जनमैत्री विपरीतानां तु विपरीता ॥३९॥

अन्वय —यथा इक्षो अग्रात् क्रमश पर्वणि रसविशेष, तद्वत् सज्जनमैत्री (भवति), विपरीतानाम् तु विपरीता (भवति)

समास — रसविशेष =रसस्य विशेष (तत्पु०) । सज्जनमैत्री=सज्जनानाम् मैत्री (तत्पु) ।

शब्दार्थ —रसविशेष =रस की अधिकता । पर्वणि=गाँठ मे ।

हि० अनु० —जिस प्रकार गन्ने के अग्रभाग से (नीचे की ओर) क्रमश. प्रत्येक गाँठ मे रस की अधिकता होती है, उसी प्रकार सज्जनो की मित्रता होती है, किन्तु विपरीत अर्थात् दुजनो की मित्रता विपरीत होती है, (सज्जनो की मित्रता प्रारम्भ मे कम और बाद मे क्रमश बढती जाती है, किन्तु दुर्जनो की मित्रता प्रारम्भ मे अधिक और बाद मे क्रमश कम होती जाती है) ।

तथा च ।

हि० अनु० —और भी ।

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना,
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥४०॥

अन्वयः—खलसज्जनानाम् मैत्री दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छाया इव आरम्भगुर्वी क्रमेण क्षयिणी, पुरा लघ्वी पश्चात् च वृद्धिमती (भवति)।

स० टी०:—खलसज्जनानाम् दुर्जनसज्जनानाम् मैत्री मित्रता दिनस्य दिवसस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना पूर्वभागपरभागविभक्ता छाया इव आरम्भगुर्वी प्रारम्भे अधिका पुनः क्रमेण क्रमशः क्षयिणी ह्रासयुक्ता, पुरा पूर्वम् लघ्वी अल्पीयसी पश्चाद् अनन्तर च वृद्धिमती वृद्धियुक्ता भवतीति शेषः।

समास:—खलसज्जनानाम्=खलाश्च सज्जनाश्च तेषाम् (द्वन्द्व)। पूर्वार्धपरार्धभिन्ना=पूर्वार्धश्च परार्धश्च (द्वन्द्व), ताभ्यां भिन्ना (तत्पु०)। आरम्भगुर्वी=आरम्भे गुर्वी (तत्पु०)।

व्या०:—भिन्ना=भिद्+क्त (त)+टाप् (आ)। क्षयिणी=क्षय+इनि (इन्)+ङीप् (ई)। लघ्वी=लघु+ङीप् (ई)। वृद्धिमती=वृद्धि+मतुप् (मत्)+ङीप् (ई)।

शब्दार्थ:—पूर्वार्धपरार्धभिन्ना=मध्याह्न से पहले और बाद के काल में होने वाली भिन्न-भिन्न प्रकार की। आरम्भगुर्वी=प्रारम्भ में अधिक। क्षयिणी=घटने वाली। लघ्वी=कम। वृद्धिमती=बढ़ी हुई। पुरा=पहले।

हि० अनु०:—दुर्जन और सज्जनों की मित्रता (क्रमशः) दिन के पूर्वभाग और उत्तर भाग में होने वाली भिन्न-भिन्न प्रकार की छाया के समान प्रारम्भ में अधिक और फिर क्रम से घटने वाली तथा पहले कम और बाद में बढ़ी हुई होती है।

विशेष:—दिन के पूर्वभाग (दोपहर से पहले) में छाया पहले बढ़ी हुई और बाद में क्रम से घटने वाली होती है, उसी प्रकार दुर्जनों की मैत्री प्रारम्भ में बढ़ी हुई और बाद में क्रम से घटती जाती है, दूसरी ओर दिन के उत्तर भाग (दोपहर के बाद) में छाया पहले कम और बाद में बढ़ी हुई होती है, उसी प्रकार सज्जनों की मित्रता प्रारम्भ में कम और बाद में क्रमशः बढ़ती जाती है।

वत्सापुरहम्। उत्तरं त्वा शपथादिभिर्निर्भयं करिष्यामि। स आह—'न मेऽस्ति ते शपथैः प्रत्ययः। उक्तं च—

हि० अनु० —सो मैं साधु हूँ। दूसरे, तुमको शपथ आदि से निर्भय कर दूँगा।' वह बोला—मुझे तेरी शपथों से विश्वास नहीं होता। कहा भी है—

शपथैः सन्धितस्यापि न विश्वासं व्रजेद्रिपोः।
श्रूयते शपथं कृत्वा वृत्रः शक्रेण सूदितः ॥४१॥

अन्वय —शपथैः सन्धितस्य अपि रिपोः विश्वासम् न व्रजेत्, श्रूयते शक्रेण शपथम् कृत्वा वृत्रः सूदितः।

व्या० —सन्धितस्य=सन्धि+इतच् (इत) शब्द की अंतिम 'इ' का लोप। सूदितः=सूद्+इट (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थ —सूदितः=मारा।

हि० अनु० —शपथों से मिलाए हुए भी शत्रु का विश्वास न करे, सुना जाता है, इन्द्र ने शपथ खाकर भी वृत्रासुर को मार डाला।

न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिध्यति।
विश्वासात् त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः ॥४२॥

अन्वय —विश्वासम् विना देवानाम् अपि शत्रुः न सिध्यति, विश्वासात् त्रिदशेन्द्रेण दितेः गर्भः विदारितः।

समास —त्रिदशेन्द्रेण=त्रिदशानाम् इन्द्रः तेन (तत्पु०)।

व्या० —विदारितः=वि+णिजन्त 'दृ' (दार)+इट (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थ —त्रिदशेन्द्रेण=देवों के राजा इन्द्र ने। विदारितः=फाड डाला।

हि० अनु० —विश्वास के बिना देवों का भी शत्रु काम नहीं आता, (विश्वास करने से ही वह मारा जाता है) विश्वास के कारण देवराज इन्द्र ने दिति के गर्भ को फाड डाला।

अन्यच्च—

हि० अनु० —और भी।

बृहस्पतेरपि प्राज्ञस्तस्मान्नैवात्र विश्वसेत्।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च ॥४३॥

अन्वयः—तस्मात् यः प्राज्ञः आत्मनः वृद्धिम् आयुष्यम् च सुखानि च इच्छेत् (सः) । अत्र बृहस्पतेः अपि न विश्वसेत् ।

शब्दार्थ.—प्राज्ञ.=बुद्धिमान् । आयुष्यम्=दीर्घ जीवन ।

हि० अनु०:—इसलिए जो बुद्धिमान् व्यक्ति अपनी उन्नति, दीर्घ जीवन एव सुख चाहे, उसे इस जगत् मे बृहस्पति का भी विश्वास नही करना चाहिए ।

तथा च ।

हि० अनु०:—और भी ।

> सुसूक्ष्मेणापि रन्ध्रेण प्रविश्याभ्यन्तरं रिपुः ।
> नाशयेच्च शनैः पश्चात् प्लवं सलिलपूरवत् ॥४४॥

अन्वय.—रिपुः सुसूक्ष्मेण अपि रन्ध्रेण अभ्यन्तरम् प्रविश्य पश्चात् च शनैः सलिलपूरवत् प्लवम् नाशयेत् ।

समास—सलिलपूरवत्=सलिलस्य पूरः (तत्पु०), तेन तुल्यम् (तद्धित) ।

शब्दार्थ :—सलिलपूरवत्=जल के प्रवाह के समान । प्लवम्=नाव को। रन्ध्रेण=छिद्र से, पोल से ।

हि० अनु०.—शत्रु अति सूक्ष्म छिद्र (द्वार) से भी भीतर प्रवेश कर फिर धीरे-धीरे इस प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार जल-प्रवाह (सूक्ष्म छिद्र से प्रविष्ट हो) नौका को डुबो देता है ।

> न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत् ।
> विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥४५॥

अन्वय:—(सीधा है)

शब्दार्थ —अविश्वस्ते=अविश्वसनीय पर । निकृन्तति=काटता है ।

हि० अनु०:—अविश्वसनीय व्यक्ति पर विश्वास न करे, विश्वसनीय पर भी विश्वास न करे, (क्योंकि) विश्वस्त व्यक्ति से उत्पन्न भय जड़ों को भी काट देता है ।

विशेष:—कहीं कहीं 'विश्वस्तेऽपि न' के स्थान पर 'विश्वस्तेऽति' पाठ है, वहाँ 'विश्वसनीय पर अति विश्वास न करना चाहिए' ऐसा अर्थ करना होगा ।

न वध्यत ह्यविश्वस्तो दुर्बलोऽपि बलोत्कटै ।
विश्वस्ताश्चापि वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलै ॥४६॥

अन्वय—अविश्वस्त दुबल अपि बलोत्कटै न वध्यते हि, विश्वस्ता बलव न अपि च दुर्बलै वध्यन्ते।

समास—बलोत्कटै =बलेन उत्कटा तै (त पु०)।

व्या०—अविश्वस्त =नञ् (अ)+वि+श्वस+क्त (त)। बलवन्त = बल+मतुप (मत=वत्)।

शब्दार्थ—अविश्वस्त =विश्वास कर आश्वस्त न होने वाला। विश्वस्ता =विश्वास कर आश्वस्त होने वाले। बलोत्कटै =बल से प्रचण्डो के द्वारा।

हि० अनु०—किसी का विश्वास कर आश्वस्त न होने वाला व्यक्ति दुर्बल होने पर भी बलवानो के द्वारा नहीं मारा जाता, किन्तु विश्वास कर आश्वस्त होने वाले व्यक्ति बलवान् होने पर भी दुबल जनो के द्वारा मार दिए जाते हैं।

सुकृत्य विष्णुगुप्तस्य मित्राप्तिर्भार्गवस्य च।
बृहस्पतेरविश्वासो नीतिसन्धिस्त्रिधा स्थित ॥४७॥

अन्वय—विष्णुगुप्तस्य सुकृत्यम् भार्गवस्य च मित्राप्ति, बृहस्पते अविश्वास त्रिधा नीतिसन्धि स्थित ।

समास—मित्राप्ति =मित्राणाम् आप्ति (तत्पु०)। नीतिसन्धि = नीतियुक्त सन्धि (मध्यमपदलोपी तत्पु०)।

व्या०—स्थित =स्था+क्त (त), धातु के 'आ' का 'इ'।

शब्दार्थ—विष्णुगुप्तस्य=नीतिशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् विष्णुगुप्त (चाणक्य) का। भार्गवस्य=नीतिशास्त्र प्रणेता शुक्र का। नीतिसन्धि= नीतियुक्त सन्धि।

हि० अनु०—विष्णुगुप्त का मत है कि सुकृत्य अर्थात् अच्छे (परोपकार आदि) कार्य करना चाहिए, शुक्र का मत है कि मित्रों का संग्रह करना चाहिए,

बृहस्पति का मत है कि विश्वास नहीं करना चाहिए, इन तीन प्रकार की नीतियुक्त सन्धि मानी गई है ।

। तथा च ।

हि० अनु० —और भी ।

> महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।
> भार्यासु सुविरक्तासु तदन्तं तस्य जीवितम् ॥४८॥

अन्वय —यः महता अपि अर्थसारेण शत्रुषु सुविरक्तासु भार्यासु विश्वसिति, तस्य जीवितम् तदन्तमेव (भवति) ।

समास —अर्थसारेण=अर्थस्य सारः तेन (तत्पु०) । तदन्तम्=सः अन्तः यस्य तत् (बहु०) ।

शब्दार्थ —अर्थसारेण=धन या बातों के सार या बल से । तदन्तम्=तत्पर्यन्त ।

हि० अनु० —जो धन या बातों के बड़े भारी भी बल (अवलम्ब या भरोसे) से शत्रुओं और अपने से विरक्त पत्नियों का विश्वास करता है, उसका जीवन तत्पर्यन्त अर्थात् ऐसे विश्वास पर्यन्त ही रहता है (जैसे ही उसने विश्वास किया कि वैसे ही उसके जीवन का नाश हो जाता है) ।

तच्छ्रुत्वा लघुपतनकोऽपि निरुत्तरश्चिन्तयामास— अहो,

बुद्धिप्रागल्भ्यमस्य नीतिविषये । अथवा एतस्योपरि मैत्री पक्षपातैः । स आह—'भो हिरण्यक,

समास —निरुत्तरः=नास्ति उत्तरम् यस्य सः (बहु०) । बुद्धिप्रागल्भ्यम्=बुद्धेः प्रागल्भ्यम् (तत्पु०) । पक्षपातैः=पक्षस्य पाताः तैः (तत्पु०) ।

व्या०—प्रागल्भ्यम्=प्रगल्भ—ष्यञ् (य) शब्द के आदि स्वर 'अ' को 'आ' वृद्धि अन्तिम स्वर 'अ' का लोप ।

शब्दार्थ —बुद्धिप्रागल्भ्यम्=बुद्धिचातुर्य । पक्षपातैः=पक्ष लेने के द्वारा, तरफ कर, या तरफदारी के साथ ।

हि० अनु० —यह सुनकर लघुपतनक भी निरुत्तर हो सोचने लगा—

'अहो ! इसका नीति के विषय मे कितना बुद्धिचातुर्य है ! क्यो न हो, इसीलिए तो इस से झपट कर मैत्री (करने की इच्छा होती है)।

वह बोला—'हे हिरण्यक,

सतां साप्तपदं मैत्रमित्याहुर्विबुधा जनाः।
तस्मात्त्वं मित्रतां प्राप्तो वचनं मम तच्छृणु ॥४६॥

अन्वयः—सताम् साप्तपदम् मैत्रम् (भवति) इति विबुधाः जनाः आहुः, तस्मात् त्वम् मित्रताम् प्राप्तः, तत् मम वचनम् शृणु।

समास.—साप्तपदम्=सप्ताना पदाना समाहारः (द्विगु) सप्तपदेन निर्वत्तम् साप्तपदम्।

व्या०:—साप्तपदम्=सप्तपद+अण् (अ), शब्द के आदि स्वर 'अ' को 'आ' वृद्धि, अन्तिम स्वर 'अ' का लोप। मैत्रम्=मित्र+अण् (अ), शब्द के आदि स्वर 'इ' को 'ए' वृद्धि, अन्तिम स्वर 'अ' का लोप।

शब्दार्थः—साप्तपदम्=सात पैरो या डगो से होने वाला अर्थात् सात कदम साथ साथ चलने से होने वाला। मैत्रम्=मित्रता।

हि० अनु० —सज्जनो का साप्तपद अर्थात् सात कदम साथ-साथ चलने से होने वाली मित्रता होती है, ऐसा विद्वज्जन कहते हैं, इसलिए तुम (मेरे साथ) मित्रता को प्राप्त कर चुके हो, अब मेरा वचन सुनो।

'दुर्गस्थेनापि त्वया मया सह नित्यमेवालापो गुणदोषसुभाषितगोष्ठीकथाः सर्वदा कर्त्तव्याः यद्येव न विश्वसिषि।' तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि व्यचिन्तयत्—'विदग्धवचनोऽय दृश्यते लघुपतनकः सत्यवाक्यश्च। तद्युक्तमनेन मैत्रीकरणम्। पर कदा=चिन्मम दुर्गे चरणपातोऽपि न कार्य.। उक्तं च—

समास.—गुणदोषसुभाषितगोष्ठीकथा=गुणाश्च दोषाश्च (द्वन्द्व), तेषाम् सुभाषितानि (तत्पु०), तेषा गोष्ठ्य. (तत्पु०), तासु कथा· (तत्पु०)। विदग्धवचन. विदग्धानि वचनानि यस्य स (बहु)। सत्यवाक्य=सत्यं वाक्यम् यस्य स· (बहु०)।

व्या०:—कार्य=कृ+ण्यत् (य), धातु की 'ऋ' को 'आर्' वृद्धि।

शब्दार्थः—आलापः=बातचीत । गुणदोषसुभाषितगोष्ठीकथाः= गुणदोषविषयक सुभाषितों (अच्छी बातों) के लिए आयोजित गोष्ठियों (बैठकों) में की जाने वाली बातें। विदग्धवचनः=चतुरतापूर्ण बातें करने वाला। चरणपातः=पैर रखना।

हि० अनु०:—बिल में रहते हुए भी तुझे मेरे साथ सदा वार्तालाप और गुणदोषविषयक विभिन्न सुभाषितों के लिए आयोजित बैठकों में की जाने वाली बातें करनी चाहिए, यदि तुझे वैसे मेरा विश्वास नहीं है।' यह सुनकर हिरण्यक भी सोचने लगा—'यह लघुपतनक चतुरतापूर्ण बातें करने वाला और सत्यवादी दीखता है, सो इस के साथ मित्रता करना ठीक है, किन्तु कभी (इसके द्वारा) मेरे बिल में पैर नहीं रखना चाहिए। कहा भी है—

भीतभीतैः पुरा शत्रुर्मन्दं मन्दं विसर्पति।
भूमौ प्रहेलया पश्चात्जारहस्तोऽङ्गनास्विव ॥५०॥

अन्वय—जारहस्तः अङ्गनासु इव शत्रुः पुरा भीतभीतैः मन्दम् विसर्पति, पश्चात् भूमौ प्रहेलया (विसर्पति)।

समासः—भीतभीतैः=भीतानि च भीतानि च तैः (वीप्सा में द्वन्द्व)। जारहस्तः=जारस्य हस्तः (तत्पु०)।

शब्दार्थः—भीतभीतैः=डरते-डरते। विसर्पति=सरकता है। जारहस्तः=उपपति (यार) का हाथ। प्रहेलया=एक दम जोर से।

हि० अनु०.—जिस प्रकार उपपति का हाथ स्त्रियों के विषय में (व्यवहार करता है), उसी प्रकार शत्रु पहले तो डरते-डरते धीरे-धीरे आता है और फिर भूमि पर एक दम जोर से (झपटता है)।

तच्छ्रुत्वा वायस आह—'भद्र, एवं भवतु।'

हि० अनु:—यह सुनकर कौआ बोला—अच्छा भाई, ऐसा ही सही।

ततः प्रभृति द्वौ तावपि सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तौ तिष्ठतः। परस्परं कृतोपकारौ कालं नयतः। लघुपतनकोऽपि मांसशकलानि मेध्यानि

बलिशेषाण्यन्यानि वात्सल्याहृतानि पक्वान्नविशेषाणि हिरण्यकार्थमानयति। हिरण्यकोऽपि तण्डुलानन्यांश्च भक्ष्यविशेषांल्लघुपतनकाय रात्रावाहृत्य तत्कालायातस्यार्पयति। अथवा युज्यते द्वयोरप्येतत्। उक्तं च—

समास —सुभाषितगोष्ठीसुखम्=सुभाषितानां गोष्ठ्यः (तत्पु०), तासाम् सुखम् (तत्पु०)। कृतोपकारौ—कृत उपकारः याभ्याम् तौ (बहु०)। मांसशकलानि=मांसस्य शकलानि (तत्पु०)। बलिशेषाणि=बले शेषाणि (तत्पु०)। वात्सल्याहृतानि=वात्सल्येन आहृतानि (तत्पु०)। पक्वान्नविशेषाणि=पक्वानि च तानि अन्नानि (कर्मधा०), तेषाम् विशेषाणि (तत्पु०)।

रूप —अनुभवन्तौ=अनु+भू+शतृ (अत्)। आहृत=आ+हृ+क्त (त)। आहृत्य=आ+हृ+तुक् (त्)=क्त्वा (ल्यप्=य)। आयातस्य=आ+या+क्त (त)।

शब्दार्थ—सुभाषितगोष्ठीसुखम्=सुभाषितों के लिए आयोजित बैठकों का सुख। अनुभवन्तौ=अनुभव करते हुए, भोगते हुए। मांसशकलानि=मांस के टुकड़ों को। मेध्यानि=पवित्र पदार्थों को। बलिशेषाणि=बलि अर्थात् किसी पूजाकर्म से बचे हुए। वात्सल्याहृतानि=स्नेह के कारण लाए हुए। तत्कालायातस्य=उस समय आए हुए को।

हि० अनु० —तब से लेकर वे दोनों ही सुभाषित गोष्ठियों का सुख अनुभव करते हुए रहने लगे। परस्पर उपकार करते हुए समय व्यतीत करते थे। लघुपतनक भी मांस के टुकड़ों, किसी पूजा-कर्म से बचे हुए पवित्र पदार्थों, तथा अन्य भी स्नेहभाव के कारण लाए हुए विशिष्ट पक्वानों को हिरण्यक के लिए लाता था। हिरण्यक भी चावल तथा अन्य विशिष्ट भक्ष्य पदार्थों को लघुपतनक के लिए रात में लाकर उस समय (प्रातःकाल) आए हुए उसको देता था। दोनों का यह (व्यवहार) ठीक ही है। कहा भी है—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥५१॥

अन्वय—(सीधा है)।

शब्दार्थ —गुह्यम्=गुप्त बात, रहस्य। आख्याति=कहता है।

हि० अनु० —देता तथा लेता है, गुप्त बात कहता तथा पूछता है। और खाता तथा खिलाता है, य छ प्रकार के प्रीति के लक्षण (स्वरूप या चिह्न) हैं।

नोपकार विना प्रीति कथञ्चित्कस्यचिद् भवेत्।
उपयाचितदानेन यतो देवा अभीष्टदा ॥५२॥

अन्वय —उपकारम् विना कथञ्चित् कस्यचित् प्रीति न भवेत्, यत उपयाचितदानेन देवा अभीष्टदा (भवन्ति)।

समास —उपयाचितदानेन=उपयाचितस्य दानम् तेन (तत्पु०)।

व्या० —अभीष्टदाः=अभीष्ट+दा+क (अ), धातु के 'आ' का लोप।

शब्दार्थ —उपयाचितदानेन=अभीष्ट के दान से।

हि० अनु० —उपकार के बिना किसी प्रकार किसी की प्रीति न हो सकती है, क्योंकि (देवों को) अभीष्ट का दान करने से देव भी (अपने भक्त को) अभीष्ट का दान करते हैं।

तावत्प्रीतिर्भवेल्लोके यावद्दानं प्रदीयते।
वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा परित्यजति मातरम् ॥५३॥

अन्वय —(सीधा है)।

हि० अनु० —लोक में तब तक प्रीति होती है, जब तक दान दिया जाता है, बछड़ा दूध की समाप्ति देखकर माता को छोड़ देता है।

विशेष —यहाँ 'दृष्टान्त' अलंकार है।

पश्य दानस्य माहात्म्यं सद्यः प्रत्ययकारकम्।
यत्प्रभावादपि द्वेषी मित्रतां याति तत्क्षणात् ॥५४॥

अन्वय —सद्यः प्रत्ययकारकम् दानस्य महात्म्यम् पश्य, यत्प्रभावात् द्वेषी अपि तत्क्षणात् मित्रताम् याति।

समास —प्रत्ययकारकम्=प्रत्ययस्य कारकम् (तत्पु०)। यत्प्रभावात्=यस्य प्रभावः तस्मात् (तत्पु०)।

व्या:०—कारकम्=कृ+ण्वुल् (वु=अक)। द्वेषी=द्वेष+इनि (इन्)।

शब्दार्थ—माहात्म्यम्=महिमा को। सद्य.=शीघ्र ही। प्रत्ययकारकम्=प्रतीति परिचय या विश्वास कराने वाले को। द्वेषी=द्वेष करने वाला।

हि० अनु०:—शीघ्र विश्वास कराने वाले दान के महात्म्य (महिमा) को देखो, जिसके प्रभाव से द्वेष करने वाला भी तत्क्षण मित्र हो जाता है।

पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानम्,
मन्ये पशोरपि विवेकविवर्जितस्य।
दत्ते खले नु निखिलं खलु येन दुग्धम्,
नित्यं ददाति महिषी ससुतापि पश्य ॥५५॥

अन्वयः—पश्य, येन ससुता अपि महिषी खले दत्ते निखिलम् दुग्धम् नित्यम् ददाति, तेन विवेकविवर्जितस्य पशोः अपि दानम् पुत्राद् अपि प्रियतरम् मन्ये।

सं० टी०:—पश्य अवलोकय, येन यस्माद् हेतोः ससुता सवत्सा अपि महिषी खले तैलनिष्कासनानन्तरम् अवशिष्टे तदाख्ये तुषे दत्ते समर्पिते निखिलम् सम्पूर्णम् दुग्धम् क्षीरम् ददाति, तेन तस्माद् हेतोः विवेकविवर्जितस्य ज्ञानरहितस्य पशोः अपि दानम् प्राप्तिः पुत्रात् सुताद् अपि प्रियतरम् अभीष्टतरम् (इति अहम्) मन्ये।

समासः—विवेकविवर्जितस्य=विवेकेन विवर्जितः तस्य (तत्पु०)। ससुता=सुतेन सहिता (तत्पु०)।

व्या०:—दत्ते=दा+क्त (त), 'दा' को 'दथ्' (दत्) आदेश। प्रियतरम्=प्रिय+तरप् (तर)। मन्ये='मन्' धातु, लट्, उ० पु०, एक०।

शब्दार्थ—महिषी=भैंस। खले=खल (तेल निकालने के बाद बचा हुआ पशुओं का खाद्य पदार्थ) के। विवेकविवर्जितस्य=विवेकहीन को। येन=जिससे, चूँकि। तेन=इसलिए।

हि० अनु०:—देखो, चूँकि बछड़ा रखती हुई भी भैंस खल मिलने पर सम्पूर्ण दूध रोज दे देती, है, इसलिए मैं मानता हूँ कि विवेकहीन पशु को भी

दान (दान का मिलना) पुत्र से भी अधिक प्रिय है (क्योंकि भैंस खल का दान मिलने से बछड़े को छोड़कर दान देने वाले को दूध दे देती है)।

कि बहुना।

हि० अनु०:—अधिक क्या ?

प्रीतिं निरन्तरां कृत्वा दुर्भेद्यां नखमांसवत्।
मूषको वायसश्चैव गतौ कृत्रिममित्रताम् ॥५६॥

अन्वयः—निरन्तराम् नखमांसवत् दुर्भेद्याम् प्रीतिम् कृत्वा मूषकः वायसः च एव कृत्रिममित्रताम् गतौ।

समासः—निरन्तराम्=नास्ति अन्तरम् यस्याम् ताम् (बहु०)। नखमांसवत्=नखश्च मांस च (द्वन्द्व), ताभ्याम् तुल्यम् (तद्धित)। कृत्रिम-मित्रताम्=कृत्रिमा च असौ मित्रता ताम् (कर्मधा०)।

व्या:—दुर्भेद्याम्=दुस्+भिद्+ण्यत् (य) गतौ=गम्+क्त (त)।

शब्दार्थ—निरन्तराम्=व्यवधान या बाधा से रहित, निर्बाध। दुर्भेद्याम् =कठिनता से टूट सकने वाली।

हि० अनु०:—व्यवधान या बाधा से रहित और नाखून और मांस के समान दुर्भेद्य प्रीति को करके चूहा और कौआ भी (सहज शत्रु होने पर भी) कृत्रिम (परोपकार कार्यों से पैदा होने वाली) मित्रता को प्राप्त हुए।

एवं स मूषकस्तदुपकाररञ्जितस्तथा विश्वस्तो यथा तस्य पक्षमध्ये प्रविष्टस्तेन सह सदैव गोष्ठीं करोति। अथान्यस्मिन्नहनि वायसोऽश्रुपूर्णनयनः समभ्येत्य सगद्गद् तमुवाच—'भद्र हिरण्यक, विरक्तिः संजाता मे साम्प्रतं देशस्यास्योपरि तदन्यत्र यास्यामि।' हिरण्यक, आह—'भद्र, किं विरक्तेः कारणम्।' स आह—'भद्र श्रूयताम्। अत्र देशे महत्यानावृष्ट्या दुर्भिक्षं संजातम्। दुर्भिक्षत्वाज्जनो बुभुक्षापीडितः कोऽपि बलिमात्रमपि न प्रयच्छति। अपरं गृहे गृहे बुभुक्षितजनैर्विहङ्गानां बन्धनाय पाशाः प्रगुणीकृताः सन्ति। अहमप्यायुःशेषतया पाशेन बद्ध उद्धरितोऽस्मि। एतद्विरक्तेः कारणम्। तेनाहं विदेशं चलित इति बाष्पमोक्षं करोमि।' हिरण्यक आह—'अथ भवान् क्व प्रस्थितः।' स आह—'अस्ति दक्षिणापथे वनगहनमध्ये महासरः। तत्र त्वत्तोऽधिकः परमसुहृद् कूर्मो

मन्थरको नाम। स च मे मत्स्यमांसखण्डानि दास्यति। तद्भक्षणात्तेन सह सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन् सुखेन कालं नेष्यामि। नाहमत्र विहङ्गानां पाशबन्धनेन क्षयं द्रष्टुमिच्छामि। उक्तं च—

समास :—तदुपकाररञ्जित = तस्य उपकारा: (तत्पु०), तैः रञ्जित (तत्पु०)। अश्रुपूर्णनयन = अश्रुभिः पूर्णे (तत्पु०), अश्रुपूर्णे नयने यस्य सः (बहु०)। बुभुक्षापीडित = बुभुक्षया पीडित (तत्पु०) बुभुक्षितजनैः = बुभुक्षिता: च ते जना: तैः (कमधा०)। आयुःशेषतया = आयुः शेषम् यस्य स: (बहु०), तस्य भावः तया (तद्धित)। वाष्पमोक्षम् = वाष्पाणां मोक्षः तम् (तत्पु०)। दक्षिणापथे = दक्षिणा पन्थाः तस्मिन् (कमधा०)। वनगहनमध्ये = वनस्य गहनम् (तत्पु०), तस्य मध्ये (तत्पु०)। परमसुहृत् = परमः च असौ सुहृद् (कमधा०)। मत्स्यमांसखण्डानि = मत्स्यानां मांसम् (तत्पु०), तस्य खण्डानि (तत्पु०) सुभाषितगोष्ठीसुखम् = सुभाषितानाम् गोष्ठ्यः (तत्पु०)। तासां तासु वा सुखम् (तत्पु०) पाशबन्धनेन = पाशैः बन्धनम् तेन (तत्पु०)।

व्या० —रञ्जित — रञ्ज् + इट् (इ) + क्त (त)। समभ्येत्य = सम् + अभि + आ + इण् (इ) + तुक् (त) + क्त्वा (ल्यप = य)। विरक्ति = वि + रञ्ज् + क्तिन् (ति), धातु के अनुनासिक 'ञ्' का लोप। बद्ध = बन्ध + क्त (त), धातु के अनुनासिक 'न्' का लोप, प्रत्यय के 'त' को 'ध', धातु के 'घ्' को 'द्'। प्रस्थित = प्र + स्था + क्त (त), धातु के 'आ' को 'इ'। अनुभवन् = अनु + भू + शतृ (अत्)। नेष्यामि = णीञ् (नी) धातु, लृट उ० पु०, एक०। द्रष्टुम् = दृशिर् (दृश्) + तुमुन् (तुम्), धातु की 'ऋ' और 'श्' के बीच में 'अम्' (अ) का आगम, धातु के 'श्' को 'ष्'।

शब्दार्थ —तदुपकाररञ्जितः = उसके उपकारों से (उसके प्रति) अनुरक्त। पक्षमध्ये = पक्ष (ओर) में। अहनि = दिन में। समभ्येत्य = पास आकर। सगद्गदम् = गद्गद होने के साथ। विरक्ति = वैराग्य, अरुचि, मन का न लगना। साम्प्रतम् = इस समय। अन्यत्र = और जगह। यास्यामि = जाऊँगा। अनावृष्ट्या = अनावृष्टि (वर्षा के अभाव) से। दुर्भिक्षम् = अकाल। बलिमात्रम् = बलि (पूजाकम) का ग्रास मात्र। प्रयच्छति = देता है। प्रगुणीकृताः = कई गुने

किए हुए, बढ़ाए हुए। आयुःशेषतया=जीवन के अवशिष्ट होने के कारण। उद्धरितः=मुक्त, छूटा हुआ। वाष्पमोक्षम्=अश्रुमोचन को, रोने को। प्रस्थितः=चल दिए। दक्षिणापथे=दक्षिण प्रदेश में, दक्षिण की ओर जाने वाले मार्ग में। वनगहनमध्ये=वन के भीतरी सघन भाग के बीच में। कूर्मः=कछुवा। मत्स्यमांसखण्डानि=मछलियों के मांस के टुकड़ों को। सुभाषितगोष्ठी-सुखम्=सुभाषितों के लिए की गई बैठकों के सुख का। अनुभवन्=भोगता हुआ, अनुभव करता हुआ। पाशबन्धनेन=जालों में बँधने के द्वारा।

हि० अनु०:—इस प्रकार वह चूहा उस (कौए) के उपकारों से (उसके प्रति) अनुरक्त हो इस प्रकार उसका विश्वास करने लगा कि उसके पक्ष (ओर) में होकर उसी के साथ सदा बैठक करने लगा। इसके बाद किसी दिन कौआ रोता हुआ उसके पास आकर गद्‌गद हो उससे बोला—'भाई हिरण्यक, अब इस देश से मुझे विरक्ति हो गई है सो दूसरे स्थान पर जाऊँगा।' हिरण्यक बोला—'भाई, विरक्ति का क्या कारण है।' वह बोला—'भाई, सुनो। इस देश में बड़ी भारी अनावृष्टि (वर्षा के अभाव) के कारण दुर्भिक्ष (अकाल) पड़ गया है। दुर्भिक्ष के कारण भूख से पीड़ित हो कोई भी व्यक्ति बलि का ग्रास मात्र भी नहीं देता है। दूसरे, घर-घर में भूखे लोगों ने पक्षियों के बाँधने के लिए जाल कई गुने कर दिए हैं (बढ़ा दिए हैं)। मैं भी जाल में बँधने के बाद जीवन के अवशिष्ट होने के कारण छूट पाया हूँ। यही विरक्ति का कारण है। इससे मैं विदेश का चल दिया और इसलिए मैं रोता हूँ।' हिरण्यक बोला—'अच्छा तो आप कहाँ को चल दिए।' वह बोला—'दक्षिण-प्रदेश में वन के भीतरी सघन भाग में एक बड़ा तालाब है। वहाँ तुमसे भी अधिक मेरा घनिष्ठ मित्र मन्थरक नामक कछुवा रहता है। वह मुझे मछलियों के मांस के टुकड़े देगा। उनको खाकर, उसके साथ सुभाषित गोष्ठियों (अच्छी बातों के लिए की गई बैठकों) के सुख का अनुभव करता हुआ सुख से समय व्यतीत करूँगा। मैं यहाँ जालों में बँधने के द्वारा पक्षियों का नाश नहीं देखना चाहता हूँ। कहा भी है—

> अनावृष्टिहते देशे शस्ये च प्रलयं गते।
> धन्यास्तात न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम् ॥५७॥

अन्वय —तात देशे अनावृष्टिहते शस्य च प्रलयम् गने धन्याः देशभङ्गम् कुलक्षयम् (च) न पश्यन्ति ।

समास —अनावृष्टिहते=अनावृष्ट्या हत तस्मिन् (तत्पु०) । देशभङ्गम्=देशस्य भङ्ग तस्मिन् (तत्पु०) कुलक्षयम्=कुलस्य क्षय तस्मिन् (तत्पु०) ।

व्या० —प्रलयम्=प्र+ली+अच् (अ) । भङ्गम्=भञ्ज्+घञ् (अ) ।

शब्दार्थ —अनावृष्टिहते=वर्षा के अभाव से पीडित म । शस्ये=अनाज के, फसल के । प्रलयम्=नाश को । देशभङ्गम्=देश के भङ्ग (उजडने) को ।

हि० अनु० —हे तात, देश के वर्षा के अभाव को पीडित होने पर और अनाज के (फसल) के नष्ट होने पर धन्य जन ही देश के ऊजड होने को और कुल के नाश को नही देखते हैं ।

> कोऽतिभारः समर्थाना किं दूर व्यवसायिनाम् ।
> को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ।।५८।।

अन्वय —स्पष्ट है ।

शब्दार्थ —अतिभार =अधिक भार (बोझा) । व्यवसायिनाम्=उद्योगियो को । सविद्यानान्=विद्वानो को ।

हि० अनु० —समर्थ व्यक्तियो के लिए क्या (वस्तु) अधिक भार है, उद्योगियो को क्या (स्थान) दूर है, विद्वानो को कौन (देश) विदेश है प्रिय बोलने वालो को कौन पराया है ।

> विद्वत्त्व च नृपत्व च नैव तुल्य कदाचन ।
> स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।।५९।।

अन्वय —(स्पष्ट है) ।

हि० अनु० —विद्वत्ता और राज्य (राजत्व) कभी समान नही हो सकते, (क्योकि) राजा अपने देश मे ही पूजा जाता है, (जबकि) विद्वान् सर्वत्र पूजा जाता है ।

हिरण्यक आह—'यद्येव तदहमपि त्वया सह गमिष्यामि । ममापि महद्‌दुःख वर्तते । वायस आह—'भो , तव किं दुःखम् । तत्कथय ।' हिरण्यक आह—

'भोः, बहु वक्तव्यमस्ति अत्र विषये। तत्रैव गत्वा सर्वं सविस्तरं कथयिष्यामि।' वायस आह—'अहं तावदाकाशगतिः। तत्कथं भवतो मया सह गमनम्।' स आह—'यदि मे प्राणान् रक्षसि तदा स्वपृष्ठमारोप्य मां तत्र प्रापयिष्यसि। नान्यथा मम गतिरस्ति।' तच्छ्रुत्वा सानन्दं वायस आह—'यद्येवं तदन्योऽहं यदनवतानि सह तत्र कालं नयामि। अहं सम्पातादिकानष्टावुड्डीनगतिविशेषान् वेद्मि। तत् समारोह मम पृष्ठम्, येन सुखेन त्वा तत्सरः प्रापयामि।' हिरण्यक आह—'उड्डीनानां नामानि श्रोतुमिच्छामि।' स आह—

समासः—सविस्तरम्=विस्तरेण सहितम् (तत्पु०)। आकाशगतिः= आकाशे गतिः यस्य सः (बहु०) उड्डीनगतिविशेषान्=उड्डीनस्य गतयः (तत्पु०)। तासां विशेषाः तान् (तत्पु०)।

व्या०:—वक्तव्यम्=ब्रू या वच् (वक्)+तव्य। आरोप्य=आ+णिजन्त 'रुह्' (रोप्)+क्त्वा (ल्यप्=य)। प्रापयिष्यसि='प्र' पूर्वक णिजन्त 'आप्' धातु, लट्, म० पु०, एक०।

शब्दार्थः—वक्तव्यम्=कहना, कथनीय। आरोप्य=बैठा कर। प्रापयिष्यसि=पहुँचा दोगे। संपातादिकान्=संपात (उड़ने की चालों में से एक) आदि को। उड्डीनगतिविशेषान्=उड़ने के चालों की विभिन्न भेदों को। अकाशगति.=आकाशगामी। उड्डीनानम्=उड़ने की चालों के।

हि० अनु०:—हिरण्यक बोला—'यदि ऐसा है, तो मैं भी तेरे साथ आऊँगा। मुझे भी बड़ा भारी दुःख है।' कौआ बोला—'अरे! तुझे क्या दुःख है सो कह।' हिरण्यक बोला—'अरे! इस विषय में बहुत कहना है। वहीं जाकर सब कुछ विस्तार के साथ कहूँगा।' कौआ बोला—'मैं तो आकाशगामी हूँ, सो आपका मेरे साथ जाना कैसे होगा।' वह बोला—'यदि मेरे प्राणों की रक्षा करो तो अपनी पीठ पर बैठाकर वहाँ पहुँचाओ, दूसरी तरह मेरी गति नहीं है।' यह सुनकर कौआ आनन्द के साथ बोला—'यदि ऐसा है तो मैं धन्य हूँ और आपके भी साथ वहाँ समय व्यतीत करूँगा। मैं संपात आदि उड़ने की चालों के भेदों को जानता हूँ। सो मेरी पीठ पर बैठो, जिससे

सुखपूर्वक तुम्हे उस तालाब पर पहुँचा दूँ ।' हिरण्यक बोला—उडने की चालो के नाम सुनना चाहता हूँ । वह बोला—

सपातं विप्रपात च महापातं निपातनम् ।
वक्र तिर्यक् तथा चोर्ध्वमष्टम लघुसज्ञकम् ॥६०॥

अन्वय.—(स्पष्ट व सीधा है)

शब्दार्थः—संपातम्=(समवत.)सीधी व समगति से उडना । विप्रपातम्=(संभवतः) कुछ मुड कर या उलट कर उडना । महापातम्=(समवतः) एक दम जोर से उडना । निपातनम्=(समवतः) नीचे को गिरते हुए उड़ना । वक्रम्=टेढे उडना । तिर्यक्=तिरछे उडना । ऊर्ध्वम्=ऊपर को उडना । लघुसंज्ञकम्=लघु (सफाई या फुर्ती से उडना) नाम वाला ।

हि० अनु०.—सपात, विप्रपात, महापात, निपात, वक्र, तिर्यक्, ऊर्ध्व और आठवाँ लघु नाम वाला है ।

विशेष—उक्त संपात आदि उडने की विधियो के प्राचीन पारिभाषिक शब्द हैं, अतः इनका वास्तविक विशिष्ट स्वरूप तो इनका वर्णन करने वाले शास्त्र मे ही जाना जा सकता है । ऊपर इनका शब्दार्थ देते हुए इनके व्युत्पत्ति-लभ्य सामान्य अर्थ के आधार पर संभाव्य अर्थ ही दिया गया है ।

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकस्तत्क्षणादेव तदुपरि समारूढः । सोऽपि शनैः शनैस्तमादाय सपातोड्डीनप्रस्थितः क्रमेण सरसर प्राप्तः । ततो लघुपतनकं मूषकाधिष्ठितं विलोक्य दूरतोऽपि देशकालविदसामान्यकाकोऽयमिति ज्ञात्वा सत्वर मन्थरको जले प्रविष्ट. । लघुपतनकोऽपि तीरस्थतरुकोटरे हिरण्यक मुक्त्वा शाखाग्रमारुह्य तारस्वरेण प्रोवाच—'भो मन्थरक, आगच्छागच्छ । तव मित्रमह लघुपतनको नाम वायसश्चिरात्सोत्कण्ठ. समायातः । तदागत्यालिङ्गय माम् । उक्तं च—

समास—संपातोड्डीनप्रस्थितः=सपातं च तदुड्डीनम् (कर्मधा०), तेन प्रस्थित. (तत्पु०) । मूषकाधिष्ठितम्=मूषकेन अधिष्ठितः तम् (तत्पु०) । देशकालविद्=देशश्च कालश्च (द्वन्द्व), तौ वेत्ति (उपपदतत्पु०) असामान्यकाकः=असामान्यश्चासौ काकः (कर्मधा०) । तौ रस्थतरुकोटरे=तीरे तिष्ठति (उपपदतत्पु०), तीरस्थश्च असौ तरुः (कर्मधा०), तरोः कोटरे (तत्पु०) ।

व्या०.—समारूढ=सम्+आ+रुह्+क्त (त) आदाय=आ+दा+क्त्वा (ल्यप्=य)। अधिष्ठितम्=अधि+स्था+क्त(त)। विलोक्य=वि+लोक्+क्त्वा (ल्यप्=य) देशकालविद्=देशकाल+विद्+क्विप् (X) ज्ञात्वा=ज्ञा+क्त्वा (त्वा)। तीरस्थ=तीर+स्था+क (अ)। मुक्त्वा=मुच्+क्त्वा (त्वा)। समायात=सम्+आ+या+क्त (त)। आगत्य=आ+या+क्त (त)। आगत्य=आ+गम्+क्त्वा (ल्यप्=य)।

शब्दार्थः—तत्क्षणादेव=उसी समय, उसी क्षण। समारूढ=चढ़ गया, बैठ गया। आदाय=लेकर। संपातोड्डीनगतिरुपेत=संपात नामक उड़ने की गति से चलता हुआ। मूषकाधिष्ठितम्=चूहे से अधिष्ठित को। देशकालविद्=देश-काल को जानने वाला। असामान्यकाक=असाधारण कौआ। सत्वरम्=शीघ्र। तीरस्थतरुकोटरे=किनारे पर स्थित वृक्ष के कोटर (खोखले) में। तारस्वरेण=उच्च स्वर से। चिरात्=देर से, बहुत समय से।

हि० अनु०—यह सुनकर हिरण्यक उसी क्षण उसके ऊपर बैठ गया। वह (कौआ) भी धीरे-धीरे उसे लेकर संपात उड़्डयन-गति से चलता हुआ क्रम से उस तालाब पर पहुँचा। तब लघुपतनक को चूहे के द्वारा अधिष्ठित देखकर दूर से ही देशकाल को जानने वाला मन्थरक (नामक कछुवा) 'यह असाधारण कौआ है' यह जान कर शीघ्र ही जल में घुस गया। लघुपतनक भी किनारे पर स्थित वृक्ष के कोटर (खोखले) में हिरण्यक को रख कर शाखा के अग्रभाग पर बैठ उच्च स्वर से बोला—'हे मन्थरक, आओ आओ।' मेरा मित्र मैं लघुपतनक नामक कौआ बड़ी देर से उत्कण्ठा के साथ आया हूं। सो आकर मुझ से मिलो। कहा भी है—

> किं चन्दनैः सकर्पूरैस्तुहिनैः किं च शीतलैः ।
> सर्वे ते मित्रगात्रस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥१५॥

अन्वय—सकर्पूरैः चन्दनैः किम् शीतलैः तुहिनैः किम्। ते सर्वे मित्रगात्रस्य षोडशीं कलाम् न अर्हन्ति।

शब्दार्थः—तुहिनैः=बर्फ से, बर्फ के टुकड़ों से, हिमकणों से।

हि० अनु० —कपूर मिले हुए चन्दनो से क्या ? शीतल हिमकणो से क्या ? ये सब (शीतल पदार्थ) मित्र के शरीर के सोलहवें अश से भी (शीतलता में तुलना करने के) योग्य नही है।

तथा च।

हि० अनु० —और भी।

केनामृतमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम्।
आपदां च परित्राणं शोकसंतापभेषजम् ॥२५॥

अन्वय —आपदाम् परित्राणम् शोकसंतापभेषजम् च मित्रम् इति अक्षरद्वयम् इदम् अमृतम् केन सृष्टम्।

समास —शोकसंतापभेषजम्=शोकेन संताप (तत्पु०), तस्य भेषजम् (तत्पु०)।

व्या० —परित्राणम्=परि+त्रा+ल्युट् (यु=अन) सृष्टम्=सृज्+क्त (त)।

शब्दार्थ —परित्राणम्=रक्षक, बचाने वाला बचाव का साधन।

हि०अनु० —आपत्तियो से रक्षा करने वाला एवं शोकजन्य संताप की औषध 'मित्र' इस प्रकार का अक्षरयुगल (दो अक्षरो का जोडा) रूपी यह अमृत किस ने बनाया है ?

तच्छ्रुत्वा निपुणतरं परिज्ञाय सत्वरं सलिलान्निष्क्रम्य पुलकिततनुरानन्दाश्रुपूरितनयनो मन्थरकः प्रोवाच—'एह्येहि मित्र, आलिङ्गय माम्। चिरकालान्मया त्वं न सम्यक् परिज्ञातः तेनाहं सलिलान्तः प्रविष्टः। उक्तं च।

समास —पुलकिततनु =पुलकिता तनुः यस्य सः (बहु०) आनन्दाश्रुपूरितनयन =आनन्देन अश्रूणि (तत्पु०), तैः पूरिते नयने यस्य सः (बहु०)।

व्या —परिज्ञाय=परि+ज्ञा+क्त्वा (ल्यप्=य)। निष्क्रम्य=निस्+क्रम्+क्त्वा (ल्यप्=य)। परिज्ञात =परि+ज्ञा+क्त (त)।

शब्दार्थ —निपुणतरम्=खूब अच्छी तरह। परिज्ञाय=जान कर, पहिचान कर। निष्क्रम्य=निकल कर। पुलकिततनु =रोमाञ्चयुक्त शरीर वाला। आनन्दाश्रुपूरितनयन =आनन्दजन्य आँसुओ से पूर्ण नेत्रो वाला। चिरकालात्=बहुत समय से, बहुत समय हो जाने के कारण।

हि० अनु०:—यह सुनकर खूब अच्छी तरह पहचान कर शीघ्र ही जल से निकल कर रोमान्चयुक्त शरीर एवं खुशी के आंसुओं से भरे हुए नेत्रों के साथ मन्थरक बोला—'मित्र, आओ आओ। मुझ से मिलो। (बिना मिले) बहुत समय हो जाने के कारण मैंने तुमको अच्छी तरह नहीं पहचान पाया। अतः मैं जल के भीतर घुस गया। कहा भी है—

> यस्य न ज्ञायते वीर्यं न कुलं न विचेष्टितम्।
> न तेन संगतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥५३॥

अन्वयः—यस्य वीर्यम् न ज्ञायते, कुलम् न (ज्ञायते), विचेष्टितम् न (ज्ञायते), तेन संगतिम् न कुर्यात्, इति बृहस्पतिः उवाच।

व्या०—संगतिम्=सम्+गम्+क्तिन् (ति)। विचेष्टितम्=वि+चेष्ट्+इट् (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थ—वीर्यम्=पराक्रम। विचेष्टितम्=कार्य, चेष्टा, आचरण।

हि० अनु०:—जिसका पराक्रम, कुल एवं आचरण नहीं ज्ञात हो, उसके साथ मिलन न करे, ऐसा बृहस्पति ने कहा है।

एवमुक्ते लघुपतनकों वृक्षादवतीर्य तमालिङ्गितवान्। अथवा साध्विद-मुच्यते—

हि० अनु०.—ऐसा कहने पर लघुपतनक वृक्ष से उतर कर उन से मिला। क्यों न ऐसा हो, यह ठीक ही कहा जाता है—

> अमृतस्य प्रवाहैः किं कायक्षालनसंभवैः।
> चिरान्मित्रपरिष्वङ्गो योऽसौ मूल्यविवर्जितः ॥६४॥

अन्वयः—कायक्षालनसंभवैः अमृतस्य प्रवाहैः किम्, यः चिरात् मित्रपरिष्वङ्गः, असौ मूल्यविवर्जितः।

समासः—कायक्षालनसंभवैः=कायानां क्षालनम् (तत्पु०), तेन संभवः येषां तैः (बहु०) मित्रपरिष्वङ्ग=मित्रस्य परिष्वङ्गः। मूल्यविवर्जितः=मूल्येन विवर्जित.।

व्या०:—क्षालन=णिजन्त 'क्षल्' (क्षाल्)+ल्युट् (यु=अन)। संभवैः=

सम्+मृ+अप् (अ)। परिष्वङ्ग=परि+स्वञ्ज्+घञ् (अ)। विवर्जित — वि+णिजन्त 'वृज्' (वज्)+इट् (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थ—कायक्षालनसम्भवै—शरीरों के धोने से उत्पन्न से। मित्रपरिष्वङ्ग =मित्र का आलिंगन। मूल्यविवर्जित =मूल्यरहित, अमूल्य।

हि० अनु०—(देवों के) शरीरों के धोने से उत्पन्न होने वाले अमृत के प्रवाहों से क्या प्रयोजन, (व्यर्थ है), बहुत दिनों के बाद जो मित्र का आलिंगन होता है, वह तो अमूल्य है (अमृत मित्रालिंगन की बराबरी नहीं कर सकता)।

विशेष—मित्रालिंगन की अपेक्षा अमृत के प्रवाहों को हेय प्रदर्शित करने के लिए यहाँ 'कायक्षालनसम्भवैः' कहा गया है। इसके अतिरिक्त, भगवच्चरण का प्रक्षालन करने से भी ब्रह्मा के कमण्डल का जल अमृत हो गया, इस ओर भी यहाँ संकेत हो सकता है।

एवं द्वावपि तौ विहितालिङ्गनौ परस्परं पुलकितशरीरौ वृक्षादधः समुपविष्टौ प्रोचतुरात्मचरित्रवृत्तान्तम्। हिरण्यकोऽपि मन्थरकस्य प्रणामं कृत्वा वायसाभ्याशे समुपविष्टः। अथ तं समालोक्य मन्थरको लघुपतनकमाह—भोः कोऽयं मूषकः। कस्मात्त्वया भक्ष्यभूतोऽपि पृष्ठमारोप्यानीतः। तदत्र स्वल्पकारणेन भाव्यम्।' तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह—'भो, हिरण्यको नाम मूषकोऽयम्। मम सुहृद्द्वितीयमिव जीवितम्। तत्किं बहुना।

समास—विहितालिङ्गनौ=विहितम् आलिङ्गनम् याभ्यां तौ (बहु०)। पुलकितशरीरौ=पुलकिते शरीरे ययोः तौ (बहु०)। आत्मचरित्रवृत्तान्तम्= आत्मनः चरित्रे (तत्पु०), तयोः वृत्तान्तम् (तत्पु०)। वायसाभ्याशे=वायसस्य अभ्याशे।

व्या०—विहित=वि+धा+क्त (त), धातु को 'हि' आदेश। समुपविष्टौ=सम्+उप+विश्+क्त (त)। आनीत =आ+नी+क्त (त)। भाव्यम्=भू+ण्यत् (य)। जीवितम्=जीव्+इट् (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थ—विहितालिङ्गनौ=आलिंगन कर चुकने वाले। समुपविष्टौ=बैठे हुए। आत्मचरित्रवृत्तान्तम्=अपने चरित्रों (हाल-चालों) का वृत्तान्त। वायसाभ्याशे=कौए के पास। समुपविष्टः=बैठा, बैठ गया। समालोक्य=

देखकर। भक्ष्यभूतः=भोजन बना हुआ। भाव्यम्=होना चाहिए। जीवितम्=जीवन, प्राण।

हि० अनु०'—इस प्रकार उन दोनो ने परस्पर आलिगन कर पुलकित शरीर के साथ वृक्ष के नीचे बैठ कर अपने-अपने चरित्र (हाल-चाल) का वृत्तान्त कहा। हिरण्यक भी मन्थरक को प्रणाम कर कौए के पास बैठ गया। तब उस (चूहे) को देख कर मन्थरक लघुपतनक से बोला—'अरे! यह चूहा कौन है? तुम अपना भाजन होते हुए भी इसे पीठ पर रखकर क्यों लाए हो? सो इसमे कोई सामान्य कारण नही होना चाहिए।' यह सुनकर लघुपतनक बोला—'भाई यह हिरण्यक नाम का चूहा है, यह मेरा मित्र और दूसरे प्राण के समान है। अधिक कहने से क्या—

पर्जन्यस्य यथा धारा यथा च दिवि तारका।
सिकतारेणवो यद्वत् सख्यया परिवर्जिता ॥६५॥

गुणाः सख्यापरित्यक्तास्तद्वदस्य महात्मनः।
परं निर्वेदमापन्नः सम्प्राप्तोऽयं तवान्तिकम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—यथा पर्जन्यस्य धाराः, यथा च दिवि तारकाः, यद्वत् सिकतारेणवः सख्यया परिवर्जिताः। तद्वत् अस्य महात्मनः गुणाः सख्यापरित्यक्ताः (सन्ति), परम् निर्वेदम् आपन्नः अयम् तव अन्तिकम् सम्प्राप्तः।

समास—सिकतारेणवः=सिकतानाम् रेणवः (तत्पु०)। सख्यापरित्यक्ताः=सख्यया परित्यक्ताः (तत्पु०)। महात्मनः=महान् आत्मा यस्य तस्य (बहु०)।

व्या०—परिवर्जिताः=परि+णिजन्त 'वृज्' (वर्ज्)+इट् (इ)+क्त (त)। परित्यक्ता=परि+त्यज्+क्त (त)। आपन्न=आ+पद्+क्त (त)। सम्प्राप्त=सम्+प्र+आप्+क्त (त)।

शब्दार्थ—पर्जन्यस्य=मेघ की। दिवि=आकाश मे। सिकतारेणवः=बालू के कण। सख्यापरित्यक्ता=संख्यारहित, असंख्य। परम्=अत्यन्त, अधिक। निर्वेदम्=खेद, वैराग्य को। आपन्न=प्राप्त होकर। अन्तिकम्=पास। संप्राप्त=आया है।

हि० अनु०:—जिस प्रकार मेघ की जलधाराएँ (असख्य हैं), जिस प्रकार आकाश मे तारे (असख्य हैं) और जिस प्रकार बालू के कण सख्या से रहित अर्थात् असख्य हैं, उसी प्रकार इस महात्मा के गुण सख्या से मुक्त अर्थात् असख्य है, यह अत्यन्त वैराग्य को प्राप्त कर यहाँ तुम्हारे पास आया है।

मन्थरक आह—'किमस्य वैराग्यकारणम्।' वायस आह—'पृष्टो मया। परमनेनाभिहितम्, यद् बहु वक्तव्यमस्ति। तत्तत्रैव गत कथयिष्यामि। ममापि न निवेदितम्। तद् भद्र हिरण्यक, इदानीं निवेद्यतामुभयोरप्यावयोस्तदात्मनो वैराग्यकारणम्।' सोऽब्रवीत्—

समास —वैराग्यकारणम्=वैराग्यस्य कारणम् (तत्पु०)।

व्या० —वैराग्य=विराग+ष्यञ् (य)। अभिहितम्=अभि+धा+क्त (त)। धातु को 'हि' आदेश।

शब्दार्थ —वैराग्यकारणम्=वैराग्य का कारण। अभिहितम्=कहा। वक्तव्यम्=कहना। निवेदितम्=कहा। निवेद्यताम्=कहिए। आत्मनः=अपना।

हि० अनु० —मन्थरक बोला—'इसके वैराग्य का क्या कारण है?' कौआ बोला—मैंने पूछा, किन्तु इसने कहा कि बहुत कुछ कहना है, अत वही चलकर कहूँगा। मुझसे भी नही कहा है, सो भाई हिरण्यक, अब तुम हम दोनो से अपने वैराग्य के उस कारण को कहो।' वह बोला—

कथा १ (ताम्रचूडहिरण्यक कथा)

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्य नाम नगरम्। तस्य नातिदूरे मठायतन भगवत श्रीमहादेवस्य। तत्र च ताम्रचूडो नाम परिव्राजक प्रतिवसति स्म। स च नगरे भिक्षाटन कृत्वा प्राणयात्रा समाचरति। भिक्षाशेष च तत्रैव भिक्षापात्रे निधाय तद्भिक्षापात्र नागदन्तेऽवलम्ब्य पश्चात् रात्रौ स्वपिति। प्रत्यूषे च तदन्न कर्मकराणा दत्त्वा सम्यक् तत्रैव देवतायतने समार्जनोपलेपन-मण्डनादिकं समाज्ञापयति।

समासः—भिक्षाटनम्=भिक्षायाः अटनम् (तत्पु०)। देवतायतने=देवतायाः आयतने (तत्पु०)। संमार्जनोपलेपनमण्डनादिकम्=समार्जनम् च उपलेपनम् च मण्डनम् च (द्वन्द्व), तानि आदीनि यस्य तत् (बहु०)।

व्या०:—दाक्षिणात्ये=दक्षिणा+त्यक् (त्य)। निधाय=नि+धा+क्त्वा (ल्यप्=य)। अवलम्ब्य=अव+लम्ब्+क्त्वा (ल्यप्=य)। समाज्ञापयति='सम्+आ' पूर्वक चौरादिक 'ज्ञा' (ज्ञाप्) धातु, लट्, प्र० पु०, एक०।

शब्दार्थ—दाक्षिणात्ये=दक्षिण दिशा में होने वाले म। मठायतनम्=मठ, मन्दिर। परिव्राजकः=संन्यासी। प्रतिवसति स्म=रहता था। निधाय=रखकर। नागदन्ते=खूँटी पर। अवलम्ब्य=लटकाकर। प्रत्यूषे=प्रातःकाल। कर्मकराणाम्=काम करने वालों का, मजदूरों को। समार्जनोपलेपनमण्डनादिकम्=झाड़ लगाना, लीपना सजाना आदि। समाज्ञापयति=कराता है।

हि० अनु०:—दक्षिण दिशा के प्रदेश (दक्षिण प्रदेश) में महिलारोप्य नाम का नगर है। उसके समीप ही भगवान् श्रीमहादेव का मन्दिर है। वहाँ ताम्रचूड नाम का सन्यासी रहता था। वह नगर में भिक्षाटन कर जीवन यात्रा चलाता था। भिक्षा के (खाने से) बचे हुए अन्न को उसी भिक्षा-पात्र में रखकर, उस भिक्षा-पात्र को खूँटी पर लटकाने के बाद रात में सोता था। प्रातःकाल उस अन्न को काम करने वाले (मजदूरों) को देकर (उनसे) उस मन्दिर म झाड़ना, लीपना, सजाना आदि कार्य अच्छी तरह कराता था।

अन्यस्मिन्नहनि मम बान्धवैर्निवेदितम्—'स्वामिन्, मठायतने सिद्धान्नमूषकभयात् तत्रैव भिक्षापात्रे निहितं नागदन्तेऽवलम्बितं तिष्ठति सदैव। तद्वयं भक्षयितुं न शक्नुमः। स्वामिनः पुनरगम्यं किमपि नास्ति। तत्किं वृथाटनेनाद्य। अद्य तत्र गत्वा यथेच्छं भुञ्जामहे तव प्रसादात्। तदाकर्ण्याहं सकलयूथपरिवृतस्तत्क्षणादेव तत्र गतः। उत्पत्य च तस्मिन् भिक्षापात्रे समारूढः। तत्र भक्ष्यविशेषाणि सेवकानां दत्त्वा पश्चात् स्वयमेव भक्षयामि। सर्वेषां तृप्तौ जातायां भूयः स्वगृहं गच्छामि। एवं नित्यमेव तदन्नं भक्षयामि। परिव्राजकोऽपि यथाशक्ति रक्षति। परं यदैव निद्रान्तरितो भवति तदाहमारुह्यात्मकृत्यं करोमि।

समासः—सकलयूथपरिवृत =सकल च तद् यूथम् (कर्मधा०), तेन परिवृतः (तत्पु०)। भक्ष्यविशेषाणि=भक्ष्यस्य विशेषाणि। (तत्पु०)। निद्रान्तरितः= निद्रया अन्तरित. (तत्पु०)। आत्मकृत्यम्=आत्मनः कृत्यम् (तत्पु०)।

व्या०:—निवेदितम्=नि+णिजन्त 'विद्' (वेद)+इट् (इ)+क्त (त)। निहितम्=नि+धा+क्त (त), धातु को 'हि' आदेश। अवलम्बितम्=अव+लम्ब्+इट् (इ)+क्त (त)। भक्षयितुम्=भक्ष् (भक्षय्)+इट् (इ)+तुमुन् (तुम्)। परिवृतः=परि+वृ+क्त (त)। आरुह्य=आ+रुह्+क्त्वा (ल्यप्=य)।

शब्दार्थ —निवेदितम्=कहा। सिद्धम्=बनाया हुआ, पकाया हुआ। निहितम्=रक्खा हुआ। अवलम्बितम्=लटका हुआ। भक्षयितुम्=खाने को। अगम्यम्=पहुँचने के लिए कठिन। अटनेन=घूमने से। भुञ्जामहे=खावें। आकर्ण्य=सुन कर। सकलयूथपरिवृतः=सम्पूर्ण झुण्ड से घिरा हुआ। उत्पत्य=उछल कर। समारूढ़ः=चढ गया, बैठ गया। भक्ष्यविशेषाणि= विभिन्न भक्ष्य पदार्थों को। निद्रान्तरित.=निद्रा के वशीभूत। आरुह्य=चढ कर। आत्मकृत्यम्=अपना काम।

हि० अनु०:—अन्य किसी दिन मेरे बान्धवों ने कहा—'स्वामिन्, मन्दिर मे सिद्ध (पका हुआ) भोजन चूहों के डर से उसी भिक्षा-पात्र मे रक्खा हुआ और खूँटी पर लटका हुआ सदैव रहता है। इसलिए हम उसे खा नहीं सकते हैं। किन्तु आपके लिए कुछ अगम्य नही है। सो इधर-उधर बेकार भटकने से क्या! आज वहाँ जाकर आपकी कृपा से यथेष्ट भोजन करें। यह सुन कर मैं सम्पूर्ण झुण्ड के साथ उसी क्षण वहाँ गया। और उछल कर उस भिक्षा-पात्र पर चढ़ गया। उसमे से विभिन्न भक्ष्य पदार्थ सेवकों को देकर बाद मे मैंने स्वय भी खाए। सब की तृप्ति होने पर फिर अपने घर को आया। इस प्रकार नित्य ही उस अन्न को खाता था। वह सन्यासी भी यथाशक्ति (अन्न की) रक्षा करता था। लेकिन जभी वह निद्रा के वशीभूत हो जाता था, तभी मैं वहाँ चढ़ कर अपना काम करता था।

अथ कदाचित् तेन मम रक्षणार्थं महान् यत्न. कृतः। जर्जरवंशः

समानीत । तेन सुप्तोऽपि मम भयाद् भिक्षापात्र ताडयति । अहमप्यभक्षितेऽप्यन्ने प्रहारभयादपसर्पामि । एव तेन सह सकला रात्रि विग्रहपरस्य कालो व्रजति । अथान्यस्मिन्नहनि तस्य मठे बृहत्स्फिङ्नामा परिव्राजकस्तस्य सुहृत्तीर्थयात्राप्रसगेन पान्थ प्राघुणिक समायात । त दृष्ट्वा प्रत्युत्थानविधिना सभाव्य प्रतिपत्तिपूर्वक-मभ्यागतक्रियया नियोजित ।

समास —रक्षणार्थम् =रक्षणाय इदम् (नित्य तत्पु०) । जर्जरवश = जर्जरश्चासौ वश (कर्मधा०) । प्रहारभयात् =प्रहाराद् भयम् तस्मात् (तत्पु०) । विग्रहपरस्य=विग्रहे पर तस्य (तत्पु०) । बृहत्स्फिङ्नामा=बृहत्स्फिक् नाम यस्य स (बहु०) । तीर्थयात्राप्रसगेन=तीर्थाना यात्रा (तत्पु०), तस्या प्रसगेन (तत्पु०) । प्रत्युत्थानविधिना=प्रत्युत्थानस्य विधि. तेन (तत्पु०) । प्रतिपत्तिपूर्वकम् =प्रतिपत्ति पूर्वम् यस्य तत् । अभ्यागतक्रियया=अभ्यागतेभ्य क्रिया तया ।

धा० —कृत =कृ+क्त (त) । समानीत =सम्+आ+नी+क्त (त) । सुप्त =ष्वप् (स्वप्)+क्त (त) । अभक्षिते=नञ् (अ)+भक्ष्+इट् (इ)+क्त (त) । प्रहार=प्र+हृ+घञ् (अ) । प्रत्युत्थान=प्रति+उत्+स्था+ल्युट् (यु=अन) । विधिना=वि+धा+कि (इ) । सभाव्य=सम्+णिजन्त 'भू (भाव्)+क्त्वा (ल्यप्=य) नियोजित =नि+णिजन्त 'युज्' (योज्)+इट् (इ)+क्त (त) ।

शब्दार्थ —जर्जरवश =फटा बाँस । ताडयति=पीटता है (था) । प्रहारभयात् =चोट के भय से । अपसर्पामि=हट जाता हूँ (था) । विग्रहपरस्य= लड़ाई लड़ते हुए की । बृहत्स्फिङ्नामा=बृहत्स्फिक् नाम वाला । परिव्राजक = सन्यासी । पान्थ =पथिक । रास्तागीर । प्राघुणिक =अतिथि । प्रत्युत्थानविधिना=स्वागत की विधि से । सभाव्य=सम्मानित कर आवभगत कर प्रतिपत्तिपूर्वकम्=सम्मानपूर्वक । अभ्यागतक्रियया=आतिथ्य-सत्कार से । नियोजित.=युक्त किया ।

हि० अनु० —तब फिर कभी उसने मुझसे (अन्न की) रक्षा के लिए बड़ा यत्न किया । फटा बाँस मँगाया । उससे सोता हुआ भी मेरे डर से भीख के

बर्तन को पीटता था। मैं भी अन्न के बिना खाए हुए भी चोट के भय से हट जाता था। इस प्रकार उसके साथ पूरी रात लडाई करते हुए मेरा समय बीतता था। इसके बाद एक दिन उसके मठ मे उसका मित्र वृहत्स्फिक् नाम का सन्यासी, तीर्थयात्रा के प्रसग से पथिक के रूप मे अतिथि आया। उसको देखकर स्वागत की विधि से उसकी आवभगत कर सम्मानपूर्वक आतिथ्य-सत्कार से उसे युक्त किया (उसका आतिथ्य सत्कार किया)।

ततश्च रात्रावेकत्र कुशसस्तरे द्वावपि प्रसुप्तौ धमकथा कथयितुमारब्धौ।

हि० अनु०—इसके बाद रात मे वे दोनो एक ही कुश के विस्तर पर सोते हुए धमकथा कहने लगे।

अथ वृहत्स्फिक्कथागोष्ठीपु स ताम्रचूडो मूषकत्रासार्थं व्याक्षिप्तमना जर्जरवशेन भिक्षापात्र ताडयस्तस्य शून्यं प्रतिवचन प्रयच्छति। तन्मयो न किंचिदुदाहरति। अथासावभ्यागत पर कोपमुपागतस्तमुवाच—*'भोस्ताम्रचूड,* परिज्ञातस्त्व सम्यङ् न सुहृद्। तेन मया सह साह्लाद न जल्पसि। तद्रात्रावपि त्वदीय मठ त्यक्त्वान्यत्र मठे यास्यामि। उक्तं च—

समास—वृहत्स्फिक्कथागोष्ठीपु=वृहत्स्फिच कथागोष्ठ्य तासु (तत्पु०)। मूषकत्रासार्थम्=मूषकस्य त्रास (तत्पु०), तस्मै इदम् (नित्यतत्पु०)। व्याक्षिप्तमना=व्याक्षिप्तम् मन यस्य स (बहु०)।

व्या०—व्याक्षिप्त=वि+आ+क्षिप+क्त (त)। ताडयन्=तड् (ताडय्)+शतृ (अत्)। उपागत=उप+आ+गम्+क्त (त)। परिज्ञातः=परि+ज्ञा+क्त (त)। त्यक्त्वा=त्यज्+क्त्वा (त्वा)।

हि० अनु०—वृहत्स्फिक्कथागोष्ठीपु= वृहत्स्फिक् की कथागोष्ठियो म। मूषकत्रासार्थम्=चूहे को डराने के लिए। व्याक्षिप्तमना—अन्यमनस्क होकर, अनमना हाकर। ताडयन्=पीटता हुआ। प्रतिवचनम्=उत्तर। प्रयच्छति=देता है (था)। परिज्ञात=जान लिया गया। साह्लादम्=उल्लास के साथ। जल्पसि=बात करते हो।

हि० अनु०—इसके बाद वृहत्स्फिक् की बातों की बैठकों म वह ताम्रचूड

चूहे को डराने के लिए (बांसों से) मन हटाकर फटे बांस से भिक्षा-पात्र को पीटता हुआ उसको सूना उत्तर देता था। तन्मय (चूहे की तरफ लीन) हो कुछ भी नहीं कहता था। तब वह अतिथि अत्यन्त क्रुद्ध होकर उससे बोला—'हे ताम्रचूड़, तुझे जान लिया, तू सच्चा मित्र नहीं है। इसी से तुम मेरे साथ उल्लास से बात नहीं कर रहे हो। सो रात में भी (अभी) तेरे मठ को छोड़कर दूसरे मठ में जाता हूँ। कहा भी है—

> एह्यागच्छ समाश्रयासनमिदं कस्माच्चिराद् दृश्यसे,
> का वार्ता ह्यतिदुर्बलोऽसि कुशलं प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात्।
> एवं ये समुपागतान् प्रणयिनः प्रह्लादयन्त्यादरात्,
> तेषां युक्तमशङ्कितेन मनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा ॥६७॥

अन्वयः—एहि आगच्छ, इदम् समाश्रयासनम्, कस्मात् चिरात् दृश्यसे, का वार्ता हि अतिदुर्बलः असि, कुशलम्, ते दर्शनात् प्रीतः अस्मि, एवं ये प्रणयिनः समुपागतान् आदरात् प्रह्लादयन्ति, तेषाम् हर्म्याणि सदा अशङ्कितेन मनसा गन्तुम् युक्तम्।

सं० टी०:—एहि आगच्छ आगम्यताम् आगम्यताम्, इदम् पुरोवर्तमानम् समाश्रयासनम् उपवेशनाय आसनम् वर्तते कस्मात् कथम् चिरात् बहोः कालादनन्तरम् दृश्यसे दृष्टोऽसि, का वार्ता किम् कारणं वर्तते हि यतो हि अतिदुर्बलः कृशतरः असि, कुशलम् सर्वं शिवं तु वर्तते, ते तव दर्शनात् साक्षात्कारात् प्रीतः प्रसन्नः अस्मि, एवमनेन प्रकारेण ये प्रणयिनः स्नेहिनः जनाः समुपागतान् समागतान् अतिथीन् आदरात् सम्मानात् प्रह्लादयन्ति आनन्दयन्ति, तेषां प्रणयिनां जनानाम् हर्म्याणि भवनानि सदा सर्वदा अशङ्कितेन सकोचरहितेन मनसा चित्तेन गन्तुम् युक्तमुचितम् अस्तीति शेषः।

समासः—समाश्रयासनम्=सम्यग् आश्रयः समाश्रयः (कर्मधा०), तस्मै आसनम् (तत्पु०)। अतिदुर्बलः=अतिशयितः दुर्बलः (कर्मधा०),। अशङ्कितेन=न शङ्कितम् तेन (नञ् तत्पु०)।

व्या०:—प्रीत.=प्री+क्त (त)। प्रणयिनः=प्रणय+इनि (इन)। समुपागतान्=सम्+उप+आ+गम्+क्त (त)। प्रह्लादयन्ति='प्र'

णिजन्त 'ह्लाद' (ह्लादय्) धातु, लट्, प्र० पु०, बहु० । अशङ्कितेन=नञ् (अ)+शङ्का+इतच् (इत)। गन्तुम्=गम्+तुमुन् (तुम्)। युक्तम्=युज्+क्त (त)।

शब्दार्थ—समाश्रयासनम्=अच्छी तरह बैठने के लिए आसन। चिरात्=बहुत दिनो मे। दृश्यसे=दिखाई दिए हो। प्रीतः=प्रसन्न। प्रणयिन =स्नेही जन। समुपागतान्=आए हुओ को, अतिथियो को। प्रह्लादयन्ति=आनन्दित करते हैं। हर्म्याणि=घरो मे। अशङ्कितेन=सकोचरहित से।

हि० अनु० —आओ-आओ, यह अच्छी तरह (आराम से) बैठने के लिए आसन है, बहुत दिनो मे क्यो दीखे हो, क्या बात है कि बहुत दुर्बल हो रहे हो, कुशल तो है, तुम्हार दर्शन से मैं बहुत प्रसन्न हूं, इस प्रकार जो स्नेही जन समागत इप्ट मित्रो को आदर से आनन्दित करते हैं, उनके घरो मे सदा नि.सकोच मन से जाना ठीक है।

गृही यत्रागत दृष्ट्वा दिशो वीक्षेत वाप्यधः।
तत्र ये सदने यान्ति ते शृंगरहिता वृषाः ॥६८॥

अन्वयः—यत्र गृही आगतम् दृष्ट्वा दिशः अधः वा वीक्षेत, तत्र सदने ये यान्ति, ते शृंगरहिता वृषा. (सन्ति)।

समास —शृंगरहिताः=शृंगैः रहिताः (तत्पु०)।

व्या०.—वीक्षेत='वि' पूर्वक 'ईक्ष्' धातु, लिङ्, प्र० पु०, एक०।

शब्दार्थः—गृही=गृहस्थ, गृहस्वामी, घर का मालिक। वीक्षेत=देखे। दिश.=दिशाएं, बगलें। सदने=घर मे। शृंगरहिताः=बिना सीगो के।

हि० अनु०:—जहां घर का मालिक समागत (अतिथि) को देखकर बगलें भांके या नीचे को देखे, उस घर मे जो जाते हैं, वे बिना सीगो के बैल हैं।

नाभ्युत्थानक्रिया यत्र नालापाः मधुराक्षराः।
गुणदोषकथा नैव तत्र हर्म्ये न गम्यते ॥६६॥

अन्वय—(सीधा व स्पष्ट है)।

समास—अभ्युत्थानक्रिया—अभ्युत्थानस्य क्रिया (तत्पु०)। मधुराक्षराः =मधुराणि अक्षराणि येषु ते (बहु०) गुणदोषकथा=गुणाश्च दोषाश्च (द्वन्द्व), तयोः कथा (तत्पु०)।

व्या०—अभ्युत्थान=अभि+उत्+स्था+ल्युट् (यु=अन)।

शब्दार्थः—अभ्युत्थानक्रिया=स्वागत की क्रिया (कार्यवाही) आलापाः= बातचीत। मधुराक्षरा=मीठे शब्दों वाले। गुणदोषकथा=गुण और दोषों की बातें। गम्यते=जाया जाता है।

हि० अनु०—जहाँ स्वागत-क्रिया (स्वागत की औपचारिकता) नहीं है, मीठे शब्दों से युक्त सम्भाषण नहीं हैं। गुण और दोषों की बातें नहीं हैं, उस घर में नहीं जाया जाता है। नहीं जाना चाहिए।

तदेकमठप्राप्त्यापि त्वं गर्वितः। त्यक्तः सुहृत्स्नेहः। नैतद्वेत्सि यत्त्वया मठाश्रयव्याजेन नरकोपार्जनं कृतम्। उक्तं च—

हि० अनु०—सो तू एक मठ की प्राप्ति से ही गर्वित हो गया है। मित्र-प्रेम छोड़ दिया। तू यह नहीं जानता है कि तूने मठ के आश्रय के बहाने (रूप से) नरक का उपार्जन किया है। कहा भी है—

> नरकाय मतिस्ते चेत् पौरोहित्यं समाचर।
> वर्षं यावत् किमन्येन मठचिन्ता दिनत्रयम् ॥७०॥

अन्वय—नरकाय ते मतिः चेत् वर्षम् यावत् पौरोहित्यम् समाचर, अन्येन किम्, दिनत्रयम् मठचिन्ताम् (समाचर)।

समास—पौरोहित्यम्=पुरोहितस्य भावः कर्म वा (तद्धित)। मठचिन्ताम् =मठस्य चिन्ताम् (तत्पु०)।

व्या०—पौरोहित्यम्=पुरोहित+यक् (य)।

हि० अनु०—नरक जाने के लिए यदि तेरा विचार है तो एक वर्ष पुरोहित का काम कर, अथवा अन्य (बातों) से क्या, तीन दिन मठ की देख-भाल कर।

विशेष —श्लोक का तात्पर्य है कि इन दोनो कामो मे ऐसे अपराधो के लिए बहुत ही सुलभ अवसर मिलते रहते हैं, जिनसे नरक-गमन हो सकता है।

तन्मुख, शोचितव्यस्त्व गर्व गतः। तदहं त्वदाय मठ परित्यज्य यास्यामि।' अथ तच्छ्रुत्वा भयत्रस्तमनास्ताम्रचूडस्तमुवाच—'आः भगवन्, मैव वद। न त्वत्समोऽन्यो मम सुहृत्कश्चिदस्ति। पर तच्छ्रूयता गोष्ठीशैथिल्यकारणम्। एष दुरात्मा मूषक प्रोन्नतस्थाने धृतमपि भिक्षापात्रमुत्प्लुत्यारोहति, भिक्षाशप च तत्रस्थ भक्षयति। तदभावादेव मठे मार्जनक्रियापि न भवति। तन्मूषकत्रासायमेतेन वशेन भिक्षापात्र मुहुर्मुहुस्ताडयामि, नान्यत्कारणमिति। अपरमेतत् कुतूहल पश्यास्य दुरात्मनो यन्मार्जारमर्कटादयोऽपि तिरस्कृता अस्योत्पतनेन।' बृहत्स्फिगाह—'अथ ज्ञायते तस्य बिल कस्मिश्चित्प्रदेशे।' ताम्रचूड आह—'भगवन् न वेद्मि सम्यक्।' स आह—नून' निधानस्योपरि तस्य बिलम्। निधानोष्मणा प्रकूर्दते। उक्त च—

समास—भयत्रस्तमना=भयेन त्रस्त मन यस्य स (बहु०)। त्वत्सम=त्वया सम (तत्पु०)। **गोष्ठीशैथिल्यकारणम्**=गोष्ठया शैथिल्यम् (तत्पु०), तस्य कारणम् (तत्पु०) **प्रोन्नतस्थाने**=प्रोन्नत च तत स्थानम् तस्मिन् (कमधा०)। **निधानोष्मणा**=निधानस्य ऊष्मा तेन (तत्पु०)।

धा०—शोचितव्य =शुच्+इट् (इ)+तव्य। **परित्यज्य**=परि+त्यज्+क्त्वा (ल्यप्=य)। **शैथिल्य**=शिथिल+ष्यञ् (य) **प्रोन्नत**=प्र+उद्+नम्+क्त (त) **धृतम्**=धृ+क्त (त)। **उत्प्लुत्य**=उत्+प्लु+तुक् (त्)++क्त्वा (ल्यप्=य)। **तिरस्कृता** =तिरस्+कृ+क्त (त)। **उत्पतनेन**=उत्+पत्+ल्युट् (यु=अन)।

शब्दार्थ—**शोचितव्य**=शोचनीय, खेद या सोच करने योग्य, दयनीय। **परित्यज्य**=छोड कर। **भयत्रस्तमनाः**=भयभीत चित्त वाला। **गोष्ठीशैथिल्यकारणम्**=बैठक या बातचीत की शिथिलता का कारण। **प्रोन्नतस्थाने**=अधिक ऊँचे स्थान पर। **उत्प्लुत्य**=उछल कर। **आरोहति**=चढ जाता है। **मार्जन क्रिया**=झाडना बुहारना। **मूषकत्रासार्थम्**=चूहे को डराने के लिए। **कुतूहलम्**=आश्चर्य, आश्चर्यजनक बात। **तिरस्कृता** =अपमानित, मात खा गए हैं।

उत्पतनेन=उछलने स । निधानस्य=खज़ाने के, धनकोष के । निधानोष्मणा=धनकोष (खज़ाने) की गर्मी से ।

हि० अनु० —सो मूस, तू शोचनीय (दयनीय) होते हुए भी गर्व को प्राप्त हो गया है । अत मैं तेरे मठ को छोड कर जाता हूँ । यह सुनकर, भयभीत चित्त वाला ताम्रचूड उससे बोला—'हे भगवन्, ऐसा मत कहो । तुम्हारे समान दूसरा मेरा कोई सुहृत् नहीं है । लेकिन गोष्ठी (बैठक या बातचीत) की शिथिलता का कारण सुनो । यह दुष्ट चूहा अधिक ऊँचे स्थान पर रखे हुए भी भिक्षापात्र पर उछल कर चढ जाता है और उसमे रक्खे हुए भिक्षाशेष (खान मे बचे भीख के अन्न) को खा जाता है । इसी कारण मठ मे झाडने-बुहारन का कार्य भी नही हो पाता है । सो चूहे को डराने के लिए मैं इस बास से भिक्षापात्र को बार-बार पीटता हूँ, दूसरा कोई कारण नही है । दूसरे, इस चूहे की यह अद्भुत बात देखो कि इसके उछलने से बिलाव एव बन्दर आदि भी मात खा गए हैं । बृहत्स्फिक बोला—'क्या यह ज्ञात है कि इसका बिल किस स्थान पर है ।' ताम्रचूड बोला—'मैं ठीक तरह नही जानता हूँ ।' वह बोला—'निश्चय ही धनकोष (खजाने) के ऊपर उसका बिल है । खजाने की गर्मी से यह कूदता है । कहा भी है—

> ऊष्मापि वित्तजो वृद्धि तेजो नयति देहिनाम् ।
> किं पुनस्तस्य सभोगस्त्यागकर्मसमन्वित ॥७१॥

अन्वय —वित्तज ऊष्मा अपि देहिनाम् तेज वृद्धिम् नयति, पुन तस्य त्यागकर्मसमन्वित सभोग किम् ।

समास —वित्तज =वित्तात् जायत (उपपदतत्पु०) । त्यागकर्मसमन्वित =त्यागस्य कर्म (तत्पु०), तेन समन्वित (तत्पु०) ।

व्या० —वित्तज =वित्त+जन्+ड (अ) । देहिनाम्=देह+इनि (इन्) । सभोग =सम्+भुज+घञ् (अ) । त्याग=त्यज+घञ् (अ) । समन्वित =सम्+अनु+इ+क्त (त) ।

शब्दार्थ —ऊष्मा=गर्मी । वित्तज =धन से उत्पन्न होने वाला ।

सभोग =उपभोग। त्यागकर्मसमन्वित =त्याग के कम (त्यागरूप कर्म) से युक्त।

हि० अनु० —धन से पैदा होने वाली गर्मी भी प्राणियों के तेज मे वृद्धि कर देती है, फिर उसके त्याग कर्म के साथ उपभोग का क्या कहना (वह तो और भी अधिक तेज बढाता है)।

तथा च।

हि० अनु० —और भी।

नाकस्माच्छाण्डिली मार्तविक्रीणाति तिलैस्तिलान्।
लुञ्चितानितरैर्येन हेतुरत्र भविष्यति ॥७२॥

अन्वय —मात, शाण्डिली लुञ्चितान् तिलान् इतरै तिलै अकस्मात् न विक्रीणाति येन अत्र हेतु भविष्यति।

व्या० —लुञ्चितान्=लुञ्च्=इट् (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थ —शाण्डिली=इस नाम की स्त्री, शाण्डिल्य गोत्रोत्पन्न स्त्री। लुञ्चितान्=छिले हुओ को। विक्रीणाति=बेचती है। अकस्मात्=यो ही बिना कारण ही।

हि० अनु० —हे मात शाण्डिली (अपने) छिले हुए तिलो को अन्य प्रकार के (बिना छिले) तिलो से यो ही (बिना कारण ही) नही बेचती है, अत इस विषय मे कोई अवश्य हेतु होगा।

विशेष —यह अग्रिम अवान्तर कथा का सकेत श्लोक है, जिसका बीज इस मे निहित है।

ताम्रचूड आह—'कथमेतत्।' स आह—

हि० अनु ०—ताम्रचूड बोला—यह कैसे है।' वह बोला—

कथा २ (चतुर ब्राह्मणी कथा)

यदाह कस्मिश्चित् स्थाने प्रावृटकाले व्रतग्रहणनिमित्त कश्चिद् ब्राह्मण वासाय प्रार्थितवान्। ततश्च तद्वचनात् तेनापि शुश्रूषित सुखेन देवार्चन परस्तिष्ठामि। अथान्यस्मिन्नहनि प्रत्यूषे प्रबुद्धोऽह ब्राह्मणब्राह्मणीसवादे

दत्तावधानः शृणोमि । तत्र ब्राह्मण आह—'ब्राह्मणि, प्रभाते दक्षिणायनसंक्रान्ति-रनन्तदानफलदा भविष्यति । तदहं प्रतिग्रहार्थं ग्रामान्तरं यास्यामि । त्वया ब्राह्मणस्यैकस्य भगवतः सूर्यस्योद्देशेन किंचिद् भोजनं दातव्यम्' इति । अथ तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणी परुषतरवचनैस्तं भर्त्संयमाना प्राह—'कुतस्ते दारिद्र्योपहतस्य भोजनप्राप्तिः । तत्किं न लज्जसे एवं ब्रुवाणः । अपि च न मया तव हस्तलग्नया क्वचिदपि लब्धं सुखम् । न मिष्टान्नस्यास्वादनम्, न च हस्तपादकण्ठादिभूषणम् ।' तच्छ्रुत्वा भयत्रस्तोऽपि विप्रो मन्दं मन्दं प्राह—'ब्राह्मणि, नैतद्युज्यते वक्तुम् । उक्तं च—

समास—व्रतग्रहणनिमित्तम्=व्रतस्य ग्रहणम् (तत्पु०), तस्य निमित्तम् (तत्पु०) । देवार्चनपर=देवानाम् अर्चनम् (तत्पु०), तस्मिन् पर (तत्पु०) । दत्तावधान=दत्तम् अवधानम् येन स. (बहु०) । दक्षिणायनसंक्रान्ति= दक्षिणम् अयनम् (कर्मधा०), तस्य संक्रान्ति (तत्पु०) । अनन्तदानफलदा= अनन्तम् दानम् (कर्मधा०) तस्य फलम् (तत्पु०), तद् ददाति (उपपदतत्पु०) । परुषतरवचनै=अतिशयेन परुषाणि परुषतराणि (तद्धित) तानि च तानि वचनानि तैः (कर्मधा०) दारिद्र्योपहतस्य=दारिद्र्येन उपहत तस्य (तत्पु०) ।

व्या०—प्रार्थितवान्=प्र+अर्थ्+इट् (इ)+क्तवतु(तवत्) । शुश्रूषित= सन्नन्त 'श्रु' (शुश्रूष्)+इट् (इ)+क्त (त) । प्रबुद्ध=प्र=बुध्+क्त (त) । अवधान=अव+धा+ल्युट (यु=अन) । अनन्तदानफलदा=अनन्तदानफल+ दा+क (अ)+टाप् (आ) । दातव्यम्=दा+तव्य । भर्त्संयमाना=भर्त्स् (भर्त्सय्)+शप् (अ)+मुक् (म्)+शानच् (आन)+टाप् (आ) । दरिद्र्य= दरिद्र+ष्यञ् (य) । उपहतस्य=उप+हन+क्त (त) । ब्रुवाण=ब्रू+ शानच् (आन) । लब्धम्+लभ्+क्त (त) । वक्तुम्=ब्रू (वच्)+तुमुन् (तुम्) ।

शब्दार्थ—प्रावृट्काले=वर्षाकाल में । व्रतग्रहणनिमित्तम्=व्रत के ग्रहण के लिए । प्रार्थितवान्=प्रार्थना की । शुश्रूषित=सेवित । दत्तावधान=ध्यान देकर । दक्षिणायनसंक्रान्ति=सूर्य के दक्षिणायन होने का समय, सूर्य का

कक राशि पर सङ्क्रमण का काल । अनन्तदानफलदा=अनन्तदान का फल देने वाली । प्रतिग्रहायम्=दान लेने के लिए । परुषतरवचनैः=अति कठोर वचनों से । भर्त्संयमाना=फटकारती हुई । दारिद्र्योपहतस्य=गरीबी से पीडित का । हस्तलग्नया=हाथ लगा हुई । हस्तपादकण्ठादिभूषणम्=हाथ, पैर, गर्दन आदि का गहना ।

हि० अनु०—एक बार मैंने किसी स्थान पर वर्षा के समय व्रत-ग्रहण (अनुष्ठान) के लिए किसी ब्राह्मण से रहने (के स्थान) के लिए प्रार्थना की। तब उस वचन से उस (ब्राह्मण) के द्वारा भी सेवित होकर मैं सुख से देवपूजा करता हुआ (उसके यहाँ) रहने लगा। इसके बाद एक दिन प्रातःकाल जग कर मैंने ब्राह्मण और ब्राह्मणी के वार्तालाप में ध्यान देकर सुना। उसमें ब्राह्मण बोला—'ब्राह्मणि, प्रातःकाल दक्षिणायन (कर्क) की सङ्क्रान्ति अनन्त दान का फल देनी वाली होगी। सो मैं तो दान लेने के लिए दूसरे गाँव जाऊँगा। तुम एक ब्राह्मण को सूर्य भगवान् के उद्देश्य (निमित्त) से कुछ भोजन दे देना।' यह सुन कर ब्राह्मणी अति कठोर वचनों से उसे फटकारती हुई बोली—'गरीबी से मारे हुए तुम्हारे यहाँ कहाँ से भोजन मिलेगा। सो ऐसा कहते हुए क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती। इसके अतिरिक्त, तुम्हारे हाथ में पडकर मैंने कभी सुख नहीं पाया। न तो मिष्टान्न का आस्वादन किया, और न हाथ, पैर एवं गर्दन आदि के गहने पाए। यह सुन कर भयभीत होकर भी ब्राह्मण धीरे-धीरे बोला—'ब्राह्मणि, यह कहना ठीक नहीं है। कहा भी है—

> ग्रासादपि तदर्धं च कस्मान्नो दीयतेऽर्थिषु।
> इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति ॥७३॥

अन्वय—ग्रासात् अपि तदर्धम् च कस्मात् अर्थिषु न दीयते, इच्छानुरूपः विभवः कस्य कदा भविष्यति।

समास—इच्छानुरूप=इच्छाया अनुरूपः (तत्पु०)।

व्या०—दीयते='दा' धातु, कर्मवाच्य, लट्, प्र० पु०, एक।

शब्दार्थ—ग्रासात्=ग्रास (कौर) से। अर्थिषु=चाहने या माँगने वालों को।

इच्छानुरूप.=इच्छा के अनुसार, मनचाहा।

हि० अनु०—एक ग्राम (कवल या कौर) से भी उसका आधा क्यो न मागने वालो को दिया जावे ? (क्योंकि) मन चाहा ऐश्वर्य तो किसको कब प्राप्त हो सकता है।

ईश्वरा भूरिदानेन यल्लभन्ते फल किल।
दरिद्रस्तच्च काकिण्या प्राप्नुयादिति न श्रुति. ॥७४॥

अन्वय:—ईश्वरा भूरिदानेन यत् फलम् लभन्ते किल, तत् च दरिद्र. काकिण्या प्राप्नुयात् इति न श्रुति.।

समासः—भूरिदानेन=भूरि च तद् दानम् तेन (कर्मधा०)।

व्या०:—प्राप्नुयात्='प्र' पूर्वक 'आप्' धातु, लिङ्, प्र० पु०, एक०।

शब्दार्थः—ईश्वरा·=भाग्यवान्, धनवान्। भूरिदानेन=विपुलदान स। लभन्ते=प्राप्त करते हैं। काकिण्या=कौडी से। प्राप्नुयात्=प्राप्त करता है। किल=निश्चय ही।

हि० अनु०:—धनवान् विपुल दान से जो फल प्राप्त करते हैं, उसे दरिद्र एक कौडी के दान से निश्चय ही प्राप्त करता है, ऐसी हमारी श्रुति (वेदवाक्य, या परम्परागत प्रसिद्धि) है।

दाता लघुरपि सेव्यो भवति न कृपणो महानपि समृद्धया।
कूपोऽन्त स्वादुजल प्रीत्यै लोकस्य न समुद्र· ॥७५॥

अन्वय—दाता लघु अपि सेव्य भवति, कृपणः समृद्धया महान् अपि न (सेव्यो भवति)। अन्त स्वादुजल. कूप. लोकस्य प्रीत्यै (भवति), समुद्र. न (भवति)।

समासः—अन्त स्वादुजलः=अन्त स्वादु जलम् यस्य स (बहु०)।

व्या०·—दाता=दा+तृच् (तृ)। सेव्य=सेव्+ण्यत् (य)।

शब्दार्थ—कृपणः=कजूस। समृद्धया=सपत्ति से, वैभव से। अन्त-स्वादुजल=जिसके भीतर स्वादिष्ट जल है।

हि० अनु० —दान देने वाला छोटा व्यक्ति भी सेवनीय होता है, कजूस सम्पत्ति स बडा होने पर भी सेवनीय नही होता। अपने भीतर स्वादिष्ट जल रखने वाला कुआ लोगो की प्रसन्नता के लिए होता है किन्तु समुद्र (ऐसा) नही होता (क्योकि उसका जल खारा होता है जो कि किसी के काम नही आ सकता)।

तथा च।

हि० अनु० —और भी।

अकृतत्यागमहिम्ना मिथ्या किं राजराजशब्देन।
गोप्तार न निधीना कथयन्ति महेश्वर विबुधा ॥७६॥

अन्वय —अकृतत्यागमहिम्ना मिथ्या राजराजशब्देन किम् विबुधा निधीनाम् गोप्तारम् महेश्वरम् न कथयन्ति।

समास —अकृतत्यागमहिम्ना=त्यागस्य महिमा (तत्पु०), अकृत त्याग महिमा यस्मिन् (बहु०) अथवा कृतश्चासौ त्याग (कमधा०) तस्य महिमा (तत्पु०), नास्ति कृतत्यागमहिमा यस्मिन (बहु०)। राजराजशब्देन= राजराजश्चासौ शब्द तेन (कमधा०)। महेश्वरम्=महान् च असौ ईश्वर तम् (कमधा०)।

व्या० —गोप्तारम—गुप्+तृच् (तृ)।

शब्दाथ —त्याग की महिमा को सपादित (अर्जित) किए बिना मिथ्या (व्यथ के) 'राजराज' शब्द से क्या (प्रयोजन) विद्वज्जन निधियो (खजानो) के रक्षक को महेश्वर नही कहते हैं (महेश्वर तो वही कहलाएगा जो मालिक होता हुआ दान आदि मे खच भी कर सके, अन्य जन तो खजाने के केवल पहरेदार आदि ही होते हैं)।

हि० अनु० —और भी।

सदा दानपरिक्षीण शस्त एव करीश्वर।
अदान पीनगात्रोऽपि निन्द्य एव हि गर्दभ ॥७७॥

अन्वय —सदा दानपरिक्षीण करीश्वर शस्त एव, अदान गदभ पीनगात्र अपि निन्द्य एव।

समासः—दानपरिक्षीणः—दानेन परिक्षीणः (तत्पु०)। करीश्वरः—करीणाम् ईश्वरः (तत्पु०)। अदानः—नास्ति दानम् यस्य सः (बहु०)। पीनगात्रः—पीनम् गात्रम् यस्य सः (बहु)।

व्या०:—शस्तः—शसु (शस्)+क्त (त)। निन्द्यः—णिदि (निन्द्)+ण्यत् (य)।

शब्दार्थः—दानपरिक्षीणः—दान (मद) के स्राव से दुर्बल। करीश्वरः—गजराज। शस्त—प्रशसनीय। अदानः—दानरहित। पीनगात्रः—मोटे शरीर वाला। निन्द्यः—निन्दनीय।

हि० अनु०:—मदा दान या मद के स्राव के कारण दुर्बल होने पर भी गजराज प्रशसनीय ही होता है, किन्तु दानरहित गधा मोटे शरीर का होने पर भी निन्दनीय ही होता है।

विशेष.—यहाँ 'दान' शब्द मे श्लेष है, इसका जहाँ सामान्य अर्थ देना है, वहाँ विशिष्ट अर्थ हाथी का मद है। यतः हाथी मद के स्राव मे दुर्बल होता रहता है, अतः उसे 'मदपरिक्षीणः' कहा जा सकता था, किन्तु यहाँ चमत्कार के लिए 'मद' के दूसरे पर्यायवाची शब्द 'दान' का प्रयोग किया गया है। जिससे शाब्दिक रूप से यह सूचित होता है कि वह 'दान' से दुर्बल हो जाता है और फलतः दान की महिमा सूचित हो जाती है। 'गर्दभ' के लिए प्रयुक्त 'अदान.' शब्द मे 'दान' का अर्थ सामान्य ही माना जा सकता है, जिसका तात्पर्य हुआ कि वह किसी को कुछ नहीं देता, अपितु अपना ही पेट भरता रहता है और फलत. लोग उसकी निन्दा ही करते हैं और इसीलिए ऐसे व्यक्ति को भी गधे की उपमा द देते हैं।

सुशीलोऽपि सुवृत्तोऽपि यात्यदानादधो घट.।
पुन. कुब्जापि काणापि दानादुपरि कर्करी ॥७८॥

अन्वय.—सुशीलः अपि सुवृत्त अपि घट. अदानाद् अधो याति, पुन कुब्जा अपि काणा अपि कर्करी दानाद् उपरि (याति)।

समासः—सुशील —शोभन शील यस्य स. (बहु०)। सुवृत्तः—शोभन वृत्त यस्य स (बहु०)।

शब्दार्थ —सुशील =अच्छे स्वभाव वाला, अच्छा शील (सीलन) वाला, ठण्डा। सुवृत्त =अच्छे आचरण वाला, अच्छी तरह गोल। अदानात्=दान के बिना। कुब्जा=कुबडी। काणा=कानी। ककरी=टोंटी वाला जलपात्र।

हि० अनु० —सुशील (अच्छे स्वभाव वाला, ठण्डा) और सुवृत्त (अच्छे आचरण वाला, अच्छी तरह गोल बना हुआ) भी घडा दान के बिना (देने को पानी न रखने के कारण खाली होने से) (कुए मे) नीचे को जाता है किन्तु कुबडी और कानी भी ककरी भी दान के कारण (देने को अपने पास पानी रखने के कारण) ऊपर को जाती है।

विशेष—श्लोक का तात्पर्य है कि घडा सब प्रकार से ठीक होने पर खाली होने के कारण नीचे कुँए मे पटका जाता है और ककरी कानी कुबडी भी होते हुए ऊपर को की जाती है, क्योंकि एक (घडे) के पास देने को कुछ नहीं है और दूसरे (ककरी) के पास देने को कुछ है। 'सुशील' एवं 'सुवृत्त' शब्द श्लिष्ट हैं।

यच्छञ्जलमपि जलदो वल्लभतामेति सकललोकस्य।
नित्य प्रसारितकरो मित्रोऽपि न वीक्षितु शक्य ॥७६॥

अन्वय —जलम् अपि यच्छन् जलद सकललोकस्य वल्लभताम् एति, नित्यम् प्रसारितकर मित्र अपि वीक्षितुम् न शक्य।

समास —सकललोकस्य=सकलश्चासौ लोक तस्य (कर्मधा०), जलद = जलम् ददाति (उपपदतत्पु०)। प्रसारितकर =प्रसारिता करा येन स (बहु०)।

व्या० —यच्छन्= दाण (यच्छ्)+शतृ (अन्)। जलद =जल+दा+क (अ)। प्रसारित=प्र+णिजन्त सृ (सार्)+इट (इ)+क्त (त)। वीक्षितुम=वि+ईक्ष+इट (इ)+तुमुन् (तुम्)। शक+यत् (य)।

शब्दार्थ —यच्छन्=देता हुआ। वल्लभताम्=प्रियत्व, प्यार।

प्रसारितकर =हाथ फैलाने वाला, किरणो को फैलाने वाला। मित्र = सूर्य।

हि० अनु०:—जल को भी देने वाला जलद (मेघ) सम्पूर्ण लोक के प्यार को प्राप्त करता है, किन्तु करो (किरणो) को नित्य फैलाने वाले सूर्य को देखना भी (लोक के लिए) अशक्य है ।

विशेष:—श्लोक का तात्पर्य है कि जो लोगो को दान देता है, वह उनका प्रिय बन जाता है, और जो उनसे मांगने के लिए उनके समक्ष हाथ फैलाता है, उसे वे देखना भी नही चाहते । यतः मेघ जल देता है, अत: वह सम्पूर्ण लोक का प्रिय बनता है और अत सूर्य कर फैलाता है, अतः उसे लोग आँख मिलाकर नही देखते । यद्यपि उसे देख तो इसलिए नही सकते कि उसमे तेज अधिक होता है, किन्तु कवि यह चमत्कारपूर्ण कल्पना करता है कि वह कर फैलाता है, अतः उसे लोग नहीं देखते । यहाँ 'कर' शब्द म श्लेष है, अत. इस चमत्कार की पूर्ति होगई है । 'कर' शब्द के 'हाथ' और 'किरण' अर्थ हैं, सूर्य अपनी किरणें फैलाता है, अत यह कहा गया है कि वह 'कर' फैलाता है, 'कर' का फैलाना मागने के लिए होता है, अतः सूचित होता है कि सूर्य मागने के लिए 'कर' फैलाता है । इसके अतिरिक्त सूर्य की किरणें सूर्य की हाथ ही मानी जाती हैं, और वह इन हाथो को फैलाकर लोक को कुछ देता नही, अपितु लोक के जल का शोषण ही करता है । यद्यपि 'सखा' का पर्याय वाची 'मित्र' शब्द नपु सक लिंग होता है, किन्तु यदि उसे कथंचित् पु लिंग मान लिया जावे तो साथ मे यह भी अर्थ निकलने लगता है कि हमेशा हाथ फैलाने वाले मित्र को लोग देखना भी नही चाहते ।

इस प्रकार इस श्लोक के उत्तरार्द्ध मे श्लेष के कारण अपूर्व चमत्कार की सृष्टि होगई है ।

एव ज्ञात्वा दारिद्र्याभिभूतैरपि स्वल्पात्स्वल्पतर काले पात्रे च देयम् । उक्तं च—

हि० अनु०:—ऐसा जानकर गरीबी से पीडित लोगो को भी थोडे मे से भी थोडा उचित समय म योग्य व्यक्ति को दान देना चाहिए । कहा भी है—

सत्पात्र महती श्रद्धा देशे काले यथोचिते ।
यद्दीयते विवेकज्ञैस्तदानन्त्याय कल्पते ।।८०।।

अन्वय —सत्पात्रम्, महती श्रद्धा, यथोचिते देशे काले विवेकज्ञै यद् दीयते, तद् आनन्त्याय कल्पते ।

समास —विवेकज्ञै =विवेकम् जानन्ति (उपपदतत्पु०) ।

व्या० —विवेकज्ञ =विवेक+ज्ञा+क (अ) । आनन्त्याय=अनन्त+ष्यञ् (य) ।

शब्दार्थ —विवेकज्ञ =सत् और असत का भेद समझने वाले बुद्धिमान् व्यक्तियों के द्वारा ।

हि० अनु० —(जिसको दान दिया जाय वह) योग्य पात्र हो, अधिक श्रद्धा हो तो उचित देश और काल मे विवेकी बुद्धिमान् व्यक्तियो के द्वारा जो कुछ दिया जाता है, वह अनन्त फल देने के लिए समर्थ होता है ।

तथा च ।

हि० अनु० —और भी ।

अतितृष्णा न कर्तव्या तृष्णा नैव परित्यजत् ।
अतितृष्णाभिभूतस्य शिखा भवति मस्तके ।।८२।।

अन्वय —(सीधा व स्पष्ट है) ।

समास —अतितृष्णाभिभूतस्य=अतिशयिता तृष्णा (कमधा०), तया अभिभूतस्य (तत्पु०) ।

व्या —कर्तव्या=कृ+तव्य+टाप् (आ) ।

हि० अनु० =अधिक तृष्णा नही करनी चाहिए और तृष्णा का बिल्कुल छोडना भी नही चाहिए । अधिक तृष्णा के वशीभूत के मस्तक पर शिखा होती है ।

विशेष —यह अग्रिम कथा का सकेत श्लोक है ।

ब्राह्मण्याह—'कथमेतत् ।' स आह—

हि० अनु० —ब्राह्मणी बोली—यह कैसे ? वह बोला—

कथा ३ (अतितृष्णशृगाल कथा)

अस्ति कस्मिश्चिद्वनोद्देशे कश्चित्पुलिन्द स । च पापर्द्धि कर्तु वन प्रति प्रस्थित । अथ तेन प्रसर्पता महानञ्जनपर्वतशिखराकारः क्रोड समासादित ।

तं दृष्ट्वा कर्णान्ताकृष्टनिशितसायकेन समाहतः। तेनापि कोपाविष्टेन चेतसा बालेन्दुद्युतिना दंष्ट्राग्रेण पाटितोदरः पुलिन्दो गतासुर्भूतलेऽपतत्। अथ लुब्धक व्यापाद्य शूकरोऽपि शरप्रहारवेदनया पञ्चत्वं गतः। एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदासन्नमृत्युः शृगाल इतस्ततो निराहारतया पीडितः परिभ्रमंस्तं प्रदेशमाजगाम। यावद्वराहपुलिन्दौ द्वावपि पश्यति तावत्प्रहृष्टो व्यचिन्तयत्—'भोः, सानुकूलो मे विधिः। तेनैतदप्यचिन्तितं भोजनमुपस्थितम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

समासः—वनोद्देशे=वनस्य उद्देशे (तत्पु०)। पापर्द्धिम्=पापस्य ऋद्धिम् (तत्पु०)। अञ्जनपर्वतशिखराकारः=अञ्जनः पर्वतः (कर्मधा०), तस्य शिखरम् (तत्पु०)। तद्वद् आकारः यस्य सः (बहु०)। कर्णान्ताकृष्टनिशितसायकेन= कर्णयोरन्तः (तत्पु०), तम् आकृष्टम् (तत्पु०)। तत् निशितम् सायकम् तेन (कर्मधा०)। कोपाविष्टेन=कोपेन आविष्टेन (तत्पु०)। बालेन्दुद्युतिना= बालश्च असौ इन्दुः (कर्मधा०), तस्य द्युतिः इव द्युतिः यस्य तेन (बहु०)। पाटितोदरः=पाटितम् उदरम् यस्य सः (बहु०)। गतासुः=गताः असवः यस्य सः (बहु०)। शरप्रहारवेदनया=शरेण प्रहारः (तत्पु०), तेन वेदना तया (तत्पु०)। आसन्नमृत्युः=आसन्नः मृत्युः यस्य सः (बहु०)। निराहारतया= नास्ति आहारः यस्य सः (बहु०), तस्य भावः निराहारता तया (तद्धित)।

रूपाः—प्रसर्पता=प्र+सृप्+शतृ (अत्)। समासादितः=सम्+आ +सद् (साद्)+इट् (इ)। समाहतः=सम्+आ+हन्+क्त (त)। व्यापाद्य =वि+आ+णिजन्त 'पद्' (पाद्)+क्त्वा (ल्यप्=य)। परिभ्रमन्=परि+ भ्रम्+शतृ (अत्) प्रहृष्टः=प्र+हृष्+क्त (त)।

शब्दार्थः—वनोद्देशे=वन के स्थान में, वन्य प्रदेश में। पुलिन्दः= बहेलिया। पापर्द्धिम्=पाप की वृद्धि को। प्रसर्पता=घूमते हुए। अञ्जनपर्वतशिखराकार.=अञ्जन गिरि (कज्जल गिरि) के शिखर के समान आकार वाला। क्रोडः=सूअर। समासादितः=प्राप्त किया, पाया। कर्णान्ताकृष्टनिशितसायकेन=कान तक खींचे हुए तीक्ष्ण बाण से। समाहतः=चोट की, प्रहार किया, मारा। बालेन्दुद्युतिना=द्वितीया (दोज) के चन्द्र की सी कान्ति वाले से। दंष्ट्राग्रेण=दाढ़ की नोक से। पाटितोदरः=फाड़े गए पेट वाला।

गतासु =निर्जीव, मरा हुआ । व्यापाद्य=मार कर । शरप्रहारवेदनया=बाण के प्रहार की पीडा से । पञ्चत्वम्=मृत्यु को । आसन्नमृत्युः=समीप मृत्यु वाला, जल्दी मरने वाला, मुमूर्षु (मरासू) । वराहपुलिन्दौ=सूअर और बहेलिए को ।

हि० अनु०:—किसी वन्य प्रदेश मे कोई बहेलिया था । वह पाप की वृद्धि करने के लिए (शिकार के द्वारा पापार्जन करने के लिए) वन को गया । तब उसे घूमते हुए कज्जलगिरि के शिखर के समान आकार वाला (काला) एक बडा सूअर मिला । उसे देखकर उसने उसको कान तक खींचे हुए तीक्ष्ण बाण से मारा । उस (सूअर) ने भी क्रुद्ध चित्त के साथ दाढ की नोक से बहेलिए का पेट फाड दिया जिससे वह निर्जीव हो भूतल पर गिर पडा । इस प्रकार बहेलिए को मार कर सूअर भी बाण की चोट की पीडा से मृत्यु को प्राप्त हुआ । इसी बीच मे कोई ऐसा स्यार जिसकी मौत समीप ही थी, भूख से पीडित हो इधर-उधर घूमता हुआ उस स्थान पर आया । उसने ज्योंही सूअर और बहेलिया, दोनो को देखा त्योंही प्रसन्न हो सोचने लगा—'अरे ! विधाता मेरे ऊपर अनुकूल है । इसी से यह अचिन्तित (असभावित) भोजन उपस्थित हो गया है । क्यो न ऐसा हो, यह ठीक ही कहा जाता है—

अकृतेऽप्युद्यमे पुंसामन्यजन्मकृत फलम् ।
शुभाशुभ समभ्येति विधिना संनियोजितम् ॥८२॥

अन्वयः—उद्यमे अकृते अपि पुंसाम् अन्यजन्मकृतम् शुभाशुभम् फलम् विधिना सनियोजितम् समभ्येति ।

समास—अन्यजन्मकृतम्=अन्यानि जन्मानि (कर्मधा०), तेषु कृतम (तत्पु०) ।

व्या:—सनियोजितम्=सम्+नि+णिजन्त 'युज्' (योज्)+इट् (इ)+क्त (त) । समभ्येति='सम्+अभि' पूर्वक 'इण्' (इ) धातु, लट्, प्र० पु०, एक० ।

शब्दार्थः—सनियोजितम्=प्रेरित, दिया हुआ । समभ्येति=आता है, प्राप्त होता है ।

हि०अनु०:—(इस जन्म में) उद्योग न करने पर भी पुरुषों को अन्य जन्मों में उपार्जित शुभ एवं अशुभ फल विधाता के द्वारा प्रेरित होकर (------) प्राप्त होता है।

तथा च ॥

हि० अनु०:—और भी।

> यस्मिन् देशे च काले च वयसा यादृशेन च।
> कृतं शुभाशुभं कर्म तत्तया तेन भुज्यते ॥८३॥

अन्वय.—(सीधा व स्पष्ट है)।

हि० अनु०:—जिस देश में और जिस काल में तथा जैसी आयु के द्वारा शुभ और अशुभ कर्म किया जाता है, वह उस व्यक्ति के द्वारा वैसे ही भोगा जाता है।

तदहं तथा भक्षयामि यथा बहून्यहानि मे प्राणयात्रा भवति। तत्तावदेनं स्नायुपाशं धनुष्कोटिगतं भक्षयामि। उक्तं च—

हि० अनु०:—सो मैं इस प्रकार से खाऊँगा जिससे बहुत दिनों तक मेरी जीवनयात्रा चले। सो पहले धनुष की नोक में लगे हुए उस स्नायुपाश (तांत के जाल) को खाऊँ। कहा भी है—

> शनैः शनैश्च भोक्तव्यं स्वयं वित्तमुपार्जितम्।
> रसायनमिव प्राज्ञैर्हेलया न कदाचन ॥८४॥

अन्वयः—प्राज्ञैः स्वयम् उपार्जितम् वित्तम् रसायनम् इव शनैः शनैः भोक्तव्यम्, कदाचन हेलया न (भोक्तव्यम्)।

व्याः०—भोक्तव्यम्=भुज्+तव्य। प्राज्ञैः=प्रज्ञ+अण् (अ)।

शब्दार्थः—हेलया=एक दम, एक दम और जोर लगा कर। रसायनम्= पारा मिलाकर बनाई हुई उत्तम औषधि।

हि० अनु०:—बुद्धिमान् व्यक्तियों को स्वतः प्राप्त धन का रसायन के समान धीरे-धीरे उपयोग करना चाहिए, कभी एक दम (उपयोग) नहीं (करना चाहिए)।

इत्येवं मनसा निश्चित्य ~~चापूर्वभिनकोटि~~ मुखमध्ये प्रक्षिप्य स्नायुं भक्षितुं

प्रवृत्त.। ततश्च त्रुटिते पाशे तालुदेश विदार्य चापकोटिर्मस्तकमध्येन निष्क्रान्ता। सोऽपि तद्वेदनया तत्क्षणान्मृतः।

समासः—चापघटितकोटिम्=चापस्य घटिता कोटिः ताम् (तत्पु०)।

व्या.०—निश्चित्य=निस्+चि+तुक् (त)+क्त्वा (ल्यप्=य)। प्रक्षिप्य=प्र+क्षिप्+क्त्वा (ल्यप्=य)।

शब्दार्थ—चापघटितकोटिम्=धनुष् की (प्रत्यञ्चा से) बँधी हुई नोक को। प्रक्षिप्य=डाल कर। त्रुटिते=टूटने पर। विदार्य=फाडकर।

हि० अनु०.—ऐसा मन से निश्चय कर धनुष् की (प्रत्यञ्चा से) बँधी नोक को मुख के बीच मे डालकर स्नायु (तांत) खाने लगा। तब तांत के टूटने पर तालुप्रदेश (तालु के स्थान) को फाड कर धनुष् की नोक मस्तक के बीच मे से निकल गई।

अतोऽहं ब्रवीमि—'अतितृष्णा न कर्त्तव्या' इति। स पुनरप्याह—ब्राह्मणि, न श्रुतं भवत्या।

हि०अनु०:—इसलिए मैं कहता हूँ 'अधिक तृष्णा नही करनी चाहिए।' वह फिर भी बोला—'हे ब्राह्मणि' क्या आपने नही सुना ?

आयुः कर्म च वित्त च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥८५॥

अन्वय.—आयु कर्म च वित्तम् च विद्या निधनम् एव च, एतानि पञ्च गर्भस्थस्य एव देहिन. सृज्यन्ते हि।

व्या०:—गर्भस्थस्य=गर्भ+स्था+क (अ)।

शब्दार्थः—निधनम्=मृत्यु।

हि० अनु०—आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु, ये पांच गर्भस्थित ही प्राणी के (विधाता के द्वारा) सृष्ट कर दिए जाते है।

अथैव सा तेन प्रबोधिता ब्राह्मण्याह—'यद्येव तदस्ति मे गृहे स्तोकस्तिलराशि। ततस्तिलांल्लुञ्चित्वा तिलचूर्णेन ब्राह्मणं भोजयिष्यामि इति। ततस्तद्वचन श्रुत्वा ब्राह्मणो ग्राम गत। सापि तिलानुष्णोदकेन समर्द्य कुट्टित्वा

सूर्यातपे दत्तवती । अत्रान्तरे तस्या गृहकर्मव्यग्रायास्तिलाना मध्ये कश्चित्सारमेयो मूत्रोत्सर्गं चकार । त दृष्ट्वा सा चिन्तितवती—'अहो, अहो नैपुण्य पश्य पराङ्-मुखीभूतस्य विधेः, यदेते तिला अभोज्याः कृताः । तदहमेतान् समादाय कस्यचिद् गृह गत्वा लुञ्चितैरलुञ्चितानानयामि । सर्वोऽपि जनोऽनेन विधिना प्रदास्यति' इति ।

समासः—तिलराशि.=तिलानां राशिः (तत्पु०) । उष्णोदकेन=उष्णम् च तद् उदकम् (कर्मधा०) । गृहकर्मव्यग्रायाः=गृहस्य कर्म (तत्पु०), तस्मिन् व्यग्रायाः (तत्पु०) । पराङ्मुखीभूतस्य=न पराङ्मुखः (नञ् तत्पु०), अपराङ्मुखः पराङ्मुखः भूतः (च्वितत्पु०) ।

व्या०:—प्रबोधिता=प्र+णिजन्त 'बुध्' (बोध्)+इट् (इ)+क्त (त)+टाप् (आ) । लुञ्चित्वा=लुञ्च्+इट् (इ)+क्त्वा । (त्वा) । संमर्द्य=सम्+मृद्+क्त्वा (ल्यप्=य) । दत्तवती=दा+क्तवतु (तवत्)+ङीप् (ई) ।

शब्दार्थः—प्रबोधिता=समझाई हुई । स्तोकः=थोडी । लुञ्चित्वा=छील कर, छिलका उतार कर । उष्णोदकेन=गर्म जल से । संमर्द्य=मीड कर । कुट्टित्वा=कूटकर । गृहकर्मव्यग्रायाः=घर के काम मे लगी हुई के । सारमेयः=कुत्ता । मूत्रोत्सर्गम्=मूत्र त्याग को । पराङ्मुखीभूतस्य=प्रतिकूल होने वाले का । लुञ्चितैः=छिले हुओं से । अलुञ्चितान्=बिना छिले हुओं को ।

हि० अनु०:—तब इस प्रकार उस (ब्राह्मण) के द्वारा समझाई हुई वह ब्राह्मणी बोली—'यदि ऐसा है तो मेरे घर मे तिलो की थोडी मात्रा है । सो तिलो को छीलकर तिल के चूर्ण (आटे) से ब्राह्मण को भोजन करा दूँगी । तब उसके वचन को सुनकर ब्राह्मण गांव को चला गया । उसने भी तिलो को गर्म जल से मीड़ कर, कूट कर सूर्य की धूप मे रख दिया । इस बीच में उस (ब्राह्मणी) के गृह-कार्य मे फँस जाने पर तिलो मे किसी कुत्ते ने मूत्र-त्याग कर दिया उसको देखकर वह सोचने लगी—अरे ! प्रतिकूल हो जाने वाले विधाता की कुशलता देखो कि ये तिल अभोज्य कर दिए । सो मैं इनको लेकर किसी के घर

जाकर छिले (तिलो) से बिना छिले (तिलो) को ले आऊँ। सभी लोग इस विधि से दे देंगे।

अथ यस्मिन् गृहेऽहं भिक्षार्थं प्रविष्टस्तत्र गृहे सापि तिलानादाय प्रविष्टा विक्रयं कर्तुम्। आह च गृह्णातु कश्चिदलुञ्चितैर्लुञ्चितास्तिलान्।' अथ तद्गृहगृहिणी प्रविष्टा यावदलुञ्चितैर्लुञ्चितान् गृह्णाति, तावदस्याः पुत्रेण कामन्दकीशास्त्रं दृष्ट्वा व्याहृतम्—'मातः, अग्राह्याः खल्विमे तिलाः। नास्या अलुञ्चितैर्लुञ्चिता ग्राह्या.। कारणं किंचिद् भविष्यति। तेनैषाऽलुञ्चितैर्लुञ्चितान् प्रयच्छति।' तच्छ्रुत्वा तया परित्यक्तास्ते तिलाः। अतोऽहं ब्रवीमि—'नाकस्माच्छाण्डिली मात' इति॥

समास.—तद्गृहगृहिणी=तद् गृहम् (कर्मधा०), तस्य गृहिणी (तत्पु०)।

व्या:—व्याहृतम्=वि+आ+हृ+क्त (त)। अग्राह्याः=नञ् (अ)+ग्रह्+ण्यत् (य)। परित्यक्ताः=परि+त्यज्+क्त (त)।

शब्दार्थ—तद्गृहगृहिणी=उस घर की स्वामिनी (मालकिन)। कामन्दकीशास्त्रम्=इस नाम का प्रसिद्ध नीतिशास्त्र। अग्राह्या.=ग्रहण करने के अयोग्य, ग्रहण नही करने चाहिए। ग्राह्या=ग्रहण करने चाहिए। प्रयच्छति=देती है।

हि० अनु०:—तब जिस घर में भीख के लिए प्रविष्ट हुआ उसी घर मे वह भी तिलो को लेकर बेचने के लिए प्रविष्ट हुई और बोली कि कोई बिना छिले तिलो से छिले हुए तिलों को ले ले। तब उस घर की मालकिन प्रविष्ट हो जैसे ही बिना छिलो से छिले हुओ को लेती है, वैसे ही उसके पुत्र ने कामन्दकीय नीति-शास्त्र देख कर कहा—'माता जी, ये तिल निश्चय ही ग्रहण करने के अयोग्य है, इसके छिले हुए तिलो को बिना छिले तिलो से नही लेना चाहिए। कोई कारण होगा, जिससे यह बिना छिले हुओ से छिले हुओ को देती है।' यह सुन कर उसने वे तिल छोड दिए। इसलिए मैं कहता हूँ—'हे माता, शाण्डिली बिना कारण के ही आदि'।

एतदुक्त्वा स भूयोऽपि प्राह—'अथ ज्ञायते तस्य क्रमणमार्गः।'

हि० अनु०:—यह कह कर वह फिर बोला—'क्या उस (चूहे) के आने

का मार्ग ज्ञात है ?' ताम्रचूड आह—'भगवन् ज्ञायते । यत एकाकी न समागच्छति । किन्त्वसंख्ययूथपरिवृत. पश्यतो मे परिभ्रमितस्तत' सर्वजनेन सहागच्छति याति च ।'

हि० अनु० —ताम्रचूड बोला—'भगवन्, ज्ञात है, क्योंकि अकेला नही आता है । किन्तु असंख्य झुण्डो से युक्त मेरे देखने ही इधर-उधर घूमता हुआ सब साथियों के साथ आता है । और चला जाता है ।'

अभ्यागत आह—'अस्ति किंचित् खनित्रकम् ।'

हि० अनु०:—अतिथि बोला—'कोई फावड़ा है ?'

स आह—'बाढमस्ति । एषा सर्वलोहमयी स्वहस्तिका ।'

हि० अनु०:—वह बोला—'जी है । यह पूरे लोहे की बनी हुई दोनों है ।

अभ्यागत आह—'तर्हि प्रत्यूषे त्वया मया सह स्थातव्यम्, येन द्वावपि जनचरणमलिनायां भूमौ तत्पदानुसारेण गच्छावः ।'

हि० अनु०:—अतिथि साधु बोला—'तो प्रातःकाल तुम्हें मेरे साथ रहना चाहिए, जिससे हम दोनों ही जाता के पैरों से मलिन भूमि में उसके पैरों का अनुसरण करते हुए चलेंगे ।'

मयापि तद्वचनमाकर्ण्य चिन्तितम्—'अहो विनष्टोऽस्मि, यतोऽस्य साभिप्रायवचांसि श्रूयन्ते । नूनं यथा निधानं ज्ञातं तथा दुर्गमप्यस्माकं ज्ञास्यति एतदभिप्रायादेव ज्ञायते । उक्तं च—

हि० अनु०:—मैंने भी उसका वचन सुनकर सोचा—'अरे ! मैं मरा, क्योंकि इसके साभिप्राय (वास्तविक मतलब रखने वाले, गम्भीर) वचन सुनाई देते हैं । निश्चय ही जैसे निधान (धनकोष, खजाना) जान लिया, वैसे ही हमारे दुर्ग को भी जान लेगा । यह इसके अभिप्राय से ही ज्ञात होता है । कहा भी है—

> सकृदपि दृष्ट्वा पुरुषं विबुधा जानन्ति सारतां तस्य ।
> हस्ततुलयापि निपुणाः पलप्रमाणं विजानन्ति ॥८६॥

अन्वयः—विबुधाः सकृत् अपि पुरुषम् दृष्ट्वा तस्य सारताम् जानन्ति, निपुणाः हस्ततुलया अपि पलप्रमाणम् विजानन्ति ।

शब्दार्थ —सारताम्=महत्त्व, सार, तत्त्व। हस्ततुलया=(वस्तु को) हाथ मे लेकर (हिलाते हुए) तौलने से। पलप्रमाणम्=पल (प्राचीन कालीन एक छोटे भार का नाम) के प्रमाण (नाप, तोल भार) को।

हि० अनु०:—विज्ञ जन एक बार भी पुरुष को देखकर उसका महत्त्व जान लेते हैं। निपुण जन हाथ म हिलाकर तौलने से ही पल सरीखे सूक्ष्म परिणाम को जान लेते हैं।

वाञ्छैव सूचयति पूर्वतर भविष्यम्,
पुसा यदन्यतनुज त्वशुभ शुभ वा।
विज्ञायते शिशुरजातकलापचिह्न,
प्रत्युद्गतैरपसरन् सरस कलापी ॥८७॥

अन्वय—पुसाम् वाञ्छा एव यत् तु अन्यतनुजम् अशुभम् शुभम् वा भविष्यम् (सत्) पूर्वतरम् सूचयति, अजातकलापचिह्न शिशु प्रत्युद्गतै अपसरन् सरस कलापी विज्ञायते।

स० टी०—पुसाम् जनानाम् वाञ्छा अभिलाषा एव यत् तु अन्यतनुजम् जन्मा तरे कृतम् अशुभम् असत् शुभम् सद् वा भविष्यम् भविष्यत्कालीन घटना-चक्रम् अस्ति तत् पूर्वतरम् अतीव पूर्वत सूचयति विज्ञापयति सूचयति, अजात-कलापचिह्न अनुत्पन्नबर्हलाञ्छन शिशु मयूरशिशुः प्रत्युद्गतै. स्वागतार्थम् उत्पतनै अपसरन् परावर्तमान सरस रसिक कलापी मयूर. विज्ञायते सूच्यते।

समास—अन्यतनुजम्=अन्या तनु (कर्मधा०) तस्मिन् जातम् (उपपदतत्पु०)। अजातकलापचिह्न=न जातम् अजातम् (नञ् तत्पु०), कलापस्य चिह्नम् (तत्पु०), अजातम् कलापचिह्नम् यस्य स. (बहु०)।

व्या०—अन्यतनुजम्=अन्यतनु+जन्+ड (अ)। प्रत्युद्गतै=प्रति+उद्+गम्+क्त (त)। अपसरन्=अप+सृ+शतृ (अत्)। कलापी=कलाप+इनि (इन्)।

शब्दार्थ—पूर्वतरम्=बहुत पहले ही। अन्यतनुजम्=जन्मान्तर मे

उपार्जित । अजातकलापचिह्न.=जिसके पखो का चिह्न उत्पन्न नहीं हुआ है । प्रत्युद्गतैः=स्वागत के लिए उछलने के द्वारा । अपसरन्=हटता हुआ ।

हि० अनु०:—पुरुषों की अभिलाषा ही जन्मान्तर मे उपार्जित अशुभ या शुभ भविष्य को बहुत पहले ही सूचित कर देती है, जिसके पखो के चिह्न उत्पन्न नही हुए हैं, ऐसा मोर का बच्चा भी स्वागत के लिए उछलने के द्वारा हटता हुआ (भविष्य मे बनने वाला) नृत्यरसिक मोर सूचित हो जाता है (मोर का बच्चा बचपन मे ही अपने कूदने से यह सूचित कर देता है कि वह आगे एक रसिक मयूर बनेगा) ।

विशेषः—यहाँ एक ही धर्म 'सूचन' को भिन्न-भिन्न शब्दो के द्वारा कहने के कारण 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार है ।

ततोऽहं भयत्रस्तमनाः सपरिवारो दुर्गमार्गं परित्यज्यान्यमार्गेण गन्तुं प्रवृत्तः । सपरिजनो यावदग्रतो गच्छामि तावत्संमुखो बृहत्कायो मार्जार. समायाति । स च मूषकवृन्दमवलोक्य तन्मध्ये सहसोत्पपात । अथ ते मूषका मां कुमार्गगामिनमवलोक्य गर्हयन्तो हतशेषा रुधिरप्लावितवसुंधरास्तमेव दुर्गं प्रविष्टाः । अथवा साध्विदमुच्यते—

समासः—भयत्रस्तमनाः=भयेन त्रस्तं मनः यस्य सः (बहु०) । बृहत्कायः =बृहत् कायः यस्य सः (बहु०) । रुधिरप्लावितवसुंधराः=रुधिरेण प्लाविता वसुंधरा यैः ते (बहु०) ।

व्या०—कुमार्गगामिनम्=कुमार्ग+गम्+णिनि (इन्) । गर्हयन्त.= गर्ह् (गर्हय्)+शतृ (अत्) ।

शब्दार्थ—भयत्रस्तमनाः=भय से भीत चित्त वाला । दुर्गमार्गम्=बिल रूपी किले के मार्ग को । मार्जारः=बिलाव । मूषकवृन्दम्=चूहों के समूह को । सहसा=अचानक, एक दम । उत्पपात=उछल कर झपटा । कुमार्गगामिनम्=खराब मार्ग पर चलने वाले को । गर्हयन्तः=निन्दा करते हुए । हतशेषाः=मरने से बचे हुए, मरे हुओं से बचे हुए । रुधिरप्लावितवसुंधरा.= जिन्होंने खून से जमीन को सराबोर कर दिया है ।

शब्दार्थ —सारताम=महत्त्व, सार, तत्त्व। हस्ततुलया=(वस्तु को) हाथ में लेकर (हिलाते हुए) तोलने से। पलप्रमाणम्=पल (प्राचीन कालीन एक छोटे भार का नाम) के प्रमाण (नाप, तोल भार) को।

हि० अनु०:—विज्ञ जन एक बार भी पुरुष को देखकर उसका महत्त्व जान लेते हैं। निपुण जन हाथ में हिलाकर तोलने से ही पल सरीखे सूक्ष्म परिणाम को जान लेते हैं।

वाञ्छैव सूचयति पूर्वतरं भविष्यम्,
पुंसां यदन्यतनुजं त्वशुभं शुभं वा।
विज्ञायते शिशुरजातकलापचिह्नः,
प्रत्युद्गतैरपसरन् सरसः कलापी ॥८७॥

अन्वय—पुंसाम् वाञ्छा एव यत् तु अन्यतनुजम् अशुभम् शुभम् वा भविष्यम् (तत्) पूर्वतरम् सूचयति, अजातकलापचिह्नः शिशुः प्रत्युद्गतैः अपसरन् सरसः कलापी विज्ञायते।

स० टी०—पुंसाम् जनानाम् वाञ्छा अभिलाषा एव यत् तु अन्यतनुजम् जन्मान्तरे कृतम् अशुभम् असत् शुभम् सत् वा भविष्यम् भविष्यत्कालीन घटनाचक्रम् अस्ति तत् पूर्वतरम् अतीव पूर्वम् सूचयति विज्ञापयति सूचयति, अजातकलापचिह्नः अनुत्पन्नबर्हलाञ्छनः शिशुः मयूरशिशुः प्रत्युद्गतैः स्वागतार्थम् उत्पतनैः अपसरन् परावर्तमानः सरसः रसिकः कलापी मयूरः विज्ञायते सूच्यते।

समास—अन्यतनुजम्=अन्या तनुः (कर्मधा०) तस्मिन् जातम् (उपपदतत्पु०)। अजातकलापचिह्नः=न जातम् अजातम् (नञ् तत्पु०), कलापस्य चिह्नम् (तत्पु०), अजातम् कलापचिह्नम् यस्य सः (बहु०)।

व्या०—अन्यतनुजम्=अन्यतनु+जन्+ड (अ)। प्रत्युद्गतैः=प्रति+उद्+गम्+क्त (त)। अपसरन्=अप+सृ+शतृ (अत्)। कलापी=कलाप+इनि (इन्)।

शब्दार्थ—पूर्वतरम्=बहुत पहले ही। अन्यतनुजम्=जन्मान्तर में

उपार्जित । अजातकलापचिह्न.=जिसके पखो का चिह्न उत्पन्न नही हुआ है । प्रत्युद्गतै =स्वागत के लिए उछलने के द्वारा । अपसरन्=हटता हुआ ।

हि० अनु०:—पुरुषो की अभिलाषा ही जन्मान्तर मे उपार्जित अशुभ या शुभ भविष्य का बहुत पहले ही सूचित कर देती है, जिसके पखो के चिह्न उत्पन्न नही हुए हैं, ऐसा मोर का बच्चा भी स्वागत के लिए उछलने के द्वारा हटता हुआ (भविष्य मे बनने वाला) नृत्यरसिक मोर सूचित हो जाता है (मोर का बच्चा बचपन मे ही अपने कूदने से यह सूचित कर देता है कि वह आगे एक रसिक मयूर बनेगा) ।

विशेषः—यहाँ एक ही धर्म 'सूचन' को भिन्न-भिन्न शब्दो के द्वारा कहने के कारण 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार है ।

ततोऽहं भयत्रस्तमनाः सपरिवारो दुर्गमार्गं परित्यज्यान्यमार्गेण गन्तु प्रवृत्त. । सपरिजनो यावदग्रतो गच्छामि तावत्सम्मुखो बृहत्कायो मार्जार. समायाति । स च मूषकवृन्दमवलोक्य तन्मध्ये सहसोत्पपात । अथ ते मूषका माँ कुमार्गगामिनमवलोक्य गर्हयन्तो हतशेषा रुधिरप्लावितवसुंधरास्तमेव दुर्गं प्रविष्टाः । अथवा साध्विदमुच्यते—

समासः—भयत्रस्तमनाः=भयेन त्रस्त मन. यस्य सः (बहु०) । बृहत्कायः =बृहन् कायः यस्य सः (बहु०) । रुधिरप्लावितवसुधराः=रुधिरेण प्लाविता वसुंधरा यैः ते (बहु०) ।

व्या:०—कुमार्गगामिनम्=कुमार्ग+गम्+णिनि (इन्) । गर्हयन्त = गर्ह् (गर्हय्)+शतृ (अत्) ।

शब्दार्थ —भयत्रस्तमना =भय से भीत चित्त वाला । दुर्गमार्गम्=बिल रूपी किले के मार्ग को । मार्जार.=बिलाव । मूषकवृन्दम्=चूहो के समूह को । सहसा=अचानक, एक दम । उत्पपात=उछल कर झपटा । कुमार्गगामिनम्=खराब मार्ग पर चलने वाले को । गर्हयन्तः=निन्दा करते हुए । हतशेषाः=मरने से बचे हुए, मरे हुओ से बचे हुए । रुधिरप्लावितवसुंधरा = जिन्होने खून से जमीन को सराबोर कर दिया है ।

हि० अनु० —तब मैं भयभीत चित्त से सपरिवार दुग (बिल) के मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग से जाने लगा। सपरिवार ज्यों ही आगे गया त्यों ही सामने विशाल शरीर वाला बिलाव आया। वह चूहा के समूह को देखकर उनके बीच मे एकदम उछल कर झपटा। तब वे चूहे मुझे खोटे मार्ग पर चलता हुआ देखकर मेरी नि दा करते हुए मरे हुओ से बचे हुए खून से जमीन को सराबोर करते हुए, उमी दुग (बिल) म घुस गए। क्या न ऐसा हो, यह ठीक ही कहा जाता है—

छित्वा पाशमपास्य कूटरचना भङ्क्त्वा बलाद् वागुराम्,
पय-तानिनशिखाकलापजटिलान्निर्गत्य दूर वनात्।
व्याधाना शरगोचरादपि जवेनोत्पत्य धाव-मृग,
कूपान्त पतित. करोतु विधुरे किं वा विधौ पौरुषम् ॥८८॥

अन्वय—पाशम् छित्वा कूटरचनाम् अपास्य वागुराम् बलाद् भङ्क्त्वा पय तानिनशिखाकलापजटिलाद् वनाद् दूरम् निगत्य व्याधानाम् शरगोचराद अपि जवेन उत्पत्य धावन् मृग कूपा त पतित, विधौ विधुरे किम् वा पौरुषम् करोतु।

स० टी० —पाशम् ब-धनजालम् छित्वा द्विधीकृत्य कूटरचनाम् मायाजालम् अपास्य दूरीकृत्य वागुराम् ब-धनशृंखलाम् भङ्क्त्वा त्रोटयित्वा पय ताग्नि शिखाकलापजटिलात सवत अमृतवह्निज्वालासमूहव्याप्ताद् वनाद् अरण्याद् दूरम् विप्रकृष्टम् निगम्य निष्क्रम्य व्याधानाम् लुब्धकानाम् शरगोचराद् बाणलक्ष्याद् अपि जवेन उत्पत्य उत्प्लुत्य धावन् मृग हरिण कूपा त कूपमध्ये पतित पपात विधौ विधातरि विधुरे प्रतिकूले सति किम् वा पौरुषम् पुरुषार्थम् स करोतु विदधातु।

समास—कूटरचनाम=कूटाम् कूटयुक्ताम् वा रचनाम् (कमधा०)। पय तानिनशिखाकलापजटिलात्=पय-त अग्नि (कमधा०) तस्य शिखा (तत्पु०) तासाम् कलाप (तत्पु०) तेन जटिलम् तस्मात् (तत्पु०)। शरगोचरात्=शराणाम् गोचरम् तस्मात् (तत्पु०)।

व्या० —छित्वा=छिद्+क्त्वा (त्वा)। अपास्य=अप+अस्+क्त्वा

(ल्यप्=य)। भङ्क्त्वा=भञ्ज्+क्त्वा (त्वा)। निर्गत्य=निस्+गम्+क्त्वा (ल्यप्=य)। उत्पत्य=उत्+पत्+क्त्वा (ल्यप्=य)। पतितः=पत्+इट् (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थः—पाशम्=बन्धन-जाल को। छित्त्वा=काट कर। कूटरचनाम्=मायामयी रचना को। अपास्य=हटा कर। वागुराम्=बन्धन की जंजीर को। भङ्क्त्वा=तोड़कर। पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलात्=चारों ओर फैले हुए अग्नि की ज्वालाओं के समूह से जटिल (व्याप्त) से। निर्गत्य=निकल कर। शरगोचरात्=बाणों के लक्ष्य से। जवेन=वेग से। उत्पत्य=उछल कर विधुरे=प्रतिकूल होने पर।

हि० अनु०:—बन्धनभूत जाल को काट कर (पकड़ने के लिए फैलाई गई) मायामयी रचना को हटा कर, बन्धन की जंजीर को बल से तोड़ कर, चारों ओर फैले हुए अग्नि की ज्वालाओं के समूह से व्याप्त वन से बाहर दूर निकल कर, व्याधों के बाणों के लक्ष्य से भी बच कर वेग के साथ उछल कर दौड़ता हुआ मृग कुएं के भीतर गिर पड़ा, विधाता के प्रतिकूल होने पर (वह बेचारा) क्या करता ?

विशेषः—सब कुछ प्रयत्न करने पर भी मृग न बच सका तो सिद्ध है कि विधाता ही उस बेचारे के प्रतिकूल था और ऐसी स्थिति में वह और क्या कर सकता था ? यह अन्योक्ति है और ऐसे व्यक्तियों पर लागू होती है जो बेचारे अपने बचने का सब कुछ प्रयत्न करते हैं, किन्तु बच नहीं पाते।

अथाहमेकोऽन्यत्र गतः। शेषा मूढतया तत्रैव दुर्गे प्रविष्टाः। अत्रान्तरे स दुष्टपरिव्राजको रुधिरबिन्दुचर्चितां भूमिमवलोक्य तेनैव दुर्गमार्गेणागत्योपस्थितः। ततश्च स्वहस्तिकया खनितुमारब्धः। अथ तेन खनता प्राप्तं तन्निधानं यस्योपरि सदैवाहं कृतवसतिर्यस्योष्मणा महादुर्गमपि गच्छामि।

समासः—दुष्टपरिव्राजकः=दुष्टश्चासौ परिव्राजकः (कर्मधा०)। रुधिर-बिन्दुचर्चिताम्=रुधिरस्य बिन्दवः (तत्पु०), तैः चर्चिताम् (तत्पु०)। कृतवसतिः=कृता वसतिः येन सः (बहु०)।

व्या०—खनितुम्=खन्+इट् (इ)+तुमुन् (तुम्)। आरब्ध=आ+रभ्+क्त (त) खनता=खन्+शतृ (अत्)।

शब्दार्थ—मूढतया=मूर्खता से। दुष्टपरिव्राजक=दुष्ट संन्यासी। रुधिरविन्दुचर्चिताम्=खून की बूँदों से चिह्नित को। स्वहस्तिकया=दोनों से। खनितुम् आरब्ध=खोदने लगा। खनता=खोदते हुए। कृतवसति=निवास करता हुआ। ऊष्मणा=गर्मी से। महादुर्गम=बड़े किले को।

हि० अनु०—फिर मैं अकेला और स्थान पर चला गया। बचे हुए (चूहे) मूर्खता के कारण उसी दुर्ग (बिल) में घुस गए। इस बीच में वह दुष्ट संन्यासी खून की बूँदों से चिह्नित भूमि को देखकर उसी किले (बिल) के मार्ग से आकर उपस्थित हुआ। तब वह दोनों से खोदने लगा। तब उसने खोदते हुए वह धनकोष (खजाना) पा लिया जिसके ऊपर मैं सदा ही रहता हुआ जिसकी गर्मी से बड़े किले पर भी पहुँच जाता था।

ततो हृष्टमनास्ताम्रचूडमिदमूचे ऽभ्यागत—भो भगवन् इदानीं स्वपिहि निःशङ्कः। अस्योष्मणा मूषकस्ते जागरकः सम्पादयति।' एवमुक्त्वा निधानमादाय मठाभिमुखं प्रस्थितौ द्वावपि।

हि० अनु०—तब प्रसन्नचित्त हो वह अतिथि साधु ताम्रचूड से बोला—हे भगवन् अब निश्चिन्त सोओ। इसकी गर्मी से यह चूहा तुम्हारा जागरण करता था। ऐसा कहकर धन कोष को लेकर मठ की ओर वे दोनों चल दिए।

अहमपि यावन्निधानरहितं स्थानमागच्छामि, तावदरमणीयमुद्वेगकारकं तत्स्थानं वीक्षितुमपि न शक्नोमि। अचिन्तयं च—'किं करोमि। क्व गच्छामि। कथं मे स्यान्मनसः प्रशान्तिः। एवं चिन्तयतो महाकष्टेन स दिवसो व्यतिक्रान्तः। अथास्तमितेऽर्के सोद्वेगो निरुत्साहस्तस्मिन् मठे सपरिवारः प्रविष्टः। अथास्मत्परिग्रहशब्दमाकर्ण्य ताम्रचूडोऽपि भूयो भिक्षापात्रं जर्जरवंशेन ताडयितुं प्रवृत्तः। अथासावभ्यागतः प्राह—सखे मा भैषीः, वित्तेन सह गतोऽस्य कूर्दनोत्साहः। सर्वेषामपि जन्तूनामियमेव स्थितिः। उक्तं च—

समास—निधानरहितम्=निधानेन रहितम् (तत्पु०)। उद्वेगकारकम्=

उद्वेगस्य कारकम् (तत्पु०)। अस्मत्परिग्रहशब्दम्=अस्माकम् परिग्र०० (तत्पु०), तस्य शब्दम् (तत्पु०)।

व्या:०—अरमणीयम्=नञ् (अ)+रम्+अनीयर् (अनीय)। कारकम्=कृ+ण्वुल् (वु=अक)। प्रशान्तिः=प्र+शम्+क्तिन् (ति)। चिन्त (चिन्तम्)+शतृ (अत्)। व्यतिक्रान्तः=वि+अति+क्रम+क्त (त)। अस्तमिते=अस्तम्+इ+क्त (त) ताडयितुम्=तड् (ताड्य)+इट् (इ)+तुमुन् (तुम्)। कूर्दन=कूर्द्+ल्युट् (यु=अन)। स्थितिः=स्था+क्तिन् (ति)।

शब्दार्थ—अरमणीयम्=जो मन को अच्छा न लगे, अशोभन। उद्वेगकारकम्=उद्वेग (बेचैनी) करने वाला। वीक्षितुम्=देखने को। व्यतिक्रान्तः=व्यतीत हुआ। अस्तमिते=अस्त होने पर। सोद्वेगः=बेचैनी के साथ। निरुत्साह=उत्साहरहित। अस्मत्परिग्रहशब्दम्=हमारे परिजन (साथियों) के शब्द को। ताडयितुम्=पीटने को। प्रवृत्तः=प्रवृत्त हुआ। मा भैषी:=डरो मत। कूर्दनोत्साह=कूदने का उत्साह। स्थिति=दशा, हालत।

हि० अनु०:—मैं भी ज्यों ही धनकोष से रहित स्थान पर पहुँचा तो अशोभन एवं बेचैनी पैदा करने वाले उस स्थान को देख भी नहीं सका और सोचने लगा—'क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? मेरे मन को शान्ति कैसे हो?' ऐसे सोचते हुए मेरा वह दिन बड़े कष्ट से व्यतीत हुआ। फिर सूर्य के अस्त होने पर उद्वेगसहित एवं उत्साहरहित मैं उस मठ में सपरिवार प्रविष्ट हुआ। तब हमारे परिजन (साथियों) के शब्द को सुनकर ताम्रचूड भी फिर भिक्षापात्र को फटे बांस से पीटने लगा। तब वह अभ्यागत (अतिथि साधु) बोला—'मित्र, डरो मत। धन के साथ इसके कूदने का उत्साह चला गया। सभी प्राणियों की यही दशा होती है। कहा भी है—

यदुत्साही सदा मर्त्यः पराभवति यज्जनान्।
यदुद्धतं वदेद् वाक्यं तत्सर्वं वित्तजं बलम्॥८६॥

अन्वय—यत् मर्त्यः सदा उत्साही, यत् जनान् पराभवति, यद् उद्धतम् वाक्यम् वदेत्, तत् सर्वम् वित्तजम् बलम् (अस्ति)।

हि० अनु०—जो कि मनुष्य सदा उत्साही रहता है, जो कि वह लोगों को पराभूत (अपमानित या पराजित) करता है, जो कि वह उद्धत (असभ्यतापूर्ण) वाक्य बोलता है, वह सब धन से उत्पन्न होने वाला बल है।

अथाहं तच्छ्रुत्वा कोपाविष्टो भिक्षापात्रमुद्दिश्य विशेषादुत्कूर्दितोऽप्राप्त एव भूमौ निपतितः। तच्छ्रुत्वासौ मे शत्रुर्विहस्य ताम्रचूडमुवाच— भो, पश्य, पश्य कौतूहलम्। आह च—

हि० अनु०—तब मैं यह सुनकर कोपयुक्त हो भिक्षापात्र को लक्ष्य बनाकर विशेष रूप से (जोर लगाकर) उछला और वहाँ बिना पहुँचे ही जमीन पर गिर पड़ा। यह सुनकर वह मेरा शत्रु हँस कर ताम्रचूड से बोला—'अरे ! देखो-देखो आश्चर्य की बात, और बोला—

अर्थेन बलवान् सर्वोऽप्यर्थयुक्तः स पण्डितः।
पश्यैनं मूषकं व्यर्थं स्वजातेः समतां गतम् ॥९०॥

अन्वयः—सर्वः अपि अर्थेन बलवान्, अर्थयुक्तः स पण्डितः, एनम् व्यर्थम् स्वजातेः समताम् गतम् मूषकम् पश्य।

समासः—अर्थयुक्तः =अर्थेन युक्तः (तत्पु०)

हि० अनु०:—सब कोई धन से बलवान् होता है, धन से युक्त होने पर वह पण्डित (हो जाता है) इस बेकार और अपनी जाति की समता को प्राप्त करने वाले चूहे को देखो।

तत्स्वपिहि त्वं गतशङ्कः। यदस्योत्पतनकारणं तदावयोर्हस्तगतं जातम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

हि० अनु०—सो तुम निःशङ्क होकर सोओ। इसके उछलने का जो कारण था, वह हम दोनों के हाथ में आ गया। क्यों न ऐसा हो, यह ठीक कहा जाता है—

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः।
तथार्थेन विहीनोऽत्र पुरुषो नाममधारकः ॥९१॥

अन्वय —यथा दंष्ट्राविरहितः सर्पः, यथा मदहीनः गजः, तथा अत्र अर्थेन विहीनः पुरुषः नामधारकः (भवति)।

समासः—दंष्ट्राविरहित =दंष्ट्रया विरहितः (तत्पु०)। मदहीनः=मदेन हीनः (तत्पु०)। नामधारकः=नाम्नः धारकः (तत्पु०)।

व्या०:—धारक=धृ+ण्वुल् (वु=अक)।

शब्दार्थः—दंष्ट्राविरहितः=दाढ से रहित। नामधारकः=नाम मात्र का।

हि० अनु०.—जिस प्रकार दाढ से रहित सर्प (नाम मात्र का सर्प होता है) और जिस प्रकार मद से रहित हाथी (नाम मात्र का हाथी होता है), उसी प्रकार इस जगत में धन से रहित पुरुष नाम मात्र का पुरुष होता है (ये सर्प आदि अपने स्वरूप के अनुकूल कुछ कर नहीं सकते, इनका केवल नाम ही सर्प आदि होता है)।

तच्छ्रुत्वाहं मनसा विचिन्तितवान्—'यतोऽङ्गुलिमात्रमपि कूर्दनशक्तिर्नास्ति, तद्धिगर्थहीनस्य पुरुषस्य जीवितम्। उक्तं च—

हि० अनु०:—यह सुन कर मैं मन मे सोचने लगा—'चूँकि अँगुल भर भी कूदने की मेरी शक्ति नहीं है, अतः धनविहीन पुरुष के जीवन को धिक्कार है। कहा भी है—

> अर्थेन च विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः।
> उच्छिद्यन्ते क्रिया. सर्वाः ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥६२॥

अन्वयः—अर्थेन विहीनस्य अल्पमेधसः च पुरुषस्य सर्वा. क्रियाः उच्छिद्यन्ते, यथा ग्रीष्मे कुसरित. (उच्छिद्यन्ते)।

समासः—अल्पमेधस =अल्पा मेधा यस्य तस्य (बहु०) कुसरितः=कुत्सिताः सरितः (तत्पु०)।

व्या०:—उच्छिद्यन्ते='उत्' पूर्वक 'छिद्' धातु, कर्मवाच्य, लट्, प्र० पु०, बहु०।

शब्दार्थ.—अल्पमेधस =कम बुद्धि वाले की। उच्छिद्यन्ते=उच्छिन्न

(छिन्न-भिन्न) हो जाती हैं। ग्रीष्मे=गर्मी की ऋतु मे। कुसरित.=छोटी नदियाँ।

हि० अनु०.—धनविहीन और अल्पबुद्धि व्यक्ति की सब क्रियाएँ उसी प्रकार उच्छिन्न (छिन्न-भिन्न) हो जाती हैं, जिस प्रकार गर्मी की ऋतु मे छोटी नदियाँ (सूख कर छिन्न-भिन्न हो जाती हैं)।

यथा काकयवाः प्रोक्ता यथारण्यभवास्तिलाः।
नाममात्रा न सिद्धौ हि धनहीनास्तथा नरा ॥६३॥

अन्वयः—यथा काकयवाः नाममात्रा प्रोक्ता सिद्धौ न हि, यथा अरण्यभवा. तिला (नाममात्रा प्रोक्ता. सिद्धौ न हि), तथा धनहीना. नराः (नाममात्रा प्रोक्ता सिद्धौ न हि)

समासः—अरण्यभवाः=अरण्ये भवः यषा ते (बहु०)। नाममात्रा = केवलम् नाम येषा ते (बहु०)। धनहीना =धनेन हीना. (तत्पु०)।

शब्दार्थ—काकयवा.=एक प्रकार के जौ जो अन्न व रूप मे खाने के काम नही आते। अरण्यभवाः=वन मे उत्पन्न होने वाले।

हि० अनु०—जिस प्रकार काकयव और वन मे होने वाले तिल नाम मात्र के जौ और तिल होते हैं, किसी काम नही आ सकते, उसी प्रकार धनहीन नर नाममात्र के नर होते है, किसी काम मे नहीं आ सकते, (अपितु बेकार होते हैं)।

सन्तोऽपि न हि राजन्ते दरिद्रस्येतरे गुणा।
आदित्य इव भूतानाम् श्रीर्गुणाना प्रकाशिनी ॥६४॥

अन्वयः—दरिद्रस्य इतरे गुणा. सन्त. अपि न हि राजन्ते, भूतानाम् आदित्य इव श्री गुणानाम् प्रकाशिनी (भवति)।

व्या०:—सन्त =अस्+शतृ (अत्)। प्रकाशिनी=प्र+काश्+णिनि (इन)+ङीप् (ई)।

शब्दार्थ—राजन्ते=प्रकाशित या शोभित होते हैं।

हि० अनु०—दरिद्र व्यक्ति के (धन के अलावा) अन्य गुण होते हुए भी

प्रकाशित नहीं होते, जिस प्रकार सूर्य प्राणियों एवं अन्य भौतिक पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार लक्ष्मी गुणों की प्रकाशिका होती है।

न तथा बाध्यते लोके प्रकृत्या निर्धनो जनः।
यथा द्रव्याणि संप्राप्य तैर्विहीनः सुखे स्थितः ॥६५॥

अन्वयः—लोके प्रकृत्या निर्धनः जनः तथा न बाध्यते, यथा द्रव्याणि संप्राप्य सुखे स्थितः (जनः) तैः विहीनः (भूत्वा बाध्यते)।

व्या०:—बाध्यते='बाध्' धातु, कर्मवाच्य, लट्, प्र०पु०,एक०। संप्राप्य= सम्+प्र+आप्+क्त्वा (ल्यप्=य)। स्थितः=स्था+क्त (त)।

शब्दार्थः—बाध्यते=पीडित या दुःखी होता है। प्रकृत्या—स्वभाव से ही, पहले से ही। संप्राप्य=प्राप्त कर।

हि० अनु०:—लोक में पहले से ही निर्धन जन उतना दुःखी नहीं होता है, जितना कि धन को प्राप्त कर सुख में स्थित जन धन विहीन होने पर दुःखी होता है।

शुष्कस्य कीटखातस्य वह्निदग्धस्य सर्वतः।
तरोरप्यूषरस्थस्य वरं जन्म न चार्थिनः ॥६६॥

अन्वयः—शुष्कस्य कीटखातस्य सर्वतः वह्निदग्धस्य ऊषरस्थस्य तरोः अपि जन्म वरम् अर्थिनः (जन्म) च न (वरम्)।

समासः—कीटखातस्य=कीटैः खातस्य (तत्पु०)। वह्निदग्धस्य=वह्निना दग्धस्य (तत्पु०)। ऊषरस्थस्य=ऊषरे तिष्ठति तस्य (उपपद तत्पु०)।

व्या०:—ऊषरस्थस्य=ऊषर+स्था+क (अ)। अर्थिनः=अर्थ+णिनि (इन्)।

शब्दार्थ—कीटखातस्य=कीड़ों के द्वारा खोदे (खाए) हुए का। वह्निदग्धस्य=आग के द्वारा जलाए हुए का। ऊषरस्थस्य=ऊसर में स्थित का। अर्थिनः=माँगने वाला (मंगता) का।

हि० अनु०:—सूखे हुए, कीड़ों के द्वारा खोदे (खाए) हुए और आग के द्वारा जलाए हुए ऊसर में स्थित वृक्ष का भी जन्म अच्छा है, किन्तु याचक का जन्म अच्छा नहीं है।

शङ्कनीया हि सर्वत्र निष्प्रतापा दरिद्रता ।
उपकर्तुमपि प्राप्तं निःस्वं सत्यज्य गच्छति ॥९७॥

अन्वयः—सर्वत्र निष्प्रतापा दरिद्रता शङ्कनीया हि, उपकर्तुम् अपि प्राप्तम् निः स्व सत्यज्य गच्छति ।

समासः—निष्प्रतापा=नास्ति प्रतापः यस्याः (बहु०) नि स्वम्=नास्ति स्वम् यस्य तम् (बहु०) ।

व्या०:—दरिद्रता=दरिद्र+तस् (त)+टाप् (आ) । शङ्कनीया=शङ्क्+अनीयर् (अनीय)+टाप् (आ) । उपकर्तुम्=उप+कृ+तुमुन् (तुम) । संत्यज्य=सम्+त्यज्+क्त्वा (ल्यप्=य) ।

शब्दार्थः—निष्प्रतापा=प्रतापहीन । नि.स्वम्=धनहीन ।

हि० अनु०:—सभी जगह प्रतापहीन दरिद्रता से शङ्कित ही रहना चाहिए। (क्योंकि यह) उपकार करने के लिए भी आने वाले को धनहीन बनाकर छोड़ जाती है (जो गरीब की मदद करे, वह भी गरीब बन जाता है, अतः गरीबी से शङ्कित ही रहना चाहिए ।)

उन्नम्योन्नम्य तत्रैव निर्धनानां मनोरथाः ।
हृदयेष्वेव लीयन्ते विधवास्त्रीस्तनाविव ॥९८॥

अन्वयः—निर्धनानाम् मनोरथाः विधवास्त्रीस्तनौ इव उन्नम्य उन्नम्य तत्र एव हृदयेषु एव लीयन्ते ।

समासः—निर्धनानाम्=नास्ति धनम् येषां तेषाम् (बहु०) । विधवास्त्रीस्तनौ=विधवा च असौ स्त्री (कर्मधा०), तस्याः स्तनौ (तत्पु०) ।

व्या० —उन्नम्य=उत्+नम्+क्त्वा (ल्यप्=य) ।

शब्दार्थ.—उन्नम्य=उठकर, ऊँचे होकर । लीयन्ते=लीन हो जाते हैं, छिप जाते हैं ।

हि० अनु०:—निर्धन व्यक्तियों के मनोरथ विधवा स्त्री के स्तनों के समान वहीं हृदयों में ही उठ-उठकर लीन हो जाते हैं (अदृश्य हो जाते हैं) ।

व्यक्तेऽपि वासरे नित्यं दौर्गत्यतमसावृतः ।
अग्रतोऽपि स्थितो यत्नान्न केनापीह दृश्यते ॥९९॥

अन्वयः—वासरे नित्यम् व्यक्ते अपि यत्नात् अग्रतः स्थित. अपि दौर्गत्य-तमसा आवृत जन. इह केन अपि न दृश्यते ।

समास·—दौर्गत्यतमसा=दौर्गत्यम् एव तमः तेन (कर्मधा०) ।

व्या०.—व्यक्ते=वि+अञ्ज्+क्त (त) । दौर्गत्य=दुर्गति+ष्यञ (य) ।

शब्दार्थ—वासरे=दिन के । व्यक्ते=प्रकट होने पर, निकलने पर । दौर्गत्यतमसा=दुर्गति (गरीबी) रूपी अन्धकार से । आवृतः=ढका हुआ, घिरा हुआ ।

हि० अनु०:—दिन के रोज निकलने पर भी यत्नपूर्वक सबसे आगे स्थित भी दुर्गति (गरीबी) रूपी अन्धकार से ढका हुआ व्यक्ति किसी की दृष्टि में नहीं पड़ता । (बेचारे गरीब को कोई नहीं देख पाता ।)

एवं विलप्याह भग्नोत्साहस्तन्निधानं गण्डोपधानीकृतं दृष्ट्वा स्वं दुर्गं प्रभाते गतः । ततश्च मद्भृत्याः प्रभाते गच्छन्तो मिथो जल्पन्ति—अहो, असमर्थो-ऽयमुदरपूरणेऽस्माकम् । केवलमस्य पृष्ठलग्नाना बिडालादिविपत्तयः । तत्किमनेना-राधितेन । उक्तं च—

समास:—भग्नोत्साह =भग्नः उत्साह यस्य स. (बहु०) गण्डोपधानी-कृतम्=गण्डस्य उपधानम् (तत्पु०), अगण्डोपधानम् गण्डोपधानं कृतम् (च्वि तत्पु०) ।

व्या०:—विलप्य=वि+लप्+क्त्वा (ल्यप्=य) । भग्न=भञ्ज्+क्त (त) । आराधितेन=आ+राध्+इट् (इ)+क्त (त) ।

शब्दार्थ—भग्नोत्साहः=भग्न (टूटे) उत्साह वाला । गण्डोपधानीकृतम्=कनपटी का तकिया बना हुआ । जल्पन्ति=बातें करते हैं । पृष्ठलग्नानाम्=पीछे लगे हुओं का ।

हि० अनु०·—इस प्रकार रोकर मैं टूटे हुए उत्साह के साथ उस धनकोष को कनपटी का तकिया बना देखकर अपने बिल पर सुबह चला आया । इसके

बाद मेरे सेवक प्रातःकाल आपस मे बातें करने लगे—'अरे ! यह हमारे उदर की पूर्ति करने मे असमर्थ है । इसके पीछे लगने पर हमको केवल बिलाव आदि की विपत्तियाँ ही प्राप्त होती हैं । सो इसकी आराधना (सेवा) करने से क्या (प्रयोजन है) । कहा भी है—

यत्सकाशान्न लाभः स्यात्केवलाः स्युर्विपत्तयः ।
स स्वामी दूरतस्त्याज्यो विशेषादनुजीविभिः ॥१००॥

अन्वयः—यत्सकाशात् लाभः न स्यात्, केवलाः विपत्तयः स्युः, स स्वामी दूरतः त्याज्यः, अनुजीविभिः विशेषात् (दूरतः त्याज्यः) ।

समासः—यत्सकाशात्=यस्य सकाशम् तस्मात् (तत्पु०) ।

व्या०ः—त्याज्यः=त्यज्+ण्यत् (य) । अनुजीविभिः=अनु+जीव्=णिनि (इन्) ।

शब्दार्थः—यत्सकाशात्=जिसके पास से । अनुजीविभिः=अनुजीवियो के द्वारा, दूसरे के आधार पर जीविका करने वालो के द्वारा ।

हि० अनु०ः—जिसके पास रहने से कोई लाभ न हो, अपितु केवल विपत्तियाँ हों, वह मालिक दूर से ही छोड देना चाहिए और ऐसे व्यक्तियो के द्वारा जिनकी जीविका उसी के अधीन हो उन्हें तो और भी विशेष रूप से उसे दूर ही छोड देना चाहिए ।

एवं तेषां वचांसि श्रुत्वा स्वदुर्गं प्रविष्टोऽहम् । यावन्नो कश्चिन्मम संमुखेऽभ्येति तावन्मया चिन्तितम्—'धिगियं दरिद्रता । अथवा साध्विदमुच्यते—

हि० अनु०ः—इस प्रकार उनके वचनो को सुनकर मैं अपने बिल मे घुस गया । जब तक कोई मेरे सामने नही आया तब तक मैंने सोचा—'इस गरीबी को धिक्कार है, अथवा यह ठीक कहा जाता है—

मृतो दरिद्रः पुरुषः मृतं मैथुनमप्रजम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥१०१॥

अन्वयः—दरिद्रः पुरुषः मृतः, अप्रजम् मैथुनम् मृतम्, अश्रोत्रियम् श्राद्धम् मृतम्, अदक्षिणः तु यज्ञः मृतः ।

समासः—अप्रजम्=नास्ति प्रजा यस्मिन् (बहु०)। अश्रोत्रियम्=नास्ति श्रोत्रियः यस्मिन् (बहु०)। अदक्षिणः=नास्ति दक्षिणा यस्मिन् (बहु०)।

व्या०.—मृतः=मृ+क्त (त)।

शब्दार्थः—अप्रजम्=जिसमें सन्तान न हो। अश्रोत्रियम्=जिसमें वेदज्ञ विद्वान न हो।

हि० अनु०—दरिद्र पुरुष मरा हुआ है, बिना सन्तान का मैथुन (स्त्री-पुरुष-समागम) मरा हुआ (व्यर्थ) है, वेदज्ञ विद्वान् से रहित श्राद्ध मृत है और दक्षिणाविहीन यज्ञ मृत (निष्फल) है।

एवं मे चिन्तयतस्ते भृत्या मम शत्रूणां सेवका जाताः। ते च मामेकाकिनं दृष्ट्वा विडम्बनां कुर्वन्ति। अथ मयैकाकिना योगनिद्रां गतेन भूयो विचिन्तितम्—'यत्तस्य कुतपस्विनः समाश्रयं गत्वा तद्गण्डोपधानवर्तिनीं वित्तपेटां शनैः शनैर्विदार्य तस्य निद्रावशगतस्य स्वदुर्गे वित्तमानयामि, येन भूयोऽपि मे वित्तप्रभावेणाधिपत्यं पूर्ववद् भविष्यति। उक्तं च—

समासः—कुतपस्विनः=कुत्सितः तपस्वी तस्य (कु तत्पु०)। तद्गण्डोपधान-वर्तिनीम्=तस्य गण्ड (तत्पु०) तस्य उपधानम् (तत्पु०), तस्मिन् वर्तते (उपपद तत्पु०), तद्गण्डोपधानवर्तिनी कृता ताम् (कर्मधा०)। वित्तप्रभावेण=वित्तस्य प्रभावः तेन (तत्पु०)।

व्या०.—चिन्तयतः=चिन्त् (चिन्तय्)+शतृ (अत्)। विदार्य=वि+णिजन्त 'दृ' (दार्)+क्त्वा (ल्यप्=य)। आधिपत्यम्=अधिपति+ष्यञ् (य)।

इसके बाद मैंने योगनिद्रा मे जाकर फिर विचारा कि उस दुष्ट तपस्वो के स्थान पर जाकर उसकी कनपटो के तकिए के भीतर की हुई धन की पेटी को धीरे-धीरे फाडकर उसके सो जाने पर धन अपने किले (बिल) मे ले आऊँ, जिससे फिर भी धन के प्रभाव से मेरा स्वामित्व पहले को भाँति हो जायगा। कहा भी है—

व्यथयन्ति परं चेतो मनोरथशतैर्जनाः।
नानुष्ठानैर्धनैर्हीना कुलजा विधवा इव ॥१०२॥

अन्वय—धनैः हीना जना कुलजा विधवा. इव अनुष्ठानैः न परम् *मनोरथशतैः चेत व्यथयन्ति।*

समास—कुलजा =कुले जाता (उपपद तत्पु०)। विधवा =विगतः धव यासा ता (बहु०)। मनोरथशतैः =मनोरथानाम् शतानि तैः (तत्पु०)।

व्या०:—कुलजा =कुल+जन्+ड (अ)। अनुष्ठानैः =अनु+स्था+ल्युट् (यु=अन)। व्यथयन्ति=णिजन्त 'व्यथ्, लट्, प्र० पु०, बहु०।

शब्दार्थ—कुलजा =अच्छे कुल मे उत्पन्न, कुलीन। व्यथयन्ति=व्यथित या दु खित करते हैं।

हि० अनु०:—धनहीन व्यक्ति कुलीन विधवा स्त्रियों के समान (मनोरथो के अनुकूल) व्यवहार या कार्य करने से नही, अपितु केवल सैकडो मनोरथो मे चित्त को व्यथित या दु खित करते हैं। (कुलीन विधवा स्त्रियाँ शृंगार, पुरुष-समागम आदि करने या केवल मनोरथ कर चित्त को दु खित करती है, किन्तु कुलीन होने के कारण ऐसा करती नही, उसी प्रकार निर्धन जन मनोरथो से चित्त को दु खित करते है, किन्तु धनाभाव के कारण मनोरथो के अनुकूल कार्य नहीं कर सकते)।

दौर्गत्यं देहिनां दु खमपमानकरं परम्।
येन स्वैरपि मन्यन्ते जीवन्तोऽपि मृता इव ॥१०३॥

अन्वय—दौर्गत्यम् देहिनाम् अपमानकरम् परम् दु खम्, येन स्वैः अपि जीवन्त अपि मृता इव मन्यन्ते।

समासः—अपमानकरम्—अपमान+कृ+ट (अ)।

व्या०:—दौर्गत्यम्=दुर्गति+ष्यञ् (य)। अपमानकरम्=अपमान+कृ+ट (अ)।

शब्दार्थः—दौर्गत्यम्=निर्धनता। स्वैः=अपनों के द्वारा।

हि० अनु०—निर्धनता प्राणियों का अपमानकारक बड़ा भारी दुःख है, जिससे वे अपनों के द्वारा भी जीते हुए भी मरे हुए के समान माने जाते हैं।

दैन्यस्य पात्रतामेति परामूतेः परं पदम्।
विपदामाश्रयः शश्वद्दौर्गत्यकलुषीकृतः ॥१०४॥

अन्वयः—दौर्गत्यकलुषीकृतः शश्वत् विपदाम् आश्रयः (सन्) परामूतेः परम् पदम् दैन्यस्य पात्रताम् एति।

समासः—दौर्गत्यकलुषीकृतः=दौर्गत्येन कलुषीकृतः (तत्पु०)।

व्या०:—परामूतेः=परा+भू+क्तिन् (ति)।

शब्दार्थः—दौर्गत्यकलुषीकृतः=निर्धनता के द्वारा मलिन किया हुआ। शश्वत्=निरन्तर। परामूतेः=पराभव या अपमान के।

हि० अनु०:—निर्धनता के द्वारा मलिन बनाया हुआ व्यक्ति निरन्तर विपत्तियों का आश्रय होकर दीनता के पात्रत्व को जोकि बिल्कुल पराभव या अपमान का पद है, प्राप्त करता है (दीनता का पात्र या आश्रय बन कर जन पूर्णतः अपमानजनक स्थिति में पहुँच जाता है)।

लज्जन्ते बान्धवास्तेन सम्बन्धं गोपयन्ति च।
मित्राण्यमित्रतां यान्ति यस्य न स्युः कपर्दकाः ॥१०५॥

अन्वयः—यस्य कपर्दकाः न स्युः, तेन बान्धवाः लज्जन्ते, (तेन सह) सम्बन्धम् च गोपयन्ति, (तस्य) मित्राणि अमित्रताम् यान्ति।

शब्दार्थ—गोपयन्ति=छिपाते हैं। कपर्दकाः=सिक्के के रूप में चलने वाली कौड़ियाँ, लक्ष्यार्थ—धन, पैसा।

हि० अनु०:—जिसके पास कौड़ियाँ (धन, पैसा) नहीं होती हैं, उससे उसके

बान्धव भी (सम्पर्क रखने आदि मे) लज्जित होते हैं, उसके साथ अपने सम्बन्ध को छिपाते हैं। उसके मित्र शत्रु हो जाते हैं।

विशेष:—'कपर्दका' शब्द का अक्षरविन्यासीय रूपान्तर 'कपर्दिका' भी है। किसी समय 'कौडियाँ' भी सिक्के के रूप मे चलती थी, अत. धन के प्रतीक रूप में इनकी चर्चा की जाती थी, और आज भी लोग ऐसा कह देते हैं कि 'अमुक के पास एक कौडी भी नही है।'

मूर्तं लाघवमेवैतदपायानामिदं गृहम्।
पर्यायो मरणस्याय निर्धनत्वं शरीरिणाम् ॥१०६॥

अन्वय:—एतद् निर्धनत्वम् शरीरिणाम् मूर्तम् लाघवम् एव, इदम् अपायानाम् गृहम्, मरणस्य अयम् पर्याय:।

शब्दार्थ—मूर्तम्=रूपधारी, व्यक्तित्वयुक्त। लाघवम्=लघुता, छोटापन, तुच्छत्व। अपायानाम्=सकटो का। पर्याय:=रूपान्तर, समानार्थक।

हि० अनु०:—यह निर्धनत्व पुरुषो का साक्षात् व्यक्तित्वयुक्त तुच्छत्व ही है। यह सकटो का घर है, यह मरण का दूसरा नाम या रूप है।

अजाधूलिरिव त्रस्तैर्मार्जनीरेणुवज्जनैः।
दीपखट्वोत्थच्छायेव त्यज्यते निर्धनो जनः ॥१०७॥

अन्वय—जनै. त्रस्तैः निर्धनः अजाधूलि. इव मार्जनीरेणुवद् दीपखट्वोत्थच्छाया इव त्यज्यते।

समास:—अजाधूलि=अजाधृता धूलिः (मध्यमपदलोपी तत्पु०)। दीपखट्वोत्थछाया=दीपखट्वायाः उत्तिष्ठति (उपपद तत्पु०), दीपखट्वोत्था च असौ छाया (कर्मधा०)।

व्या०:—त्रस्तै=त्रस्+क्त (त)।

शब्दार्थ—त्रस्तैः=भयभीतों के द्वारा। अजाधूलि=बकरियो के द्वारा उड़ाई हुई धूल। मार्जनीरेणुवत्=झाड़ू की धूल के समान। दीपखट्वोत्थछाया=दीवट की छाया।

हि० अनु०:—लोगों के द्वारा भयभीत होकर बकरियों की धूल, झाड़ू की

धूल और दीवट (दीपक रखने का आधार) की छाया के समान निर्धन व्यक्ति दूर ही रखा जाता है (जैसे लोग धूल आदि से डर कर दूर भागते हैं, वैसे ही वे ग़रीब से दूर भागते हैं)।

विशेष—धूल से तो लोग अलग रहते ही हैं। पुराने समय में दीवट की छाया का सम्पर्क अशुभ माना जाता होगा, अतः इसकी इस रूप में चर्चा आई है।

शौचावशिष्टयाप्यस्ति किंचित्कार्यं क्वचिन्मृदा।
निर्धनेन जनेनैव न तु किंचित्प्रयोजनम् ॥१०८॥

अन्वयः—शौचावशिष्टया मृदा अपि किंचित् कार्यम् अस्ति, (किन्तु) निर्धनेन जनेन तु किंचित् प्रयोजनम् एव न (अस्ति)।

समासः—शौचावशिष्टया=शौचाद् अवशिष्टा तया (तत्पु०)।

व्या०:—अवशिष्ट=अव+शिष्+क्त (त)।

शब्दार्थ—शौचावशिष्टया=शौचकार्य से बची हुई से। मृदा=मिट्टी से।

हि० अनु०:—शौचकार्य से बची हुई मिट्टी से भी कुछ काम हो सकता है; किन्तु निर्धन जन से तो कोई प्रयोजन ही नहीं है।

अधनो दातुकामोऽपि सम्प्राप्तो धनिनां गृहम्।
मन्यते याचकोऽयं धिग्दारिद्र्यं खलु देहिनाम् ॥१०९॥

अन्वयः—अधनः दातुकामः अपि धनिनाम् गृहम् सम्प्राप्तः 'अयम् याचकः' (इति) मन्यते, देहिनाम् दारिद्र्यम् धिक् खलु।

हि० अनु०:—निर्धन व्यक्ति देने को भी धनियों के घर जावे तो वह 'यह मंगता है (कुछ मांगने आया है)' ऐसा माना जाता है, (अतः) प्राणियों की दरिद्रता के लिए निश्चय ही धिक्कार है।

अतो वित्तापहारं विदधतो यदि मे मृत्युः स्यात् तथापि शोभनम्। उक्तं च—

हि० अनु०—इसलिए धन का अपहरण करते हुए यदि मेरी मृत्यु हो जावे तब भी अच्छा है। कहा भी है—

स्ववित्तहरणं दृष्ट्वा यो हि रक्षत्यसून्नरः ।
पितरोऽपि न गृह्णन्ति तद्दत्तं सलिलाञ्जलिम् ॥११०॥

अन्वय—यः नरः स्ववित्तहरणम् दृष्ट्वा असून् रक्षति हि, पितरः अपि तद्दत्तम् सलिलाञ्जलिम् न गृह्णन्ति ।

समास—स्ववित्तहरणम्=स्वस्य वित्तम् (तत्पु०), तस्य हरणम् (तत्पु०) । सलिलाञ्जलिम=सलिलस्य अञ्जलिम् (तत्पु०) ।

शब्दार्थ—असून्=प्राणों को । सलिलाञ्जलिम्=जल की अञ्जलि, तर्पण में दिया हुआ जल ।

हि० अनु०—जो मनुष्य अपने धन का अपहरण देख कर प्राणों को बचाता है । (उसके) पितर भी उसके द्वारा दिया तर्पण का जल ग्रहण नहीं करते हैं । तथा च ।

हि० अनु०—और भी ।

गवार्थे ब्राह्मणार्थे च स्त्रीवित्तहरणे तथा ।
प्राणांस्त्यजति यो युद्धे तस्य लोकाः सनातनाः ॥१११॥

अन्वय—गवार्थे ब्राह्मणार्थे च तथा स्त्रीवित्तहरणे यः युद्धे प्राणान् त्यजति तस्य सनातनाः लोकाः (प्राप्ताः भवन्ति) ।

समास—गवार्थे=गवाम् अर्थे (तत्पु०) । ब्राह्मणार्थे=ब्राह्मणानाम् अर्थे (तत्पु०) । स्त्रीवित्तहरण=स्त्री च वित्तम् च (द्वन्द्व), तयोः हरण (तत्पु०) ।

शब्दार्थ—गवार्थे=गायों के हित के उपस्थित होने पर । ब्राह्मणार्थे=ब्राह्मणों के हित के उपस्थित होने पर । स्त्रीवित्तहरणे=स्त्री और धन के अपहरण का अवसर उपस्थित होने पर । सनातनाः=नित्य ।

हि० अनु०—गायों एवं ब्राह्मणों के हित के उपस्थित होने पर तथा स्त्री और धन के अपहरण का अवसर उपस्थित होने पर जो युद्ध में (लड़ते-लड़ते) प्राणों को छोड़ देता है, उसे नित्य लोक प्राप्त होते हैं ।

एवं निश्चित्य रात्रौ तत्र गत्वा निद्रावशमुपागतस्य पेटायां मया छिद्रं कृतं

यावत्, तावत् प्रबुद्धो दुष्टतापसः। ततश्च जर्जरवंशप्रहारेण शिरसि ताडितः कथंचिदायुःशेषतया निर्गतोऽहम्, न मृतश्च। उक्तं च—

हि० अनु०:—ऐसा निश्चय कर रात में वहाँ जाकर उसके सो जाने पर घटी में मैंने ज्यों ही छेद किया, त्यों ही वह दुष्ट तपस्वी जग गया। तब उसने फटे बांस का प्रहार कर सिर में मारा, जिससे जैसे-तैसे जीवन अवशिष्ट होने के कारण मैं बच निकला और मरा नहीं। कहा भी है—

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः,
देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे,
यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥११२॥

अन्वयः—मनुष्यः प्राप्तव्यम् अर्थम् लभते, देवः अपि तम् लङ्घयितुम् न शक्तः, तस्मात् न शोचामि, न मे विस्मयः, यत् अस्मदीयम् तत् परेषाम् न हि।

सं० टी०:—मनुष्यः नरः प्राप्तव्यम् प्राप्तुं नियतम् अर्थम् वस्तु लभते प्राप्नोति, देवः विधाता अपि तम् अर्थम् लङ्घयितुम् अन्यथाकर्तुम् न शक्तः समर्थः तस्मात् तस्मात् कारणाद् अहम् न शोचामि शोकं करोमि न च मे मम विस्मयः आश्चर्यम्, यद् वस्तु अस्मदीयम् आस्माकीनम् अस्ति तद्वस्तु परेषाम् अन्येषाम् न हि भवितुं शक्नोति इति शेषः।

व्या०.—प्राप्तव्यम्=प्र+आप्+तव्य। लङ्घयितुम्=णिजन्त लघि (लङ्घ्)+इट् (इ)+तुमुन् (तुम्)। शक्तः=शक्+क्त (त)। विस्मयः=वि+स्मि+अच् (अ)। अस्मदीयम्=अस्मद्+छ (ईय)।

शब्दार्थः—प्राप्तव्यम्=मिलने को नियत। लङ्घयितुम्=लाँघने को, अन्यथा करने को। शक्तः=समर्थ।

हि० अनु०:—मनुष्य प्राप्तव्य (प्राप्त होने को नियत) पदार्थ को प्राप्त करता है। विधाता भी उसे अन्यथा करने में समर्थ नहीं है। इसलिए मैं न सोचता हूँ और न मुझे विस्मय होता है। जो हमारा है, वह दूसरों का नहीं हो सकता।

विशेष —इस श्लोक मे भाग्यवादिनी या दैववादिनी विचारधारा की अभिव्यक्ति है ।

काककूर्मौ पृच्छत —'कथमेतत् ।' हिरण्यक आह—

हि० अनु० —कौआ और कछुआ पूछते है—'यह कैसे ?' हिरण्यक कहता है—

कथा ४ (प्राप्तव्यमर्थ कथा)

अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे सागरदत्तो नाम वणिक्। तत्सूनुना रूपकशतेन विक्रीयमाण पुस्तको गृहीत । तस्मिंश्च लिखितमस्ति—

हि० अनु०.—किसी नगर मे सागरदत्त नामक वैश्य था । उसके पुत्र ने सौ रुपए मे बिकने वाली पुस्तक खरीद ली । उसमे लिखा है—

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य,
दैवोऽपि त लङ्घयितु न शक्त ।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे,
यदस्मदीय न हि तत्परेषाम् ॥११३॥

हि० अनु०:—मनुष्य प्राप्तव्य पदार्थ को प्राप्त करता है, विधाता भी उसे अन्यथा करने मे समर्थ नही है । इसलिए मैं न सोचता हूँ और न मुझे विस्मय होता है, जो हमारा है, वह दूसरो का नही हो सकता ।[1]

तद्‌दृष्ट्वा सागरदत्तेन तनुज पृष्ट —पुत्र, कियता मूल्येनैष पुस्तको गृहीत ।

हि० अनु० —उसे देखकर सागरदत्त ने पुत्र से पूछा—"पुत्र, कितने मूल्य मे यह पुस्तक खरीदी ।" सोऽब्रवीत्— रूपकशतेन ।'

हि० अनु०—वह बोला—'सौ रुपए मे ।

तच्छ्रुत्वा सागरदत्तोऽब्रवीत्—'धिङ् मूर्ख, त्व लिखितैकश्लोकं रूपकशतेन यद् गृह्णासि एतया बुद्धया कथ द्रव्योपार्जन करिष्यसि । तदद्यप्रभृति त्वया मे

---

१ इस श्लोक का अन्वय, आदि अभी पूर्व म प्रदर्शित किया हो जा चुका है ।

गृहं न प्रवेष्टव्यम् ।' एवं निर्भर्त्स्य गृहान्नि:सारितः । स च तेन निर्वेदेन विप्रकृष्टं देशान्तरं गत्वा किमपि नगरमासाद्यावस्थितः ।

समास—लिखितैकश्लोकम्=लिखितः एकः श्लोकः यस्मिन् तम् (बहु०) ।

व्या०—लिखित=लिख्+इट् (इ)+क्त (त) । प्रवेष्टव्यम्=प्र+विश्+तव्य ।

शब्दार्थ—लिखितैकश्लोकम्=जिसमें एक श्लोक लिखा हुआ है । अद्यप्रभृति=आज से लेकर, आज से । प्रवेष्टव्यम्=घुसना चाहिए । निर्भर्त्स्य=फटकार कर । निःसारित=निकाल दिया । निर्वेदेन=दु:ख से, वैराग्य से । विप्रकृष्टम्=दूरस्थित । आसाद्य=पहुँचकर । अवस्थित = ठहरा, बसा ।

हि० अनु०—यह सुनकर सागरदत्त बोला—'धिक् मूर्ख, तू जो एक लिखे हुए श्लोक वाली (पुस्तक) को सौ रुपए में खरीदता है, तो इस बुद्धि से कैसे धनोपार्जन करेगा, सो आज से तुझे मेरे घर में नहीं घुसना चाहिए । इस प्रकार फटकार कर उसे घर से निकाल दिया । वह उस दु:ख से किसी दूसरे दूरस्थित देश में जाकर किसी नगर में पहुँच ठहर गया ।

अथ कतिपयदिवसैस्तन्नगरनिवासिना केनचिदसौ पृष्टः—'कुतो भवानागतः । किं नामधेयो वा' इति । असावब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः ।' अथान्येनापि पृष्टेनानेन तथैवोत्तरं दत्तम् । एवं च तस्य नगरस्य मध्ये प्राप्तव्यमर्थ इति तस्य प्रसिद्धं नाम जातम् ।

समास—तन्नगरनिवासिना=तद् नगरम् (कर्मधा०), तन्नगरे निवसति (उपपद तत्पु०) ।

व्या०—तन्नगरनिवासिना=तन्नगर+नि+वस्+णिनि(इन्) । पृष्ट=प्रच्छ्+क्त (त) ।

शब्दार्थ—तन्नगरनिवासिना=उस नगर के निवासी ने ।

हि० अनु०—फिर कुछ दिनों के बाद उस नगर के किसी निवासी ने उससे पूछा—'आप कहाँ से आए हैं, और आपका क्या नाम है ।' वह बोला—

'प्राप्तव्य अर्थ को मनुष्य प्राप्त करता है।' फिर दूसरे के द्वारा पूछे जाने पर भी उसने वैसा ही उत्तर दिया। इस प्रकार उस नगर के बीच मे उसका 'प्राप्तव्यमर्थ' यह नाम प्रसिद्ध हो गया।

अथ राजकन्या चन्द्रवती नामाभिनवरूपयौवनसपन्ना सखीद्वितीयैकस्मिन् महोत्सवदिवसे नगर निरीक्षमाणास्ति। तत्रैव च कश्चिद् राजपुत्रोऽतीव रूप-सपन्नो मनोरमश्च कथमपि तस्या दृष्टिगोचरे गतः। तद्दर्शनसमकालमेव कुसुमबाणाहतया तया निजसख्यभिहिता—'सखि, यथा किलानेन सह समागमो भवति तथाद्य त्वया यतितव्यम्।

समासः—अभिनवरूपयौवनसम्पन्ना=रूपम् च यौवनम् च (द्वन्द्व), अभिनवे रूपयौवने (कर्मधा०)। ताभ्या सपन्ना (तत्पु०)। सखीद्वितीया=सखी द्वितीया यस्या सा (बहु०)। कुसुमबाणाहतया=कुसुमानि बाणाः यस्य स. (बहु०), तेन आहता तया (तत्पु०)।

व्या०:—निरीक्षमाणा=निर+ईक्ष्+शप् (अ)+मुक् (म्)+शानच् (आन)+टाप् (आ)। आहता=आ+हन्+क्त(त)+टाप् (आ)। अभिहिता—अभि+धा+क्त (त)+टाप् (आ), धा' को 'हि' आदेश। यतितव्यम्=यत+इट् (इ)+तव्य।

शब्दार्थ—अभिनवरूपयौवनसंपन्ना=नवीन रूप और यौवन से युक्त। सखीद्वितीया=सखी के साथ। निरीक्षमाणा=देख रही, देखती हुई। मनोरम.=सुन्दर, मनभावन। तद्दर्शनसमकालम्=उसके देखने के समय ही। कुसुम-बाणाहतया=कामदेव से पीडित ने। यतितव्यम=प्रयत्न करना चाहिए।

हि० अनु०.—तब एक बार नवीन रूप और यौवन से युक्त चन्द्रवती नामक राजकन्या सखी के साथ एक महोत्सव के दिन नगर को देख रही थी। वहीं अतीव रूपयुक्त एवं सुन्दर कोई राजकुमार किसी प्रकार उसको दिखाई दिया। उसके देखने के समय कामदेव से पीडित हो उसने अपनी सखी से कहा—'सखि, जिस प्रकार इसके साथ मेरा समागम (मिलन) हो, वैसा आज तुझे प्रयत्न करना चाहिए।'

एव च श्रुत्वा सा सखी तत्सकाशं गत्वा शीघ्रमब्रवीत्—'यदह चन्द्रवत्या

तवान्तिकं प्रेषिता। भणितं च त्वां प्रति तया, यन्मम त्वद्दर्शनान्मनोभवेन पश्चिमावस्था कृता। तद्यदि शीघ्रमेव मदन्तिके न समेष्यसि तदा मे मरणं शरणम्' इति।

समासः—त्वद्दर्शनात्=तव दर्शनम् तस्मात् (तत्पु०)। मनोभवेन=मनसः भव यस्य तेन (बहु०) पश्चिमावस्था=पश्चिमा च असौ अवस्था (कर्मधा०)। ममन्तिके=मम अन्तिके (तत्पु०)।

व्या०:—प्रेषिता=प्रेष्+इट् (इ)+क्त (त)+टाप् (आ)। भणितम्=भण्+इट् (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थः—भणितम्=कहा है। मनोभवेन=कामदेव ने। पश्चिमावस्था=अन्तिम दशा। शरणम्=उपाय।

हि० अनु०:—ऐसा सुनकर वह सखी उस (राजकुमार) के पास जाकर शीघ्र बोली—'कि मैं चन्द्रवती ने तुम्हारे पास भेजी हूँ, तुम्हारे प्रति (तुमसे) उसने कहा है कि तुम्हारे दर्शन से कामदेव ने मेरी अन्तिम (असह्य) दशा कर दी है सो यदि तुम शीघ्र ही मेरे पास नहीं आए तो फिर मृत्यु ही मेरा उपाय होगा।

तच्छ्रुत्वा तेनाभिहितम्—'यद्यवश्यं मया तत्रागन्तव्य तत्कथय केनोपायेन प्रवेष्टव्यम्।

हि० अनु०:—यह सुनकर उसने कहा—' यदि मुझे अवश्य ही वहाँ आना है, तो बताओ किस उपाय से घुसना चाहिए।

अथ सख्याभिहितम्—'रात्रौ सौधावलम्बितया दृढवरत्रया त्वया तत्रारोढव्यम्।'

हि० अनु०:—तब सखी ने कहा—'रात में महल पर से लटकी हुई मजबूत पट्टी के सहारे तुम्हें वहाँ चढ़ना चाहिए।'

सोऽब्रवीत्—'यद्येव निश्चयो भवत्यास्तदहमेव करिष्यामि।' इति निश्चित्य सखी चन्द्रवतीसकाशं गता। अथागतायां रजन्यां स राजपुत्रः स्वचेतसा व्यचिन्तयत् 'अहो, महदकृत्यमेतत्। उक्तं च—

हि० अनु०:—वह बोला—'यदि आपका ऐसा निश्चय है तो मैं ऐसा ही करूँगा।' इस प्रकार निश्चित (तं) कर सखी चन्द्रवती के पास गई। इसके बाद रात के आने पर वह राजकुमार अपने मन में सोचने लगा—'अरे, यह बड़ा भारी अकृत्य (पाप) है। कहा भी है—

गुरोः सुतां मित्रभार्यां स्वामिसेवकगेहिनीम् ।
यो गच्छति पुमांल्लोके तमाहुर्ब्रह्मघातिनम् ॥११४॥

अन्वय—लोके यः पुमान् गुरोः सुताम् मित्रभार्याम् स्वामिसेवकगेहिनीम् गच्छति, तम् ब्रह्मघातिनम् आहुः ।

हि० अनु०:—लोक में जो पुरुष गुरु-पुत्री, मित्र-पत्नी एवं स्वामी तथा सेवक की स्त्री के साथ समागम करता है, उसे ब्रह्मघाती (ब्रह्महत्यारा) कहते हैं।

अपरं च ।

हि० अनु०:—और भी ।

अयशः प्राप्यते येन येन चापगतिर्भवेत् ।
स्वर्गाच्च भ्रश्यते येन तत्कर्म न समाचरेत् ॥११५॥

अन्वय—येन अयशः प्राप्यते, येन च अपगतिः भवेत्, येन च स्वर्गात् भ्रश्यते, तत् कर्म न समाचरेत् ।

हि० अनु०—जिससे अपयश (निन्दा) प्राप्त हो, जिससे दुर्गति या अधोगति प्राप्त हो और जिससे स्वर्ग से भ्रष्ट हों (स्वर्ग मिलने में बाधा हो), वह कर्म नहीं करना चाहिए ।

इति सम्यग् विचार्य तत्सकाशं न जगाम ।

हि० अनु०—ऐसा अच्छी तरह विचार कर उसके पास नहीं गया ।

अथ प्राप्तव्यमर्थः पर्यटन् धवलगृहपार्श्वे राजभवनभिन्नवरत्रां दृष्ट्वा कौतुकाविष्टहृदयस्तामालम्ब्याधिरूढः । तया च राजपुत्र्या स एवायमित्याश्वस्तचित्तया स्नानखादनपानाच्छादनादिना सम्मान्य तेन सह शयनतलमाश्रितया तदङ्गसंस्पर्शसंजातहर्षरोमाञ्चितगात्रयोक्तम्—युष्मद्दर्शनमात्रानुरक्तया मयात्मा प्रदत्तोऽयम् । त्वदन्यमन्यो भर्ता मनस्यपि मे न भविष्यति' इति । तत् कस्मान्मया

सह न ब्रवीमि ।' सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य ।' इत्युक्ते तयान्योऽयमिति मत्वा धवलगृहाद्‌ुत्तार्य मुक्तः । स तु भग्नदेवकुले गत्वा सुप्त. ।

समासः—कौतुकाविष्टहृदयः=कौतुकेन अविष्टम् हृदयम् यस्य सः (बहु०) । आश्वस्तचित्तया=आश्वस्तम् चित्तम् यस्याः तया (बहु०) । तदङ्गसस्पर्शसंजातहर्षरोमाञ्चितगात्रया=तस्य अङ्गम् (तत्पु०), तस्य सस्पर्शं (तत्पु०) । तेन सजात. (तत्पु०), स च असौ हर्षः (कर्मधा०) तेन रोमाञ्चितम् गात्रम् यस्याः तया (बहु०) । युष्मद्दर्शनमात्रानुरक्तया=युष्माकम् दर्शनम् (तत्पु०), तदेव युष्मद्दर्शनमात्रम् (तद्धित) । तेन अनुरक्ता तया (तत्पु०) ।

व्याः०—पर्यटन्=परि+अट्+शतृ (अन्) । अधिरूढ=अधि+रुह्+क्त (त) । संमान्य=सम्+णिजन्त मन् (मान्)+क्त्वा (ल्यप्=य) । त्वद्वर्जम्=युष्मद्+वृज्+ण्वुल् (अम्) । मत्वा=मन्+क्त्वा (त्वा) । उत्तार्य=उत्+णिजन्त 'तॄ' (तार्)+क्त्वा (ल्यप्=य) मुक्त=मुच्+क्त (त) । सुप्त=स्वप्+क्त (त) ।

शब्दार्थः—पर्यटन्=घूमता हुआ । धवलगृहपार्श्वे=सफेद (सफेदी से पुते हुए) गृह के पास, हवेली के पास । सवलम्बितवरत्राम्=लटकती हुई पट्टी को । कौतुकाविष्टहृदयः=कुतूहल से युक्त चित्त वाला । अधिरूढः=चढ गया । आश्वस्तचित्तया=आश्वस्त (सतुष्ट) चित्त वाली ने । तदङ्गसंस्पर्शसंजातहर्षरोमाञ्चितगात्रया=उसके अग के स्पर्श से होने वाले हर्ष से रोमाञ्चित शरीर वाली ने । युष्मद्दर्शनमात्रानुरक्तया=केवल तुम्हारे देखने से अनुरक्त होने वाली ने । त्वद्वर्जम्=तुम्हें छोड कर । उत्तार्य=उतार कर । भग्नदेवकुले=टूटे देव मन्दिर में ।

हि० अनु०—इसके बाद प्राप्तव्यमर्थं घूमते हुए हवेली के पास रात मे लटकती हुई पट्टी को देख कर कुतूहल से युक्त मन वाला हो उसका सहारा लेकर चढ गया । और उस राजकुमारी ने 'यह वही है' यह सोचकर मन म आश्वस्त (सतुष्ट) हो, (उसका) स्नान, भोजन, पान, आच्छादन (वस्त्र) आदि से सत्कार कर उसके साथ पलग पर लेटने के बाद उसके अग के स्पर्श से होने वाले हर्ष से रोमाञ्चित शरीर वाली होकर कहा—'आपके दर्शनमात्र से अनुरक्त

होकर मैंने अपने को आपके लिए समर्पित कर दिया है। तुम्हें छोड कर दूसरा पति मेरे मन मे भी नही होगा, सो मुझसे क्यों नहीं बात करते हो।' वह बोला—'प्राप्तव्य पदार्थ को मनुष्य प्राप्त करता है।' ऐसा कहा जाने पर उसने 'यह दूसरा है', ऐसा मान कर उसे हवेली से उतार कर छोड दिया। वह एक फूटे देवमन्दिर मे जाकर सो गया।

अथ तत्र कयाचित् स्वैरिण्या दत्तसकेतको यावद्दण्डपाशकः प्राप्त तावदसौ पूर्वसुप्तस्तेन दृष्टो रहस्यसरक्षणार्थमभिहितश्च—'को भवान्'। सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य ।' इति श्रुत्वा दण्डपाशकेनाभिहितम्—'यच्छून्य देवगृहमिदम्। तदत्र मदीयस्थाने गत्वा स्वपिहि।' तथा प्रतिपद्य स मतिविपर्यासादन्यशयने सुप्त ।

हि० अनु०.—तब वहाँ किसी व्यभिचारिणी स्त्री के द्वारा सकेत प्राप्त कर चुकने वाला दण्डपाशक (रक्षक, कोतवाल) जैसे ही पहुँचा वैसे ही उसने उसको पहले से ही सोया हुआ देखा, और अपने रहस्य को छिपाने के लिए उससे पूँछा—'आप कौन हैं'। वह बोला—'प्राप्तव्य पदार्थ को मनुष्य प्राप्त करता है, ऐसा सुन कर उस दण्डपाशक ने कहा—'यह मन्दिर सूना है। सो यहाँ मेरे स्थान पर जाकर सो जाओ।' ऐसा मान कर वह बुद्धि के भ्रम से दूसरे पलग पर सो गया।

अथ तस्य रक्षकस्य कन्या विनयवती नाम रूपयौवनसपन्ना कस्यापि पुरुषस्यानुरक्ता सकेत दत्वा तत्र शयने सुप्तासीत्। अथ सा तमायात दृष्ट्वा स एवायमस्मद्वल्लभ इति रात्रौ घनतरान्धकारव्यामोहितोत्थाय भोजनाच्छादनादिक्रिया कारयित्वा गान्धर्वविवाहेनात्मान विवाहयित्वा तेन सम शयने स्थिता विकसितवदनकमला तमाह—किमद्यापि मया सह विश्रब्ध भवान्न ब्रवीति।' सोऽब्रवीत्—प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य ।' इति श्रुत्वा तया चिन्तितम् —'यत्कार्यमसमीक्षित क्रियते तस्येदृक्फलविपाको भवति' इति। एव विमृश्य सविषादया तया निःसारितोऽसौ।

समास —घनतरान्धकारव्यामोहिता=घनतरश्च असौ अन्धकारः (कर्म०धा०), तेन व्यामोहिता (तत्पु०)।

व्या०:—आयातम्=आ=या+क्त (त) । व्यामोहिता=वि+आ+णिजन्त 'मुह्' (मोह्)+इट् (इ)+क्त (त)+टाप् (आ)। विवाहयित्वा=वि+णिजन्त 'वह्' (वाह्)+इट् (इ)+क्त्वा (त्वा)। विमृश्य=वि+मृश्+क्त्वा (ल्यप्=य) । निःसारितः=निस्+णिजन्त 'सृ' (सार्)+इट् (इ)+क्त (त) ।

शब्दार्थ—रक्षकस्य=रक्षक की, कोतवाल की । आयात म्=आए हुए को । घनतरान्धकारव्यामोहिता=अति गाढ अन्धकार से विवेकहीन बनी हुई या चक्र में पड़ी हुई । विश्रब्धम्=विश्वासपूर्वक, निश्चिन्तता वा निर्भीकता से, निःसंकोच रूप से । असमीक्षितम्=विना विचारे हुए । फलविपाक.=परिणाम । विमृश्य=विचार कर । सविषादया=खेदयुक्त ने । निःसारित =निकाल दिया ।

इधर उस रक्षक की रूप एव यौवन से सपन्न विनयवती नामक कन्या किसी पुरुष के प्रति अनुरक्त हो उसे सकेत देकर उस पलग पर (पहले से ही) सोई हुई थी । वह उसको आया हुआ देख कर 'यह वही मेरा प्रियतम है' यह सोच रात मे अति गाढ अन्धकार के कारण विवेकहीन बनी हुई (न पहचानती हुई) उठकर भोजन-वस्त्र आदि स (इसे) सत्कृत करा कर गान्धर्व-विवाह से अपने को उसके साथ विवाहित कर पलग पर बैठी हुई प्रसन्न मुखकमल के साथ उससे बोली—'क्या कारण है कि आज भी आप मेरे साथ नि:सकोच रूप से बात नहीं करते हैं ।' वह बोला—'प्राप्तव्य पदार्थ को मनुष्य प्राप्त करता है ।' यह सुन कर उसने सोचा—'जो कार्य बिना विचारे किया जाता है, उसका ऐसा ही परिणाम होता है ।' ऐसा विचार कर उस खेदयुक्त ने उसे निकाल दिया ।

स च यावद् वीथीमार्गेण गच्छति तावदन्यविषयवासी वरकीर्तिर्नाम वरो महता वाद्यशब्देनागच्छति । प्राप्तव्यमर्थोऽपि तै. सम गन्तुमारब्धः ।

हि० अनु०—और वह ज्योंही गली के रास्ते मे चला त्योंही दूसरे देश का निवासी वरकीर्ति नामक वर (दूल्हा) बाजों के महान् शब्द के साथ आया । प्राप्तव्यमर्थ भी उन (बरातियों) के साथ चलने लगा ।

अथ यावत्प्रत्यासन्ने लग्नसमये राजमार्गासन्नश्रेष्ठिगृहद्वारे रचितमण्डप-वेदिकायां कृतकौतुकमङ्गलवेशा वणिक्सुतास्ति, तावन्मदमत्तो हस्त्यारोहक हत्वा प्रणश्यज्जनकोलाहलेन लोकमाकुलयन्नमेवोद्देश प्राप्तः। तं च दृष्ट्वा सर्वे वरानुयायिनो वरेण सह प्रणश्य दिशो जग्मु।

समास —राजमार्गासन्नश्रेष्ठिगृहद्वारे=राजमार्गस्य आसन्नम् (तत्पु०), तत् च तत् श्रेष्ठिगृहम् (कर्मधा०), तस्य द्वारे (तत्पु०)। रचितमण्डपवेदिकायाम्=रचितं मण्डप (कर्मधा०), तस्य वेदिकायाम् (तत्पु०)। कृतकौतुकमङ्गलवेशा=कौतुकमङ्गलस्य वेश (तत्पु०), कृत. कौतुकमङ्गलवेश. यया सा (बहु०)।

व्या० —प्रत्यासन्ने=प्रति+आ+सद्+क्त (त)। आरोहकम्=आ+रुह्+ण्वुल् (वु=अक)। हत्वा=हन्+क्त्वा (त्वा)। आकुलयन्=नामधातु 'आकुलय्'+शतृ (अत्)। प्रणश्य=प्र+नश्+क्त्वा (ल्यप्=य)।

शब्दार्थ —प्रत्यासन्ने=आने पर, समीपवर्ती होने पर। राजमार्गासन्न-श्रेष्ठिगृहद्वारे=सडक के समीपवर्ती सेठ के घर के द्वार पर। रचितमण्डप-वेदिकायाम्=बने हुए मण्डप की वेदी मे। कृतकौतुकमङ्गलवेशा=विवाह का वेश धारण किए हुए। आरोहकम्=पीलवान् को। प्रणश्य=भाग कर। दिशः=इधर-उधर।

हि० अनु०:—तब ज्योंही लग्न का समय उपस्थित होने पर सडक के समीपवर्ती सेठ के घर के द्वार पर बने हुए मण्डप की वेदी मे विवाह का वेश धारण किए हुए वैश्य-पुत्री आती है, त्योंही एक मतवाला हाथी पीलवान् (हाँकने वाले) को मारकर भागने वाले लोगों के शोरगुल से लोगों को व्याकुल बनाता हुआ उसी स्थान पर पहुँचा, और उसे देखकर सब बराती वर के साथ भागकर इधर उधर चले गए।

अथास्मिन्नवसरे भयतरललोचनामेकाकिनीं कन्यामवलोक्य 'मा भैषीः। अहं परित्राता' इति सुधीरं स्थिरीकृत्य दक्षिणपाणौ सगृह्य महासाहसिकतया प्राप्त-व्यमर्थं परुषवाक्यैर्हस्तिनं निर्भर्त्सितवान्।

हि० अनु०.—तब इस अवसर पर भय से चपल नेत्रों वाली उस अकेली कन्या को देखकर 'डरो मत। मैं रक्षक हूँ।' इस प्रकार उसे धीरता-

पूर्वक आश्वस्त कर दाहिने हाथ मे उसे लेकर बडे साहस के साथ प्राप्तव्यमर्थ ने कठोर वाक्यो से हाथी को फटकारा।

तत कथमपि दैवयोगादपयाते हस्तिनि ससुहृद्वान्धवनातिक्रान्तलग्नसमय वरकीर्तिनागत्य तावत्ता कन्यामन्यहस्तगा दृष्ट्वाभिहितम्—'भो श्वशुर, विरुद्धमिद त्वयाऽनुष्ठित यन्मह्य प्रदाय कन्यान्यस्मै प्रदत्ता' इति।

इसके बाद जैसे तैसे दैवयोग से हाथी के हट जाने पर, लग्न के समय के व्यतीत होने पर सुहृद एव बान्धवो के साथ वरकीर्ति ने आकर उस कन्या को दूसरे के हाथ म पडी हुई देखकर कहा—'हे ससुर, यह तुमने विरुद्ध (अनुचित) किया कि मुझको देन के बाद कन्या दूसरे को दे दी।'

सोऽब्रवीत्—'भो, अहमपि हस्तिभयपलायितो भवद्भिः सहायातो न जाने किमिद वृत्तम्।' इत्यभिधाय दुहितर प्रष्टुमारब्ध—'वत्से, न त्वया सुन्दर कृतम्। तत्कथ्यता कोऽय वृत्तान्त'।' साब्रवीत्—'यदहमनेन प्राणसशयाद्रक्षिता, तदेन मुक्त्वा मम जीवन्त्या नान्यः पाणि ग्रहीष्यति' इति अनेन वार्ताव्यतिकरेण रजनी व्युष्टा।

हि० अनु०—वह बोला—'अरे! मैं भी हाथी के भय से भाग कर (अब) आप लोगो क साथ आया हूँ। मैं नहीं जानता कि यह क्या हो गया है।' ऐसा कहकर अपनी पुत्री से पूँछने लगा—'बेटी, तुमने अच्छा नहीं किया। सो कहो क्या वृत्तान्त है।' वह बोली—'मुझे इसने प्राण-सकट से बचाया है, सो इसे छोडकर मेरे जीते जी दूसरा मेरा पाणि-ग्रहण नहीं कर सकता।' बातों के इस व्यतिकर (आदान प्रदान अर्थात् कहने-सुनने) से रात व्यतीत हो गई।

अथ प्रातस्तत्र सजाते महाजनसमवाये वार्ताव्यतिकर श्रुत्वा राजदुहिता तमुद्देशमागता। कर्णपरम्परया श्रुत्वा दण्डपाशसुतापि तत्रैवागता।

हि० अनु०—तब प्रात काल महान् जन-समुदाय के इकट्ठा होने पर बातो के व्यतिकर (आदान प्रदान) को सुनकर राजकुमारी उस स्थान पर आई, कानों की परम्परा से (एक-दूसरे से) सुनकर कोतवाल की पुत्री भी वहीं आ गई।

अथ त महाजनसमवाय श्रुत्वा राजापि तत्रैवाजगाम। प्राप्तव्यमर्थं प्राह—'भो, विश्रब्ध कथय। कोऽय वृत्तान्तः।' अथ सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं

लभते मनुष्य ' इति । राजकन्या स्मृत्वा प्राह—'देवोऽपि त लङ्घयितु न शक्त' इति । ततो दण्डपाशकसुताब्रवीत्—'तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे' इति । तमखिललोकवृत्तान्तमाकर्ण्य वाणिक्सुताब्रवीत्—यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्' इति ।

हि० अनु० —तब उस महान् जन समुदाय को सुनकर राजा भी वहीं आ गया। वह प्राप्तव्यमर्थ से बोला—'अरे ! नि सकोच कहो। यह क्या मामला है, तब वह बोला—'प्राप्तव्य पदार्थ को मनुष्य प्राप्त करता है।' राजकन्या स्मरण करके बोली—'विधाता भी उसे अन्यथा करने मे समर्थ नही है।' तब कोतवाल की पुत्री बोली—'इसलिए न मैं शोक करती हूँ और न मुझे विस्मय है।' सब लोगो के उस वृत्तान्त को सुनकर वैश्य-पुत्री बोली—'जो हमारा है वह दूसरो का नही हो सकता।'

अभयदान दत्त्वा राजा पृथक्पृथग् वृत्तान्तान् ज्ञात्वावगततत्त्वस्तस्मै प्राप्तव्यमर्थाय स्वदुहितर सबहुमान ग्रामसहस्रेण सम सर्वालकारपरिवारयुता दत्त्वा त्व मे पुत्रोऽसीति नगरविदित त यौवराज्येऽभिषिक्तवान् ।

हि० अनु० —अभयदान देकर राजा ने पृथक्-पृथक् वृत्तान्तों को जानकर सब मामले के तत्त्व को समझकर उस प्राप्तव्यमर्थ के लिए अपनी कन्या को आदरपूर्वक हजार गाँवो एव सभी अलकार तथा परिजन (दास दासी आदि) के साथ देकर 'तुम मेरे पुत्र हो' ऐसा कह उस नगर प्रसिद्ध को युवराज बना दिया।

दण्डपाशकेनापि स्वदुहिता स्वशक्त्या वस्त्रदानादिना सभाव्य प्राप्तव्यमर्थाय प्रदत्ता ।

हि० अनु०.—दण्डपाशक (कोतवाल) ने भी अपनी कन्या को अपनी शक्ति के अनुसार वस्त्र-दान आदि से समानित कर प्राप्तव्यमर्थ को दे दिया।

अथ प्राप्तव्यमर्थेनापि स्वीयपितृमातरौ समस्तकुटुम्बावृतौ तस्मिन्नगरे समानपुर सर समानीतौ। अथ सोऽपि स्वगोत्रेण सह विविधभोगानुपभुञ्जानः सुखेनावस्थित ।

हि० अनु० —तब प्राप्तव्यमर्थ ने भी अपने माता-पिता को समस्त कुटुम्ब

के साथ उस नगर में सम्मानपूर्वक बुला लिया और वह भी अपने कुल के साथ अनेक भोगों को भोगता हुआ सुख से रहने लगा।

अतोऽहं ब्रवीम्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य' इति।

हि० अनु०—इसलिए मैं कहता हूँ—'प्राप्तव्य पदार्थ को मनुष्य प्राप्त करता है।'

तदेतत् सकल सुख-दु:खमनुभूय पर विषादमुपागतोऽनेन मित्रेण त्वत्सकाशमानीत। तदेतन्मे वैराग्यकारणम्।'

हि० अनु०:—इस सब सुख-दु:ख को भोगकर अत्यन्त विषाद (खेद, दु:ख) को प्राप्त हो मैं इस मित्र के द्वारा तुम्हारे पास लाया गया हूँ। सो यह मेरे वैराग्य का कारण है।'

मन्थरक आह—'भद्र, भवति सुहृदयमसंदिग्ध यः क्षुत्क्षामोऽपि शत्रुभूत त्वा भक्ष्यस्थाने स्थितमेव पृष्ठमारोप्यानयति। न मार्गेऽपि भक्षयति। उक्तं च यतः—

हि० अनु०—मन्थरक बोला—'भद्र, नि:सन्देह यह सुहृद है जो भूख से व्याकुल होने पर भी भक्ष्य स्थान पर स्थित (अपने भक्ष्य पदार्थ) तुमको इस प्रकार पीठ पर रखकर लाया है और रास्ते में भी तुम्हें नहीं खाया। क्योंकि कहा भी है—

> विकार याति नो चित्त वित्ते यस्य कदाचन।
> मित्र स्यात् सर्वकाले च कारयेन्मित्रमुत्तमम् ॥११६॥

अन्वय—यस्य वित्ते चित्तम् कदाचन विकारम् नो याति, सर्वकाले च मित्रम् स्यात् (एतादृशम्) उत्तमम् मित्रम् कारयत्।

हि० अनु०—जिसका धन के विषय में चित्त कभी विकार को प्राप्त न हो (कभी न बिगड़े) तथा जो हर समय मित्र बना रहे, ऐसा उत्तम मित्र बनाना चाहिए।

> विद्वद्भिः सुहृदामत्र चिह्नैरेतैरसशयम्।
> परीक्षाकरण प्रोक्त होमाग्नेरिव पण्डितै.॥११७॥

अन्वय —विद्वद्भि पण्डितै अत्र एतै चिह्नै होमाग्ने इव सुहृदाम् असशयम् प्रोक्तम् ।

समास —परीक्षाकरणम्=परीक्षाया करणम् (तत्पु०)। होमाग्ने = होमस्य अग्नि तस्य (तत्पु०) ।

व्या० —विद्वद्भि =विद्+शतृ (वसु=वस) । करणम्=कृ+ल्युट (यु=अन) ।

हि० अनु० —विद्वान् पण्डितो ने इस जगत् मे इन चिह्नो के द्वारा होम की अग्नि के समान मित्रो की नि स देह रूप से परीक्षा करना कहा है ।

तथा च ।

हि० अनु० —और भी ।

> आपत्काल तु सप्राप्ते यन्मित्र मित्रमेव तत् ।
> वृद्धिकाले तु सप्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद्भवेत् ॥११८॥

अन्वय —(सीधा है) ।

हि० अनु० —आपत्ति का समय आने पर जो मित्र बना रहता है वही मित्र है । उन्नति का समय आने पर तो दुजन भी मित्र हो जाता है ।

तन्ममाप्यद्यास्य विपये विश्वास समुत्पन्नो यता नीतिविरुद्धा य मैत्री मासांशिभिर्वायसै सह जलचराणाम् । अथवा साध्विदमुच्यते—

हि०अनु० —सो आज मेरा भी इसके विषय मे विश्वास उत्पन्न हो गया है क्योकि मासपक्षी कौओ के साथ जलचरो की यह मैत्री नीति विरुद्ध है । अथवा यह ठीक कहा जाता है—

> मित्र कोऽपि न कस्यापि नितान्त न च वैरकृत् ।
> दृश्यते मित्रविध्वस्तात्कार्याद वैरी परीक्षित ॥११९॥

अन्वय —नित नम् क अपि कस्य अपि न मित्रम न च वैरकृत मित्रविध्व स्तात कार्याद् वैरी परीक्षित दृश्यते ।

समास —मित्रविध्वस्तात्=मित्रेण विध्वस्तम् तस्मात् (तत्पु०) ।

व्या०:—वैरकृत्=वैर+कृ+तुक् (त्)+क्विप् (×)। विध्वस्त=वि+ध्वंस्+क्त (त)। परीक्षितः=परि+ईक्ष्+इ+क्त (त)।

शब्दार्थः—नितान्तम्=अत्यन्त, आत्यन्तिक रूप में। वैरकृत्=वैरी, शत्रु। मित्रविध्वस्तात्=मित्र के द्वारा नष्ट किए हुए या बिगाड़े हुए से।

हि० अनु०:—आत्यन्तिक रूप में कोई किसी का न मित्र है और न शत्रु है, मित्र द्वारा बिगाड़े हुए कार्य से वैरी भी परीक्षित हुआ (परखा हुआ) देखा जाता है (अर्थात् जब मित्र काम बिगाड़ देते हैं, तब कभी-कभी शत्रु भी सहायता करते हुए देखे जाते हैं। इससे सिद्ध है कि कोई किसी का न बिल्कुल मित्र ही है और न शत्रु, मित्र भी शत्रु हो जाते हैं और शत्रु भी मित्र हो जाते हैं)।

तत् स्वागतं भवतः। स्वगृहवदास्यतामत्र सरस्तीरे। यच्च वित्तनाशो विदेशवासश्च ते सञ्जातस्तत्र विषये सन्तापो न कर्तव्यः। उक्तं च—

हि० अनु०:—सो आपका स्वागत है। अपने घर की तरह यहाँ तालाब के किनारे रहो और जो तुम्हारा धन-नाश तथा विदेश-वास हुआ है उसके बारे में दुःख न करना चाहिए। कहा भी है—

> अभ्रच्छाया खलप्रीतिः सिद्धमन्नं च योषितः।
> किंचित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ॥१२०॥

अन्वयः—(सीधा) है।

समासः—अभ्रच्छाया=अभ्राणाम् छाया (तत्पु०) खलप्रीतिः=खलानाम् प्रीतिः (तत्पु०)। किंचित्कालोपभोग्यानि=कश्चित् च असौ कालः (कर्मधा०), तस्मिन् उपभोग्यानि (तत्पु०)।

व्या०:—उपभोग्यानि=उप+भुज्+ण्यत् (य)।

शब्दार्थ—अभ्रच्छाया=बादलों की छाया। खलप्रीतिः=दुष्टों की प्रीति। सिद्धम्=पकाया हुआ।

हि० अनु०—बादलों की छाया, दुष्टों की प्रीति, पकाया हुआ अन्न, स्त्रियाँ, यौवन और धन कुछ काल तक ही उपभोग के योग्य होते हैं।

अतएव विवेकिनो जितात्मानो धनस्पृहां न कुर्वन्ति । उक्तं च—

हि० अनु०—इसीलिए विवेकी जितेन्द्रिय पुरुष धन की लालसा नहीं करते हैं । कहा भी है—

सुसञ्चितैर्जीवनवत्सुरक्षितै,
निजेऽपि देहे न नियोजितैः क्वचित् ।
पुंसो यमान्तं व्रजतोऽपि निष्ठुरै
रेतैर्धनैः पञ्चपदी न दीयते ॥१२१॥

अन्वय—सुसञ्चितैः जीवनवत् सुरक्षितैः निजे अपि देहे क्वचित् न नियोजितैः एतैः निष्ठुरैः धनैः यमान्तम् व्रजतः अपि पुंसः पञ्चपदी न दीयते ।

स० टी०:—सुसञ्चितैः समीचीनतया सगृहीतैः, जीवनवत् प्राणवत् सुरक्षितैः सरक्षितैः, निजे स्वकीये अपि देहे शरीरे क्वचित् कदापि न नियोजितैः प्रयुक्तैः एतैः एभिः धनैः वित्तैः यमान्तम् मरणानन्तरम् यमसमीपे व्रजतः गच्छतः अपि पुंसः पुरुषस्य पञ्चपदी पदपञ्चकम् न दीयते समर्प्यते ।

समास.—पञ्चपदी=पञ्चानाम् पदानाम् समाहारः (द्विगु) ।

व्या० —सुसञ्चितैः=सु+सम्+चि+क्त (त) । नियोजितैः=नि+णिजन्त युज् (योज)+इट् (इ)+क्त (त) । व्रजतः=व्रज्+शतृ (अत्) ।

शब्दार्थ—नियोजितैः=उपयुक्त (काम में लाए हुए) के द्वारा । यमान्तम्=यम के पास । पञ्चपदी=पाँच पैर (कदम) ।

हि० अनु०—अच्छी प्रकार सञ्चित, जीवन की तरह सुरक्षित किए तथा अपनी भी देह में कभी काम में न लाए गए इन निष्ठुर (निठुर) धनों के द्वारा यम के समीप जाने वाले भी पुरुष को पांच पैर भी नहीं दिए जाते हैं (मरे हुए व्यक्ति के साथ पांच कदम भी धन नहीं जाता) ।

अन्यच्च ।

हि० अनु०—और भी ।

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥१२२॥

अन्वय —यथा आमिषम् जले मत्स्यै भक्ष्यते, भुवि श्वापदै (भक्ष्यते), आकाशे च एव पक्षिभि (भक्ष्यते) तथा वित्तवान् सर्वत्र (भक्ष्यते)।

शब्दार्थ —आमिषम्=मास। श्वापदै =जगली पशुओ के द्वारा।

हि० अनु० —जिस प्रकार मास जल मे मछलियो के द्वारा, जमीन पर जगली पशुओ के द्वारा तथा आकाश मे पक्षियो के द्वारा खाया जाता है, उसी प्रकार धनवान् व्यक्ति सभी जगह खाया जाता है (परेशान किया जाता है)।

> निर्दोषमपि वित्ताढ्य दोषैर्योजयते नृप
> निर्धन प्राप्तदोषोऽपि सर्वत्र निरुपद्रव ॥१२३॥

अन्वय —वित्ताढ्यम् निर्दोषम् अपि नृप दोषै योजयते, निर्धन प्राप्तदोष अपि सर्वत्र निरुपद्रव (भवति)।

समास —वित्ताढ्यम्+वित्तेन आढ्यम् (तत्पु०)। निर्दोषम्=नास्ति दोष यस्मिन् तम् (बहु०)। निर्धन =नास्ति धनम् यस्य तम् (बहु०)। प्राप्तदोष = प्राप्त दोष यम् (बहु०)। निरुपद्रव =नास्ति उपद्रव यस्य स (बहु०)।

शब्दार्थ —वित्ताढ्यम्=धन से सम्पन्न को। योजयते=युक्त कर देता है। निरुपद्रव =उपद्रव रहित, परेशानी से बचा हुआ।

हि० अनु० —धन-सम्पन्न व्यक्ति के निर्दोष होने पर भी राजा उसे दोषो से युक्त कर देता है (उसके सिर अनेक अपराध मढ़ देता है) निधन व्यक्ति दोषी होने पर भी सब जगह उपद्रवरहित रहता है (नगा का कोई क्या बिगाड़ेगा)।

> अर्थानामर्जने दु खमर्जितानां च रक्षणे।
> नाशे दु ख व्यये दु ख धिगर्थान् कष्टसश्रयान् ॥१२४॥

हि० अनु —धन के कमाने मे दु ख है, कमाए हुए धन के रक्षण मे दु ख है, धन के नाश तथा व्यय मे दुख है, दुखो के घर धन को धिक्कार है।

> अर्थार्थी यानि कष्टानि मूढोऽयं सहते जनः।
> शताशनापि मोक्षार्थी तानि चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥१२५॥

अन्वय —अयम् मूढ अर्थार्थी जन यानि कष्टानि सहते, मोक्षार्थी (सन्) तानि शताशम् अपि (सहेत) चेत् मोक्षम् आप्नुयात् ।

हि० अनु० —यह मूढ अर्थ लोलुप व्यक्ति जिन कष्टों को सहता है, यदि मोक्ष का अभिलाषी होकर वह उन कष्टों के सौवें भाग को भी सहले तो वह मोक्ष प्राप्त कर ले ।

अपर विदेशवासजमपि वैराग्य त्वया न कार्यम् । यत —

हि० अनु० —दूसरे, विदेश वास के कारण भी तुझे दु ख नहीं करना चाहिए । क्योंकि—

को धीरस्य मनस्विन स्वविषय को वा विदेश स्मृत,
य दश श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरण सिंहो वन गाहते,
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णा छिनत्त्यात्मन ॥१२६॥

अन्वय —धीरस्य मनस्विन क स्वविषय क वा विदेश स्मृत, (स) यम् देशम् श्रयते तम् एव बाहुप्रतापार्जितम् कुरुते, सिंह दंष्ट्रानखलाङ्गूलप्रहरण यद् वनम् गाहते तस्मिन् एव हतद्विपेन्द्ररुधिरै आत्मन तृष्णाम् छिनत्ति ।

स० टी० —धीरस्य धैर्ययुक्तस्य मनस्विन आत्मगौरवशालिन य स्व-विषय स्वदेश क वा विदेश परदेश स्मृत कथित, स यम् देशम् श्रयते सेवते तम् एव बाहुप्रतापार्जितम् बाहुबलाधिकृतम् कुरुते करोति, सिंह मृगेन्द्र दंष्ट्रानखलाङ्गूलप्रहरण दन्तकरजपुच्छायुध सह यद् वनम् अरण्यम् गाहते प्रविश्य भ्रमति तस्मिन् एव वने हताद्विपेन्द्ररुधिरै हतगजेन्द्रशोणितै तृष्णाम् पिपासाम् छिनत्ति नाशयति ।

समास —स्वविषय =स्व विषय (कर्मधा०) । बाहुप्रतापार्जितम्= बाहूनाम् प्रताप (तत्पु०), तेन अर्जितम् (तत्पु०) । दंष्ट्रानखलाङ्गूलप्रहरण = दंष्ट्रा च नखा च लाङ्गूलम् च (द्वन्द्व), तानि एव प्रहरणानि तै (कर्मधा०) । हतद्विपेन्द्ररुधिरै =हता च ते द्विपेन्द्रा (कर्मधा०), तेषाम् रुधिराणि तै (तत्पु०) ।

व्या० —मनस्विन =मनस+विनि (विन्) ।

शब्दार्थ—स्वविषयः=अपना देश। श्रयते=आश्रय लेता रहता है। दंष्ट्रानखलाङ्गूलप्रहरणैः=दाढ़, नाखून एवं पूँछ रूपी अस्त्र-शस्त्रों के साथ। गाहते=घुसकर विचरण करता है। हतद्विपेन्द्ररुधिरैः=मारे हुए हाथियों के खून से। छिनत्ति=नष्ट करता है, दूर करता है।

हि० अनु०:—धीर एवं स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए कौन अपना देश और कौन पराया देश कहा गया है? वह तो जिस देश मे रहता है उसे ही अपनी भुजाओं के बल से अपने अधीन कर लेता है। सिंह दाढ, नाखून एव पूँछ रूपी अस्त्र-शस्त्रों के साथ जिस वन मे घुस कर विचरण करता है, उसमे ही मारे हुए हाथियों के रक्त से अपनी प्यास बुझा लेता है।

अर्थहीनः परे देशे गतोऽपि यः प्रज्ञावान् भवति स कथंचिदपि न सीदति। उक्तं च—

हि० अनु०:—धनहीन होकर विदेश मे जाने पर भी जो बुद्धिमान् होता है वह किसी भी तरह दुःखी नहीं होता है। कहा भी है—

> कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
> को विदेशः सुविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥१२७॥

हि० अनु०:—समर्थ व्यक्तियों के लिए क्या अधिक भार है? दृढ निश्चय वालो के लिए क्या दूर है? विद्वानों के लिए क्या विदेश है? प्रिय बोलने वालों के लिए कौन पराया है?

तत्प्रज्ञानिधिर्भवान् प्राकृतपुरुषतुल्यः। अथवा—

हि० अनु०:—भी आप बुद्धि के निधान हैं, सामान्य पुरुष के समान नहीं हैं। अथवा—

> उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रम्,
> क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
> शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च,
> लक्ष्मीः स्वयं मार्गति वासहेतोः ॥१२८॥

अन्वय—उत्साहसम्पन्नम् अदीर्घसूत्रम् क्रियाविधिज्ञम् व्यसनेषु असक्तम् शूरम् कृतज्ञम् दृढसौहृदम् च लक्ष्मी स्वयम् वासहेतो मार्गति।

स० टी०:—उत्साहसम्पन्नम् उत्साहयुक्तम् अदीर्घसूत्रम् अनलसम् क्रियाविधिज्ञम् कार्यप्रणालीज्ञातारम् व्यसनेषु दुरभ्यस्तकार्येषु अनक्तम् असलग्नम् शूरम् वीरम् कृतज्ञम् कृतज्ञतायुक्तम् दृढसौहृदम् स्थिरसखित्वम् च जनम् लक्ष्मी श्री स्वयमेव वासहेतो समाश्रयणाय मार्गति अन्विच्छति।

समास—उत्साहसम्पन्नम्=उत्साहेन सम्पन्नम् (तत्पु०)। अदीर्घसूत्रम्=नास्ति दीर्घसूत्रम् यस्य तम् (बहु०)। क्रियाविधिज्ञम्=क्रियायाः विधि (तत्पु०), तं जानाति (उपपद तत्पु०)। दृढसौहृदम्=दृढम् सौहृदम् यस्य तम् (बहु०)।

व्या०:—असक्तम्=न (अ)+सञ्ज्+क्त (त)। कृतज्ञम्=कृत+ज्ञा+क (अ)।

शब्दार्थ—अदीर्घसूत्रम्=आलस्यरहित को, काम को आगे के लिए न टालने वाले को। क्रियाविधिज्ञम्=काम करने की प्रणाली को जानने वाले को। व्यसनेषु=बुरी आदतों में। असक्तम्=न फँसे हुए को। दृढसौहृदम्=स्थिर मित्रता वाले को। मार्गति=ढूँढ़ती है।

हि० अनु०—उत्साह से युक्त, काम को न टालने वाले, कार्य करने की प्रणाली को जानने वाले, व्यसनों में न फँसे हुए, शूर, कृतज्ञ एवं स्थिर मित्रता वाले व्यक्ति को लक्ष्मी स्वयं निवास (आश्रय) के लिए ढूँढ़ती है (ऐसे व्यक्ति के पास स्वयं ही लक्ष्मी आती है।)

अपरं प्राप्तोऽप्यर्थः कर्मप्राप्त्या नश्यति। तदेतावन्ति दिनानि त्वदीयमासीत्। मुहूर्तमप्यनात्मीयं भोक्तुं न लभ्यते। स्वयमागतमपि विधिनापहियते।

हि० अनु०—दूसरे, प्राप्त धन भी भाग्य के संयोग से नष्ट हो जाता है। सो इतने दिनों तक वह तुम्हारा था। जो अपना नहीं है, वह मुहूर्त (दो घड़ी) भर के लिए भी भोगने को प्राप्त नहीं होता है। स्वयं आए हुए को भी विधाता छीन लेता है।

अर्थस्योपार्जनं कृत्वा नैव भोगं समश्नुते ।
अरण्यं महदासाद्य मूढः सोमिलको यथा ॥१२६॥

हि० अनु०:—धन का उपार्जन करके भी उसका भोग प्राप्त नही होता है, जैसे मूर्ख सोमिलक (नामक व्यक्ति) बडे वन मे पहुँचकर (धन का भोग न कर सका)। हिरण्यक आह—'कथमेतत्।' स आह—

हि० अनु०:—हिरण्यक बोला—'यह कैसे ?' वह बोला—

कथा ५ (सोमिलक कथा)

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने सोमिलको नाम कौलिको वसति स्म। स चानेकविधपट्टरचनारञ्जितानि पार्थिवोचितानि सदैव वस्त्राण्युत्पादयति। परं तस्य चानेकविधपट्टरचनानिपुणस्यापि न भोजनाच्छादनाभ्यधिकं कथमप्यर्थमात्रं सम्पद्यते। अथान्ये तत्र सामान्यकौलिकाः स्थूलवस्त्रसंपादनविज्ञानिनो महर्द्धिसम्पन्नाः। तानवलोक्य स स्वभार्यामाह—'प्रिये, पश्यैतान् स्थूलपट्टकारकान् धनकनकसमृद्धान्। तदधारणकं ममैतत्स्थानम्। तदन्यत्रोपार्जनाय गच्छामि।' सा प्राह—भोः प्रियतम, मिथ्या प्रलपितमेतद्यदन्यत्र गतानां धनं भवति स्वस्थाने न भवतीति। उक्तं च—

समासः—अनेकविधपट्टरचनारञ्जितानि=पट्टस्य रचना. (तत्पु०), अनेकविधाः पट्टरचनाः (कर्मधा०) ताभिः रञ्जितानि (तत्पु०)। अनेकविधपट्टरचनानिपुणस्य=अनेकविधपट्टरचनासु निपुणस्य (तत्पु०)। भोजनाच्छादनाभ्यधिकम्=भोजनम् च आच्छादनम् च (द्वन्द्व), ताभ्याम् अधिकम् (तत्पु०)। स्थूलवस्त्रसंपादनविज्ञानिन.=स्थूलानि च तानि वस्त्राणि (कर्मधा०), तेषाम् सम्पादनम् (तत्पु०)। तस्य विज्ञानम् (तत्पु०), तदस्ति ऐषाम् (तद्धित)। स्थूलपट्टकारकान्=स्थूलाः च ते पट्टा. (कर्मधा०), तेषाम् कारकान् (तत्पु०)। धनकनकसमृद्धान्=धनम् च कनकम् च (द्वन्द्व), ताभ्याम् समृद्धान् (तत्पु०)।

व्या०:—अधिष्ठाने=अधि+स्था+ल्युट् (यु=अन)। रञ्जितानि=रञ्ज्+इट् (इ)+क्त (त)। उपार्जनाय=उप+अर्ज्+ल्युट् (यु=अन)। प्रलपितम्=प्र+लप्+इट् (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थ.—अधिष्ठाने=स्थान पर। कौलिक.=कोली, जुलाहा। अनेक विधपट्टरचनारञ्जितानि=अनेक प्रकार की वस्त्र निर्माण-कला से शोभित। भोजनाच्छादनाभ्यधिकम्=भोजन एवं वस्त्र से अधिक। स्थूलवस्त्रसंपादन-विज्ञानिनः=मोटे कपडे बनाने की कला जानने वाले। अधारणकम्=अलाभदायक। प्रलपितम्=बकना, कथन।

हि० अनु०:—किसी स्थान पर सोमिलक नामक जुलाहा रहता था। वह अनेक प्रकार की वस्त्र-निर्माण-कला से शोभित राजाओ के योग्य वस्त्रो को सदा ही बनाता था। लेकिन अनेक प्रकार की वस्त्र निर्माण कला मे निपुण होने पर भी उसको भोजन और वस्त्र से अधिक धन किसी प्रकार भी नही मिलता था। इधर दूसरी ओर मोटा कपडा बनाने के जानकार अन्य साधारण जुलाहे समृद्धि से युक्त थे। उनको देखकर वह अपनी पत्नी से बोला—'प्रिये, मोटा कपडा बनाने वाले जुलाहो को धन और सुवर्ण से युक्त देखो। सो मेरे लिए यह स्थान लाभदायक नही है। सो दूसरी जगह धन कमाने के लिए जाऊँ।' वह बोली—'हे प्रियतम, यह व्यर्थ कथन है कि और जगह जाने वालो के धन हो जाता है, और अपने स्थान पर नही होता है। कहा भी है—

उत्पतन्ति यदाकाशे निपतन्ति महीतले।
पक्षिणां तदपि प्राप्त्या नादत्तमुपतिष्ठति ॥१३०॥

अन्वय—(पक्षिणः) यत् आकाशे उत्पतन्ति महीतले निपतन्ति, तद् अपि पक्षिणाम् प्राप्त्या (भवति), अदत्तम् न उपतिष्ठति।

व्या:—प्राप्त्या=प्र+आप्+क्तिन् (ति)। अदत्तम्=नञ् (अ)+दा+क्त (त)।

शब्दार्थः—प्राप्त्या=पूर्वकृत की प्राप्ति से, भाग्य से।

हि० अनु०:—(पक्षी) जो कि आकाश मे उड़ते हैं और भूतल पर गिर पडते हैं, वह भी पक्षियो के पूर्वकृत की प्राप्ति (भाग्य) से होता है, (अतः स्पष्ट है कि) बिना दिया हुआ नही मिलता है (जो पहले किया जा चुकता है, उसी का फल प्राप्त होता है)।

तथा च।

२३ महाबोधिजातकम् ।

सत्पुरुषाणां पूर्वोपकारिष्वनुकम्पा न शिथिलीभवति

[१४९]

हि० अनु०:—जिस प्रकार एक हाथ से ताली सम्पन्न नहीं होती अर्थात् नहीं बजती, उसी प्रकार उद्योग से रहित कर्म (भाग्य) का फल नहीं बताया गया है।

पश्य कर्मवशात् प्राप्तं भोज्यकालेऽपि भोजनम् ।
हस्तोद्यम विना वक्त्रे प्रविशेन्न कथचन ॥१३६॥

अन्वयः—पश्य, कर्मवशात् भोज्यकाले प्राप्तम् अपि भोजनम् हस्तोद्यमम् विना वक्त्रे कथचन न प्रविशेत् ।

समास:— कर्मवशात्=कर्मण: वशः तस्मात् (तत्पु०) । भोज्यकाले= भोज्यस्य कालः तस्मिन् (तत्पु०) । हस्तोद्यमम्=हस्तस्य उद्यमः तम् (तत्पु०) ।

शब्दार्थः—भोज्यकाले=भोजन के समय । हस्तोद्यमम्=हाथ के उद्योग के । वक्त्रे=मुख में ।

हि० अनु०:—देखो, भाग्य के वश से भोजन के समय प्राप्त हुआ भी भोजन हाथ के उद्योग के बिना मुख मे किसी भी प्रकार प्रविष्ट नहीं हो सकता है ।

शब्दार्थ—शयानेन=सोते हुए के साथ। प्राक्तनम=पहले किया हुआ।

हि० अनु० —सोते हुए के साथ सोता है, जाते हुए के पीछे जाता है इस प्रकार जीवों का पहले किया हुआ कर्म आत्मा के साथ रहता है।

यथा छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ परस्परम्।
एवं कर्म च कर्ता च संश्लिष्टावितरेतरम् ॥१३४॥

अन्वय—यथा छायातपौ नित्यम् परस्परम् सुसम्बद्धौ (स्त) एवम् कर्म च कर्ता च इतरेतरम् (नित्यम्) संश्लिष्टौ (स्त)।

व्या० —संश्लिष्टौ=सम्+श्लिष+क्त (त)।

शब्दार्थ—संश्लिष्टौ=चिपटे हुए। इतरेतरम=परस्पर।

हि० अनु० —जिस प्रकार छाया और धूप सदा परस्पर पूर्णत सम्बद्ध रहती हैं उसी प्रकार कर्म और कर्ता सदा परस्पर चिपटे हुए रहते हैं।

तस्मादत्र व्यवसायपरो भव। कौलिक आह—प्रिये, न सम्यगभिहित भवत्या। व्यवसाय विना कर्म न फलति। उक्त च—

हि० अनु० —इसलिए यही व्यवसाय मे लगे रहो। जुलाहा बोला—प्रिये, आपने ठीक नही किया। व्यवसाय के बिना कर्म (भाग्य) फलित नहीं होता है। कहा भी है—

यथैकेन न हस्तेन तालिका सम्प्रपद्यते।
तथोद्यमपरित्यक्त न फल कर्मण स्मृतम् ॥१३५॥

अन्वय—यथा एकेन हस्तेन तालिका न सम्प्रपद्यते तथा उद्यमपरित्यक्तम कर्मण फलम न स्मृतम।

समास—उद्यमपरित्यक्तम=उद्यमेन परित्यक्तम (तत्पु०)।

व्या० —परित्यक्तम=परि+त्यज+क्त (त)। स्मृतम=स्मृ+क्त (त)।

शब्दार्थ—तालिका=ताली। सम्प्रपद्यते=सम्पन्न होती है। उद्यम परित्यक्तम=उद्योग से रहित।

२३ महाबोधिजातकम् ।

असत्कृतानामपि सत्पुरुषाणां पूर्वोपकारिष्वनुकम्पा न शिथिलीभवति

[१४२]

हि० अनु०:—जिस प्रकार एक हाथ से ताली सम्पन्न नहीं होती अर्थात् नहीं बजती, उसी प्रकार उद्योग से रहित कर्म (भाग्य) का फल नहीं बताया गया है।

पश्य कर्मवशात् प्राप्त भोज्यकालेऽपि भोजनम् ।
हस्तोद्यम विना वक्त्रे प्रविशेन्न कथचन ॥१३६॥

अन्वयः—पश्य, कर्मवशात् भोज्यकाले प्राप्तम् अपि भोजनम् हस्तोद्यमम् विना वक्त्रे कथचन न प्रविशेत् ।

समासः— कर्मवशात्=कर्मणः वशः तस्मात् (तत्पु०)। भोज्यकाले= भोज्यस्य कालः तस्मिन् (तत्पु०)। हस्तोद्यमम्=हस्तस्य उद्यमः तम् (तत्पु०)।

शब्दार्थः—भोज्यकाले=भोजन के समय। हस्तोद्यमम्=हाथ के उद्योग के। वक्त्रे=मुख मे।

हि० अनु०.—देखो, भाग्य के वश से भोजन के समय प्राप्त हुआ भी भोजन हाथ के उद्योग के बिना मुख में किसी भी प्रकार प्रविष्ट नहीं हो सकता है।

हि० अनु०:—और भी।

(कार्यम्) न सिद्धयति सिद्धम् भवति चेद् अत्र अस्मिन् विषये (पुरुषस्य) क दोषोऽपराधोऽस्ति न कोऽपि इत्यर्थ ।

समास —पुरुषसिंहम्=पुरुष सिंह इव तम् (उपमिततत्पु०)। आत्मशक्त्या=आत्मन शक्त्या (तत्पु०)।

व्या० —उद्योगिनम्=उद्योग+इनि (इन्)। निहत्य=नि+हन्+तुक् (त्)+क्त्वा (ल्यप्=य)। कृते=कृ+क्त (त)।

शब्दार्थ —पुरुषसिंहम्=सिंह के समान पुरुष को अर्थात् वीरपुरुष को। कापुरुषा =कायर पुरुष। निहत्य=मन से दूर कर, विचार छोडकर।

हि० अनु० —लक्ष्मी उद्योगी वीर पुरुष को प्राप्त होती है, भाग्य-भाग्य, ऐसा कायर पुरुष कहते हैं, भाग्य का विचार छोडकर अपनी शक्ति से पुरुषार्थ करो। प्रयत्न करने पर भी यदि कार्य सिद्ध नहीं होता है तो इसमे पुरुष का क्या दोष है ? (कोई दोष नही)।

तथाच।

हि० अनु० —और भी।

> उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
> न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगा ।।१३८।।

अन्वय —उद्यमेन कार्याणि सिध्यन्ति मनोरथैः न हि, सुप्तस्य सिंहस्य मुखे मृगा न हि प्रविशन्ति।

व्या० —कार्याणि=कृ+ण्यत् (य)।

हि० अनु० —उद्योग से कार्य सिद्ध होते हैं, मनोरथो से सिद्ध नही होते, सोते हुए सिंह के मुख मे मृग प्रवेश नहीं करते।

विशेष —यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार है।

> उद्यमेन विना राजन्न सिध्यन्ति मनोरथा ।
> कातरा इति जल्पन्ति यद्भाव्यं तद् भविष्यति।।१३९।।

अन्वय —राजन्, उद्यमेन विना मनोरथा न सिध्यन्ति, यद् भाव्यम् तद् भविष्यति इति कातरा जल्पन्ति।

हि० अनु० —हे राजन्, उद्योग के बिना मनोरथ सिद्ध नही होते हैं जो होना है, वह होगा, ऐसा कायर पुरुष कहते हैं।

स्वशक्त्या कुर्वत कर्म न चेत् सिद्धिं प्रयच्छति ।
नोपालम्भ्य पुमास्तत्र दैवान्तरितपौरुष ॥१४०॥

अन्वय—स्वशक्त्या कुर्वत कर्म सिद्धिम न प्रयच्छति चेत्, तत्र पुमान् न उपालम्भ्य, (यतो हि स) दैवान्तरितपौरुष (अस्ति) ।

समास—दैवान्तरितपौरुष = दैवेन अन्तरितम पौरुषम् यस्य स (बहु०) ।

व्या०—कुर्वत = कृ + उ + शतृ (अत्) । उपालम्भ्य = उप + आ + लभ् + यत् (य) ।

शब्दार्थ—उपालम्भ्य = उपालम्भ या ताना देना चाहिए । दैवान्तरित-पौरुष = जिसके पुरुषार्थ को भाग्य ने व्यवहित कर दिया या दबा दिया है ।

हि० अनु०—अपनी शक्ति से काम करने वाले को यदि कर्म सिद्धि नहीं देता है तो उस पुरुष को उपालम्भ या ताना नहीं देना चाहिए, क्योंकि उसके पुरुषार्थ को भाग्य के द्वारा दबा दिया गया है ।

तन्मयावश्य देशान्तर गन्तव्यम् ।' इति निश्चित्य वर्धमानपुर गत ।

हि० अनु०—सो मुझे अवश्य ही दूसरे स्थान पर जाना चाहिए ऐसा निश्चय कर वह वर्धमानपुर को चला गया ।

तत्र च वर्षत्रय स्थित्वा सुवर्णशतत्रयोपार्जन कृत्वा भूय स्वगृह प्रस्थित । अथार्धपथे गच्छतस्तस्य कदाचिदटव्या पर्यटतो भगवान् रविरस्तमुपागत । तदासौ व्यालभयात् स्थूलतरवटस्कन्धमारुह्य यावत् प्रसुप्तस्तावन्निशीथे स्वप्ने द्वौ पुरुषौ रौद्राकारौ परस्पर प्रजल्पन्तावश्रृणोत् ।

समास—सुवर्णशतत्रयोपार्जनम् = शतानाम त्रयम (तत्पु०) सुवर्णानाम् शतत्रयम् (तत्पु०) तस्य उपार्जनम् (तत्पु०) । अर्धपथे = पथ अर्धम् तस्मिन् । व्यालभयात् = व्यालात् भयम् तस्मात् (तत्पु०) । स्थूलतरवटस्कन्धम् = स्थूलतरश्च असौ वटस्कन्ध (कर्मधा०) रौद्राकारौ = रौद्र आकार ययो तौ (बहु०) ।

व्या०—स्थित्वा=स्था+क्त्वा (त्वा)। उपार्जनम्=उप+अर्ज्+ल्युट् (यु=अन)। कृत्वा=कृ+क्त्वा (त्वा)। प्रस्थित=प्र+स्था+क्त (त)। गच्छतः=गम् (गच्छ्)+शतृ (अत्)। पर्यटतः=परि+अट्+शतृ (अत्)। उपागतः=उप+आ+गम्+क्त (त)। आरुह्य=आ+रुह्+क्त्वा (ल्यप्=य)। प्रजल्पन्तौ—प्र+जल्प्+शतृ (अत्)।

शब्दार्थः—सुवर्णशतत्रयोपार्जनम्=तीन सौ सुनहली सिक्कों (मोहरों) का उपार्जन (कमाना)। अर्धपथे=मार्ग के अर्धभाग या मध्य में, रास्ते के बीच में। स्थूलतरवटस्कन्धम्=बरगद के अधिक मोटे तने पर। निशीथे=आधी रात के समय। रौद्राकारौ=भयंकर आकार वाले। प्रजल्पन्तौ=बातें करते हुए।

हि० अनु०.—और वहाँ तीन वर्ष ठहर कर तीन सौ मोहरों का उपार्जन कर फिर वह अपने घर को चल दिया। अर्द्ध मार्ग में पहुँचने पर उसके कभी वनों में घूमते हुए सूर्य भगवान् अस्त हो गए। तब वह सर्प के भय से बरगद के अधिक मोटे तने पर चढ़ कर ज्यों ही सोया त्यों ही आधी रात के समय स्वप्न में उसने दो भयंकर आकार वाले पुरुषों को परस्पर बात-चीत करते हुए सुना।

तत्रैक आह—'भोः कर्तः, त्वं किं सम्यङ् वेत्सि यदस्य सोमिलकस्य भोजनाच्छादनाभ्यधिका समृद्धिर्नास्ति। तत्किं त्वयास्य सुवर्णशतत्रयं प्रदत्तम्।' स आह—'भो. कर्मन्, मयावश्य दातव्यं व्यवसायिनाम्। तत्र च तस्य परिणतिस्त्वदायत्ता' इति।

समासः—त्वदायत्ता=तव आयत्ता (तत्पु०)।

व्या०—दातव्यम्=दा+तव्य। व्यवसायिनाम्=व्यवसाय+इनि (इन्)। परिणतिः=परि+णम् (नम्)+क्तिन् (ति)।

शब्दार्थ —सम्यङ्=अच्छी तरह। व्यवसायिनाम्=व्यवसायियों के लिए, उद्योगियों के लिए। परिणतिः=परिणाम, फल, उपभोग। दातव्यम्=देना है, देना चाहिए। त्वदायत्ता=तुम्हारे अधीन।

हि० अनु०:—उनमें से एक बोला—'हे कर्ता, तुम यह तो अच्छी तरह

जानते ही हो कि इस सोमिलक का भोजन-वस्त्र से अधिक वैभव नहीं है. तो फिर तुमने इसको तीन सौ मोहरें क्यों दे दी है। वह बोला—'हे कम, मुझे उद्योगी लोगों के लिए अवश्य देना है। और इसमें उस (धन) का फल या उपभोग तुम्हारे अधीन है।

अथ यावदसौ कौलिक प्रबुद्ध सुवर्णग्रन्थिमवलोकयति तावद् रिक्त पश्यति। ततः साक्षेप चिन्तयामास— अहो किमेतत् महता कष्टेनोपार्जित वित्त हेलया क्वापि गतम्। तद्व्यर्थश्रमोऽकिंचन कथं स्वपत्न्या मित्राणां च मुख दर्शयिष्यामि।' इति निश्चित्य तदेव पत्तन गतः।

समास —सुवर्णग्रन्थिम=सुवर्णानाम् ग्रन्थिम् (तत्पु०)। व्यर्थश्रम =व्यर्थ श्रम यस्य स (बहु०)। अकिंचन =नास्ति किंचन यस्य स।

व्या ०—प्रबुद्ध =प्र+बुध्+क्त (त)। उपार्जितम=उप+अर्ज्+इट् (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थ —सुवर्णग्रन्थिम्=मोहरों की गाँठ को। रिक्तम्=खाली। साक्षेपम्=नमक या आश्चर्य के साथ। हेलया=एक दम, अचानक। व्यर्थश्रम =बेकार मेहनत वाला। अकिंचन =दरिद्र, जिसके पास कुछ न हो। पत्तनम्=नगर को।

हि० अनु० —इसके बाद ज्योंही वह जुलाहा जग कर मोहरों की गाठ को देखता है त्योंही उसे खाली पाता है। तब वह तमक या आश्चर्य के साथ सोचने लगा— अरे! यह क्या हुआ, बड़े कष्ट से कमाया हुआ धन एकदम कहीं चला गया। सो मेहनत के बेकार होने पर मैं दरिद्र अपनी पत्नी और मित्रों को कैसे मुख दिखाऊँगा।' ऐसा निश्चय कर उसी नगर को चला गया।

तत्र च वर्षमात्रेणापि सुवर्णशतपञ्चकमुपार्ज्य भूयोऽपि स्वस्थान प्रति प्रस्थित। यावदर्धपथे भूयोऽप्यटवीगतस्य भगवान् भानुरस्त जगाम। अथ सुवर्णनाशभयात् सुश्रान्तोऽपि न विश्राम्यति। केवल कृतगृहोत्कण्ठ सत्वर व्रजति।

समास —सुवर्णशतपञ्चकम्=शतानां पञ्चकम् (तत्पु०), सुवर्णानाम्

शतपञ्चकम् (तत्पु०) । सुवर्णनाशभयात्=सुवर्णस्य नाशः (तत्पु०), तस्माद् भयम् तस्मात् (तत्पु०) । कृतगृहोत्कण्ठ =गृहाय उत्कण्ठा (तत्पु०), कृता गृहोत्कण्ठा येन स (तत्पु०)।

व्या० —उपार्ज्य=उप+अर्ज्+क्त्वा (ल्यप्=य) सुश्रान्त=सु+श्रम्+क्त (त)। सुवर्णशतपञ्चकम्=पाँच सौ मोहरें। उपार्ज्य=कमा कर। सुवर्णनाशभयात्=मोहरों के नाश के भय से सुश्रान्त=खूब थका हुआ। कृतगृहोत्कण्ठ =घर की उत्कण्ठा करने वाला।

हि० अनु० —और वहाँ केवल सात साल भर म पाँच सौ मोहरें कमा कर फिर अपने घर को चल दिया। ज्यों ही वह फिर अधमार्ग में था, तभी उसके वनों में स्थित होने पर सूर्य भगवान् अस्त हो गए। तब उसने मोहरों के नाश के भय से खूब थक जाने पर भी विश्राम नहीं किया, अपितु वह घर की उत्कण्ठा करके शीघ्र चलता रहा।

अत्रान्तरे द्वौ पुरुषौ तादृशौ दृष्टिदेशे समागच्छन्तौ जल्पन्तौ चाशृणोत्। तत्रैक प्राह— भो कर्त्तः, किं त्वयैतस्य सुवर्णशतपञ्चकं प्रदत्तम्। तत्किं न वेत्सि यद्भोजनाच्छादनाभ्यधिकमस्य किंचिन्नास्ति।' स आह—'भो कर्मन्, मयावश्य देय व्यवसायिनाम्। तस्य परिणामस्त्वदायत्त। तत्किं मामुपालम्भयसि।' तच्छ्रुत्वा सोमिलको यावद्ग्रन्थिमवलोकयति तावद् सुवर्णं नास्ति।

व्या० —देयम्=दा+यत् (य)। परिणाम =परि+णम् (नम्)+घञ् (अ)।

हि० अनु० —इसी बीच में उसने वैसे ही (पहले के से ही) दो पुरुषों को दृष्टिगोचर होते हुए और बातचीत करते हुए सुना। उनमें से एक बोला—'हे कर्ता, क्या तुमने इसको पाँच सौ मोहरें दे दी हैं, सो क्या तुम यह नहीं जानते हो कि भोजन और वस्त्र से अधिक इस को कुछ नहीं है। वह बोला—हे कर्म, मुझे उद्योगियों के लिए अवश्य देना है, उसका फल तुम्हारे अधीन है, सो मुझे क्यों उपालम्भ (ताना) देते हो।' यह सुनकर सोमिलक ने जैसे ही गाँठ को देखा तो वहाँ सोना नहीं था।

ततः परं दुःखमापन्नो व्यचिन्तयत्—'अहो, किं मम धनरहितस्य जीवितेन। तदनं वटवृक्षं आत्मानमुद्बध्य प्राणांस्त्यजामि।' एवं निश्चित्य दर्भमयीं रज्जुं विधाय स्वकण्ठे पाशं नियोज्य शाखायामात्मानं निबध्य यावत्प्रक्षिपति तावदेकः पुमानाकाशस्थ एवेदमाह—'भो भो सोमिलक, मैवं साहसं कुरु। अहं ते वित्तापहारकः न ते भोजनाच्छादनाभ्यधिकां वराटिकामपि सहामि। तद्गच्छ स्वगृहं प्रति। अन्यच्च भवदीयसाहसेनाहं तुष्टः। तथा मे न स्याद् व्यर्थं दर्शनम्। तत्प्राप्यतामभीष्टो वरः कश्चित्। सोमिलक आह—'यद्येवं तद्देहि मे प्रभूतं धनम्।' स आह—'भो, किं करिष्यसि भोगरहितेन धनेन, यतस्तव भोजनाच्छादनाभ्यधिका प्राप्तिरपि नास्ति। उक्तं च—

समास=धनरहितस्य=धनेन रहितस्य (तत्पु०)। वित्तापहारक= वित्तस्य अपहारकः (तत्पु०)।

व्या० —आपन्न =आ+पद+क्त (त)। उद्बध्य=उत्+बन्ध+क्त्वा (ल्यप्=य)। निश्चित्य=निस्+चि+तुक (त्)+क्त्वा (ल्यप्=य)। आकाशस्थ =आकाश+स्था+क (अ)। वित्तापहारकः=वित्त+अप+हृ+ण्वुल् (वु=अक)। तुष्ट =तुष+क्त (त)। अभीष्टः+अभि+इष+क्त (त)।

शब्दार्थ —आपन्नः=प्राप्त कर। उद्बध्य=ऊपर को बांधकर, फांसी लगाकर। दर्भमयीम्=कुश (एक प्रकार की घास) से बनी हुई को। वराटिकाम्=कौडी को। प्रभूतम=बहुत सा।

शब्दार्थ —तब अत्यन्त दुःख को प्राप्त कर वह सोचने लगा—'अरे! मुझ धनहीन के जीवन से क्या है? सो इस बरगद के पेड पर अपनी फाँसी लगाकर प्राणों को छोड दूँ। ऐसा निश्चय कर कुश की रस्सी बनाकर अपने गले में फन्दा लगाकर शाखा में अपने को बाँधकर जैसे ही अपने को नीचे फेंकने लगा तैसे ही एक पुरुष आकाश मे ही स्थित हो यह बोला—'हे सोमिलक, ऐसा साहस मत करो। मैं तेरे धन का अपहरण करने वाला हूँ। मैं तेरे पास भोजन और वस्त्र से अधिक एक कौडी भी सहन नहीं कर सकता हूँ। सो अपने घर को जाओ। दूसरे, मैं तुम्हारे साहस से सतुष्ट हूँ। मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं हो, इसलिए तुम कोई अभीष्ट वर माँग लो।' सोमिलक बोला—'यदि ऐसा है तो

मुझे बहुत सा धन दो।' वह बोला—'अरे! भोगरहित धन का क्या करोगे, क्योंकि भोजन और वस्त्र से अधिक तेरी प्राप्ति या भाग्य भी नहीं है। कहा भी है—

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥१४१॥

अन्वय—तया लक्ष्म्या किं क्रियते या केवला वधू इव (अस्ति), या सामान्या वेश्या इव पथिकै न उपभुज्यते।

हि० अनु०—उस लक्ष्मी का क्या किया जावे जो केवल कुलवधू के समान (बन्द रहती है) जो कि सामान्य वेश्या के समान पथिकों के द्वारा नहीं भोगी जाती है।

सोमिलक आह—'यद्यपि तस्य धनस्य भोगो नास्ति, तथापि तद् भवतु। उक्त च—

हि० अनु०—सोमिलक बोला—'भले ही उस धन का भोग नहीं, फिर भी वह हो (मिले)।

कहा भी है—

कृपणोऽप्यकुलीनोऽपि सज्जनैर्वर्जित. सदा।
सेव्यते स नरो लोके यस्य स्याद्वित्तसचय ॥१४२॥

अन्वय—कृपण अपि अकुलीन॰ अपि सदा सज्जनै वर्जित॰ स नर॰ लोके सेव्यते, यस्य वित्तसचय स्यात्।

समास—वित्तसचय = वित्तस्य सचय (तत्पु॰)।

व्या॰—वर्जित = वृजी (वृज) + इट् (इ) + क्त (त)।

हि० अनु०—कृपण (कजूस), अकुलीन (खराब कुल मे पैदा होने वाला) और सदा सज्जनो से उपेक्षित होने पर भी वह व्यक्ति लोक मे सेवित होता है जिसके पास धन का सचय होता है।

तथा च।

शिथिलौ च सुबद्धौ च पतत पततो न वा।
निरीक्षितौ मया भद्रे दश वर्षाणि पञ्च च ॥१४३॥

हि० अनु०:—और भी।

अन्वयः—हे भद्रे, शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः न वा पततः, मया दश पञ्च च वर्षाणि निरीक्षितौ।

व्या०:—निरीक्षितौ=निर्+ईक्ष्+इट् (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थ:—शिथिलौ=ढीले, हिलते हुए। सुबद्धौ=अच्छी तरह बँधे हुए।

हि० अनु०:—हे प्रिये, ये हिलते हुए और अच्छी तरह बँधे हुए भी हैं। (न जाने) ये गिरेंगे या नहीं गिरेंगे, मैंने तो इन्हें पन्द्रह वर्ष तक देख लिया है।

विशेष:—यह श्लोक अग्रिम कथा का संकेत श्लोक है।

पुरुष आह—'किमेतत्?' सोऽब्रवीत्।

हि०अनु०:—पुरुष बोला—'यह क्या ?' वह बोला—

कथा ६ (वृषभश्रृगाल कथा)

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने तीक्ष्णविषाणो नाम महावृषभः प्रतिवसति स्म। स च मदातिरेकात् परित्यक्तनिजयूथः शृङ्गाभ्यां नदीतटानि विदारयन् स्वेच्छया मरकतसदृशानि शष्पाणि भक्षयन्नरण्यचरो बभूव। अथ तत्रैव वने प्रलोभको नाम श्रृगालः प्रतिवसति स्म। स कदाचित् स्वभार्यया सह नदीतीरे सुखोपविष्ट स्तिष्ठति। अत्रान्तरे स तीक्ष्णविषाणो जलार्थं तदेव पुलिनमवतीर्णः। ततश्च तस्य लम्बमानौ वृषणाववलोक्य श्रृगाल्या श्रृगालोऽभिहितः—'स्वामिन्, पश्यास्य वृषभस्य मांसपिण्डौ लम्बमानौ यथा स्थितौ। तदेतौ क्षणेन प्रहरेण वा पतिष्यतः। एवं ज्ञात्वा भवता पृष्ठानुयायिना भाव्यम्।' श्रृगाल आह—प्रिये, न ज्ञायते कदाचिदेतयोः पतनं भविष्यति न वा। तत्किं वृथा श्रमाय मां नियोजयसि। अत्रस्थस्तावज्जलार्थमागतान्मूषकान् भक्षयिष्यामि समं त्वया, मार्गोऽयं यतस्तेषाम्। अपरं यदि त्वां मुक्त्वास्य तीक्ष्णविषाणस्य वृषभस्य पृष्ठे गमिष्यामि, तदागत्यान्यः कश्चिदेतत् स्थानं समाश्रयिष्यति। नैतद् युज्यते कर्तुम्। उक्तं च—

समासः—तीक्ष्णविषाणः=तीक्ष्णौ विषाणौ यस्य सः (बहु०)। मदातिरेकात्=मदस्य अतिरेकः तस्मात् (तत्पु०)। परित्यक्तनिजयूथः=परित्यक्तः

निजयूथ. येन स. (बहु०)। नदीतटानि=नद्या. तटानि (तत्पु०)। मरकत-सदृशानि=मरकतेन सदृशानि (तत्पु०)। अरण्यचरः=अरण्ये चरति (उपप-तत्पु०)। सुखोपविष्टः=सुखेन उपविष्ट (तत्पु०)। मांसपिण्डौ=मांसस्य पिण्डौ (तत्पु०)। पृष्ठानुयायिना=पृष्ठम् अनुयाति (उपपदतत्पु०)।

व्या० —अधिष्ठाने=अधि+स्था+ल्युट् (यु=अन)। परित्यक्त=परि+त्यज्+क्त (त)। विदारयन्=वि+णिजन्त 'दृ' (दारय्)+शतृ (अत्)। भक्षयन्=भक्ष्+णिच् (इ)+शतृ (अत्)। अरण्यचरः=अरण्य+चर्+ट (अ)। उपविष्ट=उप+विश्+क्त(त)। अवतीर्णः अव+तृ+क्त(त)। लम्बमानौ=लम्ब्+शप् (अ)+मुक् (म्)+शानच् (आन)। अवलोक्य=अव+लोक्+क्त्वा (ल्यप्=य)। अभिहितः=अभि+धा+क्त (त), धातु को 'हि' आदेश। स्थितौ=स्था+क्त (त) ज्ञात्वा=ज्ञा+क्त्वा (त्वा)। पृष्ठानुयायिना=पृष्ठ+अनु+या+णिनि (इन्)। भाव्यम्=भू+ण्यत् (य)। पतनम्=पत+ल्युट् (यु=अन)। आगतान्=आ+गम्+क्त (त)। मुक्त्वा=मुच्+क्त्वा (त्वा)। आगत्य=आ+गम्+तुक् (त्)+क्त्वा (ल्यप्=य)। कर्तुम्=कृ+तुमुन् (तुम्)।

शब्दार्थ —अधिष्ठाने=स्थान पर। महावृषभः=साँड, बड़ा बैल। मदातिरेकात्=मद की अधिकता के कारण। परित्यक्तनिजयूथ=अपने झुण्ड को छोड चुकने वाला। विदारयन्=फोडता हुआ। मरकतसदृशानि=मरकत (हरी मणि) के समान। अरण्यचर.=वन म विचरण करने वाला। सुखोपविष्टः=सुख से बैठा हुआ अत्रान्तरे=इसी बीच मे। पुलिनम्=तट पर। अवतीर्णः=उतरा। लम्बमानौ=लटकते हुए। वृषणौ=अण्डकोशो को। अवलोक्य=देखकर। नियोजयसि=नियुक्त करती हो। समम्=साथ। समाश्रयिष्यति=अड्डा जमा लेगा, आश्रय बना लेगा। युज्यते=ठीक है।

हि० अनु०.—किसी स्थान पर तीक्ष्णविषाण (तीखे सीगो वाला) नाम का साड रहता था। वह मद की अधिकता के कारण अपने झुण्ड को छोडकर सीगो स नदी के किनारो को फोडता हुआ तथा स्वेच्छा (मन की मौज) स मरकत मणि (हरे रग की मणि) के समान घास को खाता हुआ वनचर (वन मे विचरण

करने वाला, जंगली) हो गया। इधर, उसी वन में प्रलोभक नाम का स्यार (गीदड) रहता था। वह कभी अपनी स्त्री के साथ नदी के तट पर सुखपूर्वक बैठा था। इसी बीच में वह तीक्ष्णविषाण नामक सांड जल पीने के लिए उसी तट पर उतरा। तब उसके लटकते हुए अण्डकोशों को देख कर स्यारी (गीदडी) ने स्यार (गीदड) से कहा—'स्वामिन्, इस बैल के लटकते हुए से स्थित दो मांसपिण्डों (मांस के गोलों या लोंदों) को देखो। सो ये दोनों क्षण भर में या एक पहर में गिरेंगे। ऐसा जान कर आप को इसका पीछा करना चाहिए।' स्यार बोला—'प्रिये, यह नहीं मालूम कि कभी इनका पतन होगा भी या नहीं। सो तुम मुझे क्यों व्यर्थ के परिश्रम में लगाती हो। यहाँ रह कर मैं तुम्हारे साथ जल पीने को आने वाले चूहों को खाऊँगा, क्योंकि यह उनका मार्ग है। दूसरे, यदि मैं तुम्हें छोड़ कर इस तीक्ष्णविषाण बैल के पीछे जाऊँगा तो कोई दूसरा आकर इस स्थान पर अड्डा जमा लेगा। यह करना ठीक नहीं है। कहा भी है—

> **यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।**
> **ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च ॥१४४॥**

अन्वयः—(सीधा है)।

व्या.—परित्यज्य=परि+त्यज्+क्त्वा (ल्यप्=य)। नष्टम्=नश्+क्त (त)।

शब्दार्थ.—ध्रुवाणि=निश्चितों को। अध्रुवाणि=अनिश्चितों को निषेवते=सेवन करता है, प्रयत्न करता है।

हि० अनु०:—जो निश्चित पदार्थों को छोडकर अनिश्चित पदार्थों का सेवन करता है अर्थात् उनके लिए प्रयत्न करता है। उसके निश्चित पदार्थ नष्ट हो जाते हैं (उसके हाथ से निकल जाते हैं और अनिश्चित तो नष्ट हैं ही।

शृगाल्याह—'भोः, कापुरुषस्त्वम्। यत्किंचित्प्राप्त तेनापि सन्तोषं करोषि। उक्तं च—

हि० अनु०:—गीदडी ने कहा—'अरे तुम कायर पुरुष हो। जो कुछ प्राप्त हो गया है उसी से संतोष करते हो। कहा भी है—

सुपूरा स्यात् कुनदिका सुपूरो मूषकाञ्जलि ।
सुसतुष्ट कापुरुष स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥१४५॥

अ वय —(सीधा है) ।

शब्दार्थ —सुपूरा=जल्दी या सुगमता से पूर्ण हो जाने वाली ।

हि० अनु० —छोटी नदी जल्दी ही भर जाती है, चूहे की अञ्जलि (पसो) जल्दी भर जाती है, कायर पुरुष सुसतुष्ट रहकर थोडे से ही सतुष्ट हो जाता है ।

तस्मात्पुरुषेण सदैवोत्साहवता भाव्यम् । उक्त च—

हि० अनु० —इसलिए पुरुष को सदा ही उत्साही होना चाहिए । कहा भी है—

यत्रोत्साहसमारम्भो यत्रालस्यविहीनता ।
नयविक्रमसयोगस्तत्र श्रीरचला ध्रुवम् ॥१४६॥

अन्वय —(सीधा है) ।

समास —उत्साहसमारम्भ =उत्साहस्य समारम्भ (तत्पु०) । आलस्य विहीनता=आलस्येन विहीन (तत्पु०) तस्य भाव (तद्धित) । नयविक्रम सयोग =नयश्च विक्रमश्च (द्वन्द्व) तयो सयोग (तत्पु०) ।

व्या० —समारम्भ =सम्+आ+रभ+घञ (अ) । आलस्य=अलस+ ष्यञ् (य) । विहीनता=विहीन+तल (त)+टाप (आ) । नय=नी+अच (अ) । विक्रम=वि+क्रम्+घ (अ) । सयोग =सम्+युज+घञ् (अ) ।

शब्दार्थ —उत्साहसमारम्भ =उत्साह का आरम्भ, उत्साहपूर्वक चेष्टा । नयविक्रमसयोग =नीति और पराक्रम का सयोग । ध्रुवम्=निश्चित ।

हि० अनु० —जहाँ उत्साहपूर्वक चेष्टा है, जहाँ आलस्य का अभाव है, जहाँ नीति और पराक्रम का सयोग है, वहाँ लक्ष्मी अचल रहती है, यह निश्चित है ।

तद्दैवमिति सचिन्त्य त्यजेन्नोद्योगमात्मन ।
अनुद्योग विना तैल तिलानां नोपजायते ॥१४७ ॥

अन्वयः—तद् दैवम् इति सचिन्त्य आत्मनः उद्योगम् न त्यजेत्, अनुयोगम् विना तिलानाम् तैलम् न उपजायते ।

व्या०ः—सचिन्त्य=सम्+चिन्त्+क्त्वा (ल्यप्=य) । उद्योगम्=उत्+युज्+घञ् (अ) । अनुयोगम्=अनु+युज्+घञ (अ) ।

शब्दार्थः—अनुयोगम्=उद्योग, प्रयास । उपजायते=पैदा होता है, निकलता है ।

हि० अनु०ः—सो दैव (सब कुछ करता है), ऐसा सोचकर अपने उद्योग को नही छोडना चाहिए, उद्योग के बिना तिलो से तेल नही निकलता है ।

अन्यच्च ।

हि० अनु०ः—और भी ।

> यः स्तोकेनापि सतोषं कुरुते मन्दधीर्जनः ।
> तस्य भाग्यविहीनस्य दत्ता श्रीरपि मार्ज्यते ॥१४८॥

अन्वयः—यः मन्दधीः जनः स्तोकेन अपि सतोषम् कुरुते, तस्य भाग्यविहीनस्य दत्ता श्रीः अपि मार्ज्यते ।

समासः – भाग्यविहीनस्य=भाग्येन विहीनः तस्य (तत्पु०) ।

शब्दार्थः—मार्ज्यते=घुल जाती है, नष्ट हो जाती है ।

हि० अनु०ः—जो मन्दबुद्धि व्यक्ति थोडे से ही सतोष कर लेता है, उस अभागे की दी हुई (मिली हुई) लक्ष्मी भी घुल जाती है । (नष्ट हो जाती है) ।

यच्च त्व वदसि, एतौ पतिष्यतो न वेति, तदप्ययुक्तम् । उक्तं च—

हि० अनु०ः—और जो तुम कहते हो कि ये गिरेंगे या नही, वह भी ठीक नही है । कहा भी है—

> कृतनिश्चयिनो वन्द्यास्तुङ्गिमा न प्रशस्यते ।
> चातकः को वराकोऽयं यस्येन्द्रो वारिवाहकः ॥१४९॥

अन्वयः—कृतनिश्चयिनः वन्द्याः (भवन्ति), तुङ्गिमा न प्रशस्यते। अयम् वराकः चातकः कः यस्य इन्द्रः वारिवाहकः।

समासः—कृतनिश्चयिनः=कृतश्चासौ निश्चयः (कर्मधा०), सोऽस्त्येषाम् (तद्धित)। वारिवाहक.=वारिण. वाहक. (तत्पु०)।

व्या०:—कृतनिश्चयिनः=कृतनिश्चय+इनि (इन्)। वन्द्याः=वन्द्+ण्यत् (य)। तुङ्गिमा=तुङ्ग+इमनिच् (इमन्)।

शब्दार्थः—कृतनिश्चयिनः=दृढ निश्चय वाले। वन्द्याः=वन्दनीय। तुङ्गिमा=ऊँचाई, बडप्पन। चातकः=पपीहा। वराक=बेचारा। वारिवाहकः=जल ढोने या लाने वाला।

हि० अनु०—दृढ निश्चय वाले वन्दनीय होते हैं, ऊँचाई या बडप्पन की प्रशंसा नहीं होती। यह बेचारा पपीहा कौन है जिसके लिए इन्द्र जल लाता है (पपीहा दृढ निश्चय वाला है, अत. इतने ऊँचे या बडे इन्द्र को भी उसके लिए जल लाना पडता है)।

अपर मूषकमांसस्य निर्विण्णाहम्। एतौ च मांसपिण्डौ पतनप्रायौ दृश्येते। तत्सर्वथा नान्यथा कर्तव्यम् इति। अथासौ तदाकर्ण्य मूषकप्राप्तिस्थानं परित्यज्य तीक्ष्णविषाणस्य पृष्ठमन्वगच्छत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

हि० अनु०—दूसरे, चूहों के मांस से मैं तंग आ गई हूँ (मुझे उसमें अरुचि या घृणा हो गई है) और ये मांस के पिण्ड (लौंदे) गिरने वाले ही दीखते हैं। सो किसी भी तरह अन्यथा मत कीजिए। तब वह यह सुनकर चूहों की प्राप्ति के स्थान को छोडकर तीक्ष्णविषाण के पीछे-पीछे चल दिया। क्यों न ऐसा हो, यह ठीक ही कहा जाता है—

तावत्स्यात्सर्वकृत्येषु पुरुषोऽत्र स्वयं प्रभुः।
स्त्रीवाक्याङ्कुशविक्षुण्णो यावन्नो ह्रियते बलात्॥१५०॥

अन्वय —अत्र पुरुषः तावत् सर्वकृत्येषु स्वयम् प्रभुः स्यात्, यावत् स्त्रीवाक्याङ्कुशविक्षुण्णः (सन्) बलात् नो ह्रियते।

समास.—सर्वकृत्येषु=सर्वाणि च तानि कृत्यानि तेषु (कर्मधा०)।

स्त्रीवाक्याङ्कुशविक्षुण्णः=स्त्रियाः वाक्यानि (तत्पु०), तान्येव अंकुशाः (उपमित तत्पु०), तैः विक्षुण्णः (तत्पु०)।

व्या०:—कृत्य=कृ+तुक् (त)+क्यप् (य)। विक्षुण्णः=वि+क्षुद्+क्त (त)।

शब्दार्थः—सर्वकृत्येषु=सब कामो मे। प्रभुः=स्वामी, मालिक। स्त्रीवाक्याङ्कुशविक्षुण्णः=स्त्री के वाक्यरूपी अंकुशो से छिदा हुआ। ह्रियते=आकृष्ट किया जाता है, खींचा जाता है।

हि० अनु०:—यहाँ पुरुष तब तक सब कार्यों मे स्वय मालिक रहता है, जब तक वह स्त्री के वाक्यरूपी अकुशों से छिद कर जबर्दस्ती नही खीचा जाता।

अकृत्यं मन्यते कृत्यमगम्यं मन्यते सुगम्।
अभक्ष्य मन्यते भक्ष्य स्त्रीवाक्यप्रेरितो नरः ॥१५१॥

अन्वयः—स्त्रीवाक्यप्रेरितः नरः अकृत्यम् कृत्यम् मन्यते, अगम्यम् सुगम् मन्यते, अभक्ष्यम् भक्ष्यम् मन्यते।

समासः—स्त्रीवाक्यप्रेरितः+स्त्रियाः वाक्यानि (तत्पु०), तैः प्रेरितः (तत्पु०)।

व्या०:—अकृत्यम्=नञ् (अ)+कृ+तुक् (त)+क्यप् (य)। अगम्यम्=नञ्+गम्+यत् (य)। सुगम्=सु+गम्+ड (अ), धातु की 'टि' (अम्) का लोप। अभक्ष्यम्=नञ् (अ)+भक्ष्+ण्यत् (य)। प्रेरितः=प्र+ईर्+इट् (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थः—सुगम्=सुगम, सरलता से जाने योग्य। स्त्रीवाक्यप्रेरितः=स्त्री के वाक्यो से प्रेरित।

हि० अनु०:—स्त्री के वाक्यो से प्रेरित पुरुष अकृत्य को कृत्य मानता है, अगम को सुगम मानता है, अभक्ष्य को भक्ष्य (खाने योग्य) मानता है।

एवं स तस्य पृष्ठतः सभार्यः परिभ्रमश्चिरकालमनयत्। न च तयोः पतनमभूत्। ततश्च निर्वेदात् पञ्चदशे वर्षे शृगालः स्वभार्यामाह—

हि० अनु०:—इस प्रकार उसने स्त्री के साथ उसके पीछे घूमते हुए बहुत समय व्यतीत कर दिया। किन्तु उन (अण्डकोषों) का पतन नहीं हुआ। तब खिन्न होकर स्यार पन्द्रहवें वर्ष अपनी स्त्री से बोला—

> शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा।
> निरीक्षितौ मया भद्रे दश वर्षाणि पञ्च च ॥१५२॥

हि० अनु०.—हे प्रिये, ये हिलते हुए और अच्छी तरह बंधे भी हुए हैं, (न जाने) ये गिरेंगें या नहीं गिरेंगे, मैंने तो इन्हें पन्द्रह वर्ष तक देख लिया है।

तयोस्तत्पश्चादपि पातो न भविष्यति। तत्तदेव स्वस्थानं गच्छावः।'

हि० अनु०:—इसके बाद भी इन दोनों का पात (गिरना) नहीं होगा, सो अपने उसी स्थान को चलें।

अतोऽहं ब्रवीमि—'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इति।

हि० अनु०.—इसलिए मैं कहता हूँ कि हिलते हुए भी हैं और अच्छी तरह बंधे हुए भी हैं।

पुरुष आह—'यद्येवं तद्गच्छ भूयोऽपि वर्धमानपुरम्। तत्र द्वौ वणिक्पुत्रौ वसतः। एको गुप्तधनः, द्वितीय उपभुक्तधनः। ततस्तयोः स्वरूपं बुद्ध्वैकस्य वरः प्रार्थनीयः। यदि ते धनेन प्रयोजनमभक्षितेन, ततस्त्वामपि गुप्तधनं करोमि। अथवा दत्तभोग्येन धनेन ते प्रयोजनं तदुपभुक्तधनं करोमि' इति। एवमुक्त्वाऽदर्शनं गतः सोमिलकोऽपि विस्मितमना भूयोऽपि वर्धमानपुरं गतः।

समास—वणिक्पुत्रौ=वाणिजः पुत्रौ (तत्पु०)। गुप्तधनः=गुप्तम् धनम् यस्य सः (बहु०) उपभुक्तधनः=उपभुक्तम् धनम् यस्य येन वा (बहु०)। दत्तभोग्येन=पूर्वम् दत्तम् पश्चात् भोग्यम् तेन (कर्मधा०)। विस्मितमनाः=विस्मितम् मनः यस्य सः (बहु०)।

व्या०:—गुप्त=गुप्+क्त (त) उपभुक्त=उप+भुज्+क्त (त)। बुद्ध्वा=बुध्+क्त्वा (त्वा) प्रार्थनीयः=प्र+अर्थ्+अनीयर् (अनीय)। अभक्षितेन=नञ् (अ)+भक्ष्+इट् (इ)+क्त (त)। दत्त=दा+क्त (त)। भोग्य=

भुज+ण्यत् (य)। उक्त्वा=ब्रू (वच्)+क्त्वा (त्वा)। विस्मित=वि+स्मि+क्त (त)।

शब्दार्थ.—गुप्तधन =गुप्त धन वाला। उपभुक्तधन =धन का उपभोग करने वाला। अभक्षितेन=उपभोग रहित से। दत्तभोग्येन=दान और भोग के योग्य से। विस्मितमना =चकित हृदय वाला।

हि० अनु० —पुरुष बोला— यदि ऐसा है तो फिर वर्धमानपुर को जाओ। वहाँ दो वैश्य पुत्र रहते हैं। एक गुप्तधन (धन को गाड़ कर रखने वाला)। दूसरा उपभुक्तधन (धन का उपभोग या खर्च करने वाला)। सो उनका स्वरूप जान कर एक के स्वरूप का वर मांगना। यदि तुझे बिना भोग के धन से प्रयोजन हो तो तुझको भी गुप्तधन कर दूँगा और दान तथा भोग क योग्य धन से प्रयोजन हो तुझे उपभुक्तधन कर दूँगा। ऐसा कह कर वह अदृष्ट हो गया। सोमिलक भी चकित हृदय हो फिर वर्धमानपुर को गया।

अथ सन्ध्यासमये श्रान्त कथमपि तत्पुर प्राप्तो गुप्तधनगृह पृच्छन् कृच्छ्राल्लब्ध्वास्तमितसूर्ये प्रविष्ट। अथासौ भार्यापुत्रसमेतेन गुप्तधनेन निभर्त्स्यमानो हठाद् गृह प्रविश्योपविष्ट। ततश्च भोजनवेलाया तस्यापि भक्तिवर्जित किंचिदशन दत्तम्। ततश्च भुक्त्वा तत्रैव यावत् सुप्तो निशीथे पश्यति तावत्तावपि द्वौ पुरुषौ परस्पर मन्त्रयत। तत्रैक आह— भो कत, किं त्वयास्य गुप्तधनस्यान्योऽधिको व्ययो निर्मितो यत्सोमिलकस्यानेन भोजन दत्तम्। तदयुक्त त्वया कृतम्। स आह— भो कमन्, न ममात्र दोष। मया पुरुषस्य लाभप्राप्तिर्दातव्या। तत्परिणातिस्त्वदायत्ता इति। अथासौ यावदुत्तिष्ठति तावद्गुप्तधनो विषूचिकया खिद्यमानो रुजाभिभूत क्षण तिष्ठति। ततो द्वितीयेऽह्नि तद्दोषेण कृतोपवास सजात।

समास —सन्ध्यासमये=सन्ध्याया समये (तत्पु०)। अस्तमितसूर्ये=अस्तमितश्च असौ सूय तस्मिन् (कर्मधा०)। भार्यापुत्रसमेतेन=भार्या च पुत्राश्च (द्वन्द्व), तैं समेत तेन (तत्पु०)। भोजनवेलायाम्=भोजनस्य वेलायाम् (तत्पु०)। भक्तिवर्जितम्=भक्त्या वर्जितम् (तत्पु०)। लाभप्राप्ति = लाभस्य प्राप्ति (तत्पु०) तत्परिणति =तस्य परिणति (तत्पु०) कृतोपवास =कृत उपवास यन स (बहु०)।

व्या०:—श्रान्त.=श्रम्+क्त (त) । कृच्छ्रात्=प्रच्छ्+शतृ (अत्) । लब्ध्वा=लभ्+क्त्वा (त्वा) । निर्भर्त्स्यमानः=निर+भर्त्स्+यक् (य)+मुक् (म्)++शानच् (आन) । प्रविश्य=प्र+विश्+क्त्वा (ल्यप्=य) । उपविष्ट.=उप+विश्+क्त(त) । भुक्त्वा=भुज्+क्त्वा (त्वा) । निर्मित = निर्+मा+क्त(त) । खिद्यमान.=खिद्+यक् (य)+मुक् (म्)+शानच् (आन) । अभिभूत =अभि+भू+क्त(त) ।

शब्दार्थ:—श्रान्त=थका हुआ । कृच्छ्रात्=कठिनता से । निर्भर्त्स्यमानः= फटकारा हुआ । अशनम्=भोजन । निशीथे=आधीरात के समय । मन्त्रयत'= सलाह करते हैं, बातचीत करते हैं । लाभप्राप्ति.=लाभ (आय) का उपयोग (उपयोग का अवसर) । विपूचिकया=हैजा से । खिद्यमानः=परेशान । रुजा= रोग से । अभिभूतः=पीड़ित ।

हि० अनु०:—इसके बाद सन्ध्या के समय थका हुआ वह किसी तरह उस नगर मे पहुँचा और गुप्तधन का घर पूँछता हुआ मुश्किल से उसे पाकर सूर्यास्त होने पर उसमे प्रविष्ट हुआ । तब पत्नी और पुत्रों से युक्त गुप्तधन के द्वारा फटकारा जाने पर भी वह हठपूर्वक घर मे घुस कर बैठ गया । तब भोजन के समय उसको भी कुछ भोजन अश्रद्धापूर्वक दे दिया गया । तब वह खाकर वहीं सोते हुए आधी रात के समय देखता है कि दो पुरुष आपस मे बातचीत कर रहे हैं । उनमे से एक बोला—'हे कर्ता, क्या तुमने इस गुप्तधन के लिए अन्य व्यय (खर्चा) करना भी दे दिया या अनुमत कर दिया है जो कि इसने सोमिलक को भोजन दिया । सो तुमने यह अनुचित किया ।' वह बोला— 'हे कर्म, इसमे मेरा दोप नही है । मुझे पुरुष को उसके लाभ (आय) के उपयोग का अवसर तो देना ही है । फिर उस का परिणाम या फल तुम्हारे अधीन है (कि नियत से अधिक खर्च किस प्रकार ठीक या बराबर हो सके) । तब जैसे ही वह (जुलाहा) उठा वैसे ही देखा कि गुप्तधन हैजा से परेशान होता हुआ रोगपीडित है । तब दूसरे दिन उसके (हैजा के) दोप से उसे (गुप्तधन को) उपवास करना पडा (इस प्रकार नियत से अधिक खर्च बराबर हो गया) ।

सोमिलकोऽपि प्रभाते तद्गृहान्निष्क्रम्योपभुक्तधनगृहं गत. । तेनापि

व्या०—श्रान्त = श्रम् + क्त (त) । पृच्छन् = प्रच्छ् + शतृ (अत्) । लब्ध्वा = लभ् + क्त्वा (त्वा) । निर्भर्त्स्यमान = निर् + भर्त्स् + यक् (य) + मुक् (म्) + + शानच् (आन) । प्रविश्य = प्र + विश् + क्त्वा (ल्यप् = य) । उपविष्ट = उप + विश + क्त (त) । भुक्त्वा = भुज् + क्त्वा (त्वा) । निर्मित = निर् + मा + क्त (त) । खिद्यमान = खिद् + यक् (य) + मुक् (म्) + शानच् (आन) । अभिभूत = अभि + भू + क्त (त) ।

शब्दार्थ—श्रान्त = थका हुआ । कृच्छ्रात् = कठिनता से । निर्भर्त्स्यमान = फटकारा हुआ । अशनम् = भोजन । निशीथे = आधीरात के समय । मन्त्रयत = सलाह करते हैं, बातचीत करते हैं । लाभप्राप्ति = लाभ (आय) का उपयोग (उपयोग का अवसर) । विषूचिकया = हैजा से । खिद्यमान = परेशान । रुजा = रोग से । अभिभूत = पीड़ित ।

हि० अनु०.—इसके बाद सन्ध्या के समय थका हुआ वह किसी तरह उस नगर मे पहुँचा और गुप्तधन का घर पूँछता हुआ मुश्किल से उसे पाकर सूर्यास्त होने पर उसमे प्रविष्ट हुआ । तब पत्नी और पुत्रो से युक्त गुप्तधन के द्वारा फटकारा जाने पर भी वह हठपूर्वक घर मे घुस कर बैठ गया । तब भोजन के समय उसको भी कुछ भोजन अश्रद्धापूर्वक दे दिया गया । तब वह खाकर वही सोते हुए आधी रात के समय देखता है कि दो पुरुष आपस मे बातचीत कर रहे हैं । उनमे से एक बोला—'हे कर्ता, क्या तुमने इस गुप्तधन के लिए अन्य व्यय (खर्चा) करना भी दे दिया या अनुमत कर दिया है जो कि इसने सोमिलक को भोजन दिया । सो तुमने यह अनुचित किया ।' वह बोला—'हे कर्म, इसमे मेरा दोष नहीं है । मुझे पुरुष को उसके लाभ (आय) के उपयोग का अवसर तो देना ही है । फिर उस का परिणाम या फल तुम्हारे अधीन है (कि नियत स अधिक खच किस प्रकार ठीक या बराबर हो सके) । तब जैसे ही वह (जुलाहा) उठा वैसे ही देखा कि गुप्तधन हैजा से परेशान होता हुआ रोगपीडित है । तब दूसरे दिन उसके (हैजा के) दोष से उसे (गुप्तधन को) उपवास करना पडा (इस प्रकार नियत से अधिक खच बराबर हो गया) ।

सोमिलकोऽपि प्रभाते तद्गृहान्निष्क्रम्योपभुक्तधनगृहं गत । तेनापि

चाभ्युत्थानादिना सत्कृतो विहितभोजनाच्छादनसमानस्तस्यैव गृहे भव्यशय्यामारुह्य सुष्वाप । ततश्च निशीथे यावत् पश्यति तावत्तावेव द्वौ पुरुषौ मिथो मन्त्रयत । अथ तयोरेक आह—'भोः कर्तः, अनेन सोमिलकस्योपकारं कुर्वता प्रभूतो व्ययः कृतः । तत्कथय कथमस्योद्धारकविधिर्भविष्यति । अनेन सर्वमेतद् व्यवहारक-गृहात् समानीतम् ।' स आह—'भो कर्मन् मम कृत्यमेतत् । परिणतिस्त्वदायत्ता इति । अथ प्रभातसमये राजपुरुषो राजप्रसादजं वित्तमादाय समायात उपभुक्त-धनाय समर्पयामास । तद् दृष्ट्वा सोमिलकश्चिन्तयामास—'सञ्चयरहितोऽपि वरमेष उपभुक्तधनः, नासौ कदर्यो गुप्तधन । उक्तं च—

समासः—विहितभोजनाच्छादनसमान = भोजनम् च आच्छादनम् च (द्वन्द्व), ताभ्याम् समानम् (तत्पु०), विहितम् भोजनाच्छादनसमानम् येन सः (बहु०) । भव्यशय्याम् = भव्या च असौ शय्या ताम् (कर्मधा०) । उद्धारकविधि = उद्धार-कश्च असौ विधिः (कर्मधा०) । व्यवहारकगृहात् = व्यवहारकस्य गृहम् तस्मात् ।

व्या०:—निष्क्रम्य = निस् + क्रम् + क्त्वा (ल्यप् = य) । अभ्युत्थान = अभि + उत् + स्था + ल्युट (यु = अन) । सत्कृतः = सत् + कृ + क्त (त) । कुर्वता = कृ + उ + शतृ (अत्) । उद्धारक = उद् + हृ + ण्वुल् (वु = अक) । समानीतम् = सम् + आ + नी + क्त (त) । कृत्यम् = कृ + तुक् (त्) + क्यप् (य) । आदाय = आ + दा + क्त्वा (ल्यप् = य) । समायात = सम् + आ + या + क्त (त) ।

शब्दार्थः—निष्क्रम्य = निकलकर । अभ्युत्थानादिना = उठने के द्वारा स्वागत आदि से । विहितभोजनाच्छादनसमान = जिसका भोजन और वस्त्र से समान किया गया है । भव्यशय्याम् = सुन्दर व सुसज्जित पलग पर । सुष्वाप = सोया । मिथः = परस्पर । प्रभूत = बहुत । उद्धारकविधि = उद्धार करने वाला तरीका । व्यवहारकगृहात् = व्यापारी या दूकानदार के घर से । समानीतम् = मगवाया । राजप्रसादजम् = राजा की कृपा से प्राप्त होने वाले को । समर्पया-मास = सौंपा । कदर्यः = कृपण, कंजूस ।

हि० अनु०:—सोमिलक भी प्रातःकाल उसके घर से निकलकर उपभुक्त-

धन के घर को गया । उसके द्वारा भी उठने के द्वारा स्वागत आदि से सत्कृत हो तथा भोजन और वस्त्र से सम्मानित हो वह (सोमिलक) उसी के घर मे सुसज्जित पलग पर लेटकर सोया । तब आधी रात के समय ज्यो ही देखता है त्यो ही वही दोनो पुरुष परस्पर सलाह करते हैं । उनमे से एक बोला—हे कर्ता, इस (उपभुक्तधन) ने सोमिलक का उपकार करते हुए बहुत व्यय कर दिया है । इसने यह सब दूकानदार के घर से मगवाया था ।' वह बोला—'हे कर्म, मेरा यह काम है । इसका परिणाम तुम्हारे अधीन है ।' इसके बाद प्रात-काल राजपुरुष राजा की कृपा से प्राप्त धन को लेकर आया और उसे उपभुक्त-धन को सौप दिया । यह देखकर सोमिलक सोचने लगा—सचय के बिना भी उपभुक्तधन अच्छा है, वह कजूस गुप्तधन अच्छा नही है । कहा भी है—

अग्निहोत्रफला वेदा शीलवित्तफल श्रुतम् ।
रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफल धनम् ॥१५३॥

अन्वय —(सीधा है) ।

समासः—अग्निहोत्रफला =अग्निहोत्रम् फलम् येषा ते (बहु०) । शीलवित्त-फलम्=शीलम् च वित्तम् च (द्वन्द्व), ते फलम् यस्य तत् (बहु०) । रतिपुत्र-फला = रतिश्च पुत्राश्च (द्वन्द्व), ते फलम् येषा ते (बहु०) । दत्तभुक्तफलम्= दत्तम् च भुक्तम् च (द्वन्द्व), ते फलम् यस्य तत् (बहु०) ।

व्या० —श्रुतम्=श्रु+क्त (त) । दत्त=दा+क्त (त) । भुक्त=भुज्+क्त (त) ।

शब्दार्थ —अग्निहोत्रफला =जिनका फल अग्निहोत्र है । शीलवित्त-फलम्=शील (सदाचरण) और धन जिसके फल हैं । रतिपुत्रफला =जिनके फल रति (सभोग) और पुत्र हैं । दत्तभुक्तफलम्=जिसका फल दान और भोग है । श्रुतम्=शास्त्र । दारा —स्त्रियाँ ।

हि० अनु० —वेदो का फल अग्निहोत्र है, शास्त्र का फल शील (सदाचरण) और धन है, स्त्रियो का फल रति (सभोग) और सन्तान हैं, धन का फल दान और भोग है ।

तद् विधाता मां दत्तभुक्तफलं करोतु । न कार्य मे गुप्तधनेन।' ततः सोमिलको दत्तभुक्तधनः सजातः ।

हि० अनु०:—सो विधाता मुझे दान और भोग रूप धन वाला बनावे । मुझे गुप्त (छिपे या गड़े हुए) धन से कुछ नहीं करना है । तब सोमिलक दान और भोग रूप धन वाला हो गया ।

अतोऽहं ब्रवीमि—'अर्थस्योपार्जनं कृत्वा' इति ।

हि० अनु०:—इसलिए मैं कहता हूं—'धन का उपार्जन करके ।'

(मुख्यकथा का अवशिष्ट अंश)

तद्भद्र हिरण्यक, एवं ज्ञात्वा धनविषये संतापो न कार्यः । अथ विद्यमानमपि धनं भोज्यवन्ध्यतया तदविद्यमानं मन्तव्यम् । उक्तं च—

हि० अनु०.—सो भाई हिरण्यक, ऐसा जानकर धन के विषय में सन्ताप नहीं करना चाहिए । इसके अतिरिक्त, पास में रहने वाले धन को भी भोग से वन्ध्य (फलरहित) होने पर पास में न रहने वाला मानना चाहिए । कहा भी है—

गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि ।
भवाम किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥१५४॥

अन्वय —यदि गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनः (सन्ति) तेन एव धनेन वयम् किम् न धनिनः भवामः ।

समासः—गृहमध्यनिखातेन=गृहस्य मध्यम् (तत्पु०), तस्मिन् निखातम् तेन (तत्पु०) ।

व्या० —निखात=नि+खन्+क्त (त) । धनिन =धन+इनि (इन्) ।

शब्दार्थः—गृहमध्यनिखातेन=घर के भीतर गड़े हुए से ।

हि० अनु०:—यदि घर के भीतर गड़े हुए धन से लोग धनी होते हैं, तो उसी धन से हम भी क्यों न धनी हो जावें अर्थात् अपने को धनी मानें (क्योंकि वह धन काम में तो उनके भी नहीं आता, जिनके घर में गड़ा हुआ है) । तथा च ।

हि अनु०.—और भी ।

उपार्जितानामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम् ।
तड़ागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥१५५॥

अन्वय —तडागोदरसंस्थानाम् अम्भसाम् परीवाहः इव उपार्जितानाम् अर्थानाम् त्याग एव (तेषाम्) रक्षणम् हि ।

समासः—तडागोदरसंस्थानाम्=तडागस्य उदरम् (तत्पु०), तस्मिन् सतिष्ठन्ति (उपपद तत्पु०) ।

व्या०:—तडागोदरसंस्थानाम्=तडागोदर+सम्+स्था+क (अ) । परीवाह =परि+वह+घञ् (अ) । उपार्जितानाम्=उप+अर्ज्+इट् (इ)+क्त (त) त्याग =त्यज्+घञ् (अ) ।

शब्दार्थः—तड़ागोदरसंस्थानाम्=तालाब के उदर मे (भीतर) स्थित का । अम्भसाम्=जल का । परीवाहः=ऊपर होकर बहते रहना । उपार्जितानाम्= कमाए हुए का । अर्थानाम्=धन का ।

हि० अनु०:—तालाब के उदर मे (भीतर) स्थित जल के परीवाह (ऊपर होकर बहना) के समान कमाए हुए धन का त्याग ही उसका रक्षण है (जिस प्रकार तालाब मे तादाद से अधिक भर जाने वाले जल का ऊपर होकर बह जाना ही ताडागस्थित जल का संरक्षण है, उसी प्रकार आवश्यकता से अधिक धन का दान कर देना ही आवश्यक धन का संरक्षण है) ।

दातव्य भोक्तव्य धनविषये सचयो न कर्तव्यः ।
पश्येह मधुकरीणां सचितमर्थं हरन्त्यन्ये ॥१५६॥

अन्वय —धनविषये दातव्यम्, भोक्तव्यम्, सचयः न कर्तव्य', पश्य, इह मधुकरीणाम् सचितम् अर्थम् अन्ये हरन्ति ।

समास —धनविषये=धनस्य विषये (तत्पु०) । मधुकरीणाम्=मधु कुर्वन्ति (उपपदतत्पु०) ।

व्याः—दातव्यम्=दा+तव्य । भोक्तव्यम्=भुज्+तव्य । संचय =

सम्+चि+अच् (अ)। कर्तव्य =कृ+तव्य। मधुकरीणाम=मधु+कृ+ट (अ)। सचितम्=सम्+चि+क्त (त)।

शब्दार्थ—धनविषये=धन के विषय मे। दातव्यम्=दान देना चाहिए। भोक्तव्यम=भोग करना चाहिए। मधुकरीणाम्=भ्रमरियो का, मधुमक्खियो का।

हि० अनु०:—धन के विषय मे दान देना चाहिए, भोग करना चाहिए। सचय नही करना चाहिए, देखो, यहाँ मधुमक्खियो के सचित पदार्थ—मधु—को दूसरे लोग ले जाते हैं।

अन्यच्च।

हि० अनु०—और भी।

> दान भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
> यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥१५७॥

अन्वय—दानम् भोग, नाश, वित्तस्य तिस्र गतय भवन्ति, य न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गति भवति।

व्या०—गति =गम्+क्तिन् (ति)।

शब्दार्थ —गतय =दशाएँ।

हि० अनु० —दान, भोग और नाश, ये धन की तीन दशाएँ होती हैं, जो न दान देता है और न भोग करता है उसके धन की तीसरी दशा (नाश) होती है।

एव ज्ञात्वा विवेकिना न स्थित्यर्थ वित्तोपार्जन कर्तव्यम्, यतो दु खाय तत्। उक्त च—

हि० अनु०—ऐसा जान कर समझदार व्यक्ति को जमा रखने के लिए धनोपार्जन नहीं करना चाहिए, क्योकि वह दु ख के लिए होता है। कहा भी है—

> धनादिकेषु विद्यन्ते येऽत्र मूर्खा सुखाशया।
> तप्ता ग्रीष्मेण सेवन्ते शैत्यार्थे ते हुताशनम् ॥१५८॥

अन्वय—अत्र ये मूढा धनादिकेषु सुखाशया विद्यते, ते ग्रीष्मेण तप्ता (सन्त) शैत्यायम् हुताशनम् सेवन्ते ।

समास—धनादिकेषु=धनम् आदि येषाम् तेषु । सुखाशया=सुखे आशय यषाम् ते (बहु०) । शैत्यायम=शैत्याय इदम् (नित्य तत्पु०) । हुताशनम=हुतम् अशनम् यस्य तम् (बहु०) ।

सर्पा पिबन्ति पवन न च दुर्बलास्ते,
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति ।
कन्दै फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालम्,
सतोष एव पुरुषस्य पर निधानम् ॥१५६॥

अन्वय—सर्पा पवनम् पिबन्ति, ते च दुर्बला न वनगजा शुष्कै तृणै बलिन भवन्ति । मुनिवरा कन्दै फलै कालम् गमयन्ति, सन्तोष एव पुरुषस्य परम् निधानम् ।

स० टी०—सर्पा भुजङ्गा पवनम् वायुम् पिबन्ति पानम् कुर्वन्ति, पुनरपि च ते सर्पा दुर्बला बलहीना कृशा वा न सन्ति, वनगजा अरण्यहस्तिन शुष्कै नीरसै तृणै शस्यादिभि बलिन बलवन्त भवन्ति जायन्ते, मुनिवरा मुनीन्द्रा कन्दै शकरकन्दादिभि फलै आम्रादिभि कालम् समयम् गमयन्ति यापयन्ति अत यथालाभ तुष्टि एव पुरुषस्य पुस परम् उत्तमम् निधानम् निधि अस्तीति शेष ।

समास—वनगजा=वनस्य गजा (तत्पु०) । मुनिवरा=मुनिषु वरा (तत्पु०) ।

व्या०—बलिन=बल+इनि (इन) । निधानम्=नि+धा+ल्युट् (यु=अन) ।

तात्पर्य—गमयन्ति=व्यतीत करते हैं ।

हि० अनु०—सर्प वायु पीते हैं और फिर भी दुर्बल नहीं जंगली हाथी सूखे तृणों से ही बलवान हो जाते हैं । मु[illegible] बिताते हैं सन्तोष ही पुरुष का बड़ा खजाना

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥१६०॥

अन्वयः—सन्तोषामृततृप्तानाम् शान्तचेतसाम् यत् सुखम्, तत् धनलुब्धानाम् इतः च इतः च धावताम् कुतः ।

समासः—सन्तोषामृततृप्तानाम्=सन्तोष एव अमृतम् (कर्मधा०) । तेन तृप्तानाम् (तत्पु०) । शान्तचेतसाम्=शान्तम् चेतः येषाम् तेषाम् (बहु०) । धनलुब्धानाम्=धनाय लुब्धानाम् (तत्पु०) ।

व्या०:—तृप्त=तृप्+क्त (त) । लुब्ध=लुभ्+क्त (त) । धावताम्=धाव्+शतृ (अत्) ।

हि० अनु०:—सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त एवं शान्त चित्त वाले व्यक्तियों को जो सुख मिलता है, वह धन के लोभी और फलतः इधर-उधर दौड़-धूप करने वाले व्यक्तियों को कहाँ प्राप्त है ?

पीयूषमिव संतोषं पिबतां निर्वृतिः परा ।
दुःखं निरन्तरं पुंसामसंतोषवतां पुनः ॥१६१॥

अन्वयः—पीयूषम् इव संतोषम् पिबताम् परा निर्वृतिः (भवति) पुनः असन्तोषवताम् पुंसाम् निरन्तरम् दुःखम् (भवति) ।

व्या:०—निर्वृतिः=निर्+वृ+क्तिन् (ति) । असन्तोषवताम्=असन्तोष+मतुप् (मत्=वत्) ।

शब्दार्थः—निर्वृतिः=शान्ति, आनन्द । परा=परम, बड़ी ।

हि० अनु०—अमृत के समान संतोष का पान करने वाले पुरुषों को परम शान्ति प्राप्त होती है और असन्तोषी पुरुषों को निरन्तर दुःख प्राप्त होता है ।

निरोधाच्चेतसोऽक्षाणि निरुद्धान्यखिलान्यपि ।
आच्छादिते रवौ मेघैराच्छन्नाः स्युर्गभस्तयः ॥१६२॥

अन्वयः—चेतसः निरोधात् अखिलानि अपि अक्षाणि निरुद्धानि (भवन्ति), रवौ मेघैः आच्छादिते (सति) गभस्तयः आच्छन्नाः स्युः ।

व्या०:—निरोधात्=नि+रुध्+घञ (अ) । आच्छादिते=आ+छद (छाद्)+इ+क्त (त) । आच्छन्ना =आ+छद+क्त (त) ।

शब्दार्थ —निरोधात्=निरोध से, सयम स । अक्षाणि=इन्द्रियाँ । आच्छादिते=ढाँके जाने पर । गभस्तय =किरणें । आच्छन्ना =ढकी हुई ।

हि० अनु०—चित्त के निरोध (सयम) से सभी इन्द्रियाँ निरुद्ध (सयत) हो जाती हैं । सूय के मेघो के द्वारा ढाँके जाने पर सभी किरणें ढक जाती हैं ।

विशेष—यहाँ 'दृष्टान्त' अलकार है ।

> वाञ्छाविच्छेदन प्राहु स्वास्थ्य शान्ता महर्षय ।
> वाञ्छा निवर्तते नार्थैः पिपासेवाग्निसेवनै ।।१६३।।

अन्वय —शान्त महपय वाञ्छाविच्छेदनम् स्वास्थ्यम् प्राहु , वाञ्छा अग्निसेवनै पिपासा इव अर्थैः न निवतते ।

समास —वाञ्छाविच्छेदनम्=वाञ्छाया विच्छेदनम् (तत्पु०) ।

व्या० —विच्छेदनम्=वि+छिद्+ल्युट् (यु=अन) । स्वास्थ्यम्=स्वस्थ +ष्यञ (य) । सेवनै =सेव्+ल्युट् (यु=अन) ।

शब्दाथ —वाञ्छाविच्छेदनम्=अभिलाषा की निवृत्ति ।

हि० अनु० —शान्तचित्त महर्षि अभिलाषा की निवृत्ति को स्वास्थ्य या स्वस्थता कहते हैं कि तु अभिलाषा धन से उसी प्रकार निवृत्त नहीं हो सकती जिस प्रकार अग्नि के सेवन से प्यास निवृत्त नही हो सकती ।

> अनिन्द्यमपि निन्दन्ति स्तुवन्त्यस्तुत्यमुच्चकै ।
> स्वापतेयकृते मर्त्याः किं किं नाम न कुर्वते ।।१६४।।

अ वयः—मर्त्या अनिन्द्यम् अपि निन्दति, अस्तुत्यम् उच्चकै स्तुवन्ति, (ते) स्वापतेयकृते किम् किम् न कुर्वते नाम ।

समास —स्वापतेयकृते=स्वापतेयस्य कृते (तत्पु०) ।

व्या० —अनिन्द्यम्=नञ् (अ)+निन्द+ण्यत् (य) । अस्तुत्यम्=नञ (अ)+स्तु+तुक् (त)+क्यप् (य) स्वापतेय=स्वपति+ढञ् (एय) ।

शब्दार्थः—मर्त्याः=मनुष्य। अनिन्द्यम्=अनिन्दनीय को। अस्तुत्यम्=जो प्रशंसनीय न हो। स्वापतेयकृते=धन के लिए।

हि० अनु०:—मनुष्य अनिन्दनीय की निन्दा करते हैं, अप्रशंसनीय की प्रशंसा करते हैं, वे धन के लिए क्या-क्या नहीं करते हैं।

विशेषः—यहाँ 'नाम' शब्द का प्रयोग केवल वाक्यालंकार के लिए है, उसका कोई अर्थ नहीं।

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यापि न शुभावहा।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥१६५॥

अन्वयः—यस्य वित्तेहा धर्मार्थम्, तस्य अपि (सा) शुभावहा न, हि पंकस्य प्रक्षालनात् दूरात् अस्पर्शनम् वरम्।

समासः—धर्मार्थम्=धर्माय इदम् (नित्य तत्पु०)। वित्तेहा=वित्तस्य वित्ताय वा ईहा। शुभावहा=शुभम् आवहति (उपपदतत्पु०)।

व्या०:—शुभावहा=शुभ+आ+वह्+अच् (अ)। प्रक्षालनात्=प्र+क्षल (क्षाल्)+ल्युट् (यु=अन)। अस्पर्शनम्=नञ्+स्पृश्+ल्युट् (यु=अन)।

शब्दार्थः—वित्तेहा=धन के लिए चेष्टा, प्रयत्न या इच्छा। शुभावहा=भला करने वाली। पङ्कस्य=कीचड के।

हि० अनु०:—जिसकी धनाभिलाषा धर्म करने के लिए है, उसका भी वह कोई भला करने वाली नहीं है, क्योंकि कीचड (को लगाकर उस) के धोने की अपेक्षा यह अच्छा है कि उससे दूर रहकर उसका स्पर्श ही न किया जावे।

विशेषः—यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है।

दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यः,
लोभाच्च नान्योऽस्ति रिपुः पृथिव्याम्।
विभूषणं शीलसमं न चान्यत्
संतोषतुल्यं धनमस्ति नान्यत् ॥१६६॥

अन्वय—दानेन तुल्यः अन्यः निधिः न अस्ति, लोभात् अन्यः च पृथिव्याम्

रिपुः न अस्ति, शीलसमम् अन्यद् विभूषणम् न (अस्ति), संतोषतुल्यम् अन्यद् धनम् न अस्ति।

समास—शीलसमम्=शीलेन समम् (तत्पु०)। संतोषतुल्यम्=संतोषेण तुल्यम् (तत्पु०)।

व्या०:—निधिः=नि+धा+कि (इ)।

शब्दार्थः—निधिः=संचित धनराशि, खजाना।

हि० अनु०:—दान के समान दूसरा खजाना नहीं है, लोभ के समान दूसरा पृथिवी में शत्रु नहीं है। शील (चरित्र, सदाचरण) के समान दूसरा आभूषण नहीं है, संतोष के समान दूसरा धन नहीं है।

दारिद्र्यस्य परा मूर्तिर्यन्मानद्रविणाल्पता।
जरद्गवधनः शर्वस्तथापि परमेश्वरः ॥१६७॥

अन्वयः—यत् मानद्रविणाल्पता (तत्) दारिद्र्यस्य परा मूर्तिः शर्वः जरद्गवधनः तथापि (सः) परमेश्वर।

समासः—मानद्रविणाल्पता=मानम् एव द्रविणम् (कर्मधा०), तस्य अल्पता (तत्पु०)। जरद्गवधनः=जरन् गौः धनम् यस्य सः (बहु०)। परमेश्वरः=परमश्चासौ ईश्वरः (कर्मधा०)।

व्या०:—दारिद्र्यस्य=दरिद्र+ष्यञ् (य)।

शब्दार्थ—परा=सर्वोच्च, अन्तिम। मूर्तिः=स्वरूप। मानद्रविणाल्पता=समान रूपी धन की कमी। जरद्गवधनः=जिसका धन बूढ़ा बैल है।

हि० अनु०:—जो कि समान रूपी धन की कमी है वही दरिद्रता का सर्वोच्च स्वरूप (अन्तिम पराकाष्ठा) है, यद्यपि शिवजी का धन केवल एक बूढ़ा बैल (नांदिया) है, तो भी वह परमेश्वर है (तात्पर्य यह है कि सबसे बड़ा दरिद्र वह है जिसके पास समान रूपी धन की कमी है, भौतिक धन की कमी से मनुष्य दरिद्र नहीं होता)।

सकृत्कन्दुकपातेन पतत्यार्यः पतन्नपि।
तथा पतति मूर्खस्तु मृत्पिण्डपतनं यथा ॥१६८॥

अन्वयः— आर्यः सकृत् पतन् अपि कन्दुकपातेन पतति, मूर्खः तु तथा पतति यथा मृत्पिण्डपतनम् ।

समासः—कन्दुकपातेन=कन्दुकस्य पातः तेन (तत्पु०) । मृत्पिण्डपतनम्= मृदः पिण्डः (तत्पु०), तस्य, पतनम् (तत्पु०) ।

व्या०:—पतन्=पत्+शतृ (अत्) । पात=पत्+घञ् (अ) । पतनम्= पत्+ल्युट् (यु=अन) ।

शब्दार्थः—आर्यः=श्रेष्ठ पुरुष, बुद्धिमान् । सकृत्=एक बार । कन्दुकपातेन=गेंद की गिरन से अर्थात् गेंद के गिरने के समान । मृत्पिण्डपतनम्= मिट्टी के लोदे का गिरना ।

हि० अनु०:—बुद्धिमान् पुरुष एक बार गिरता हुआ भी गेंद के गिरने के समान गिरता है अर्थात् गेंद की तरह एक बार गिरकर फिर उछल जाता है, किन्तु मूर्ख तो ऐसे गिरता है जैसे मिट्टी के लौदे का गिरना अर्थात् मिट्टी के लोदे की तरह पडा का पडा ही रह जाता है ।

एवं ज्ञात्वा भद्र, त्वया सतोषः कार्यः, इति । मन्थरकवचनमाकर्ण्य वायस आह—'मन्थरको यदेवं वदति तत्त्वया चित्ते कर्तव्यम् । अथवा साध्विदमुच्यते—

हि० अनु०:—ऐसा जानकर भाई, तुम्हे संतोप करना चाहिए । मन्थरक के वचन को सुनकर कौआ बोला—'मन्थरक जो ऐसा कहता है सो तुम्हे यह चित्त मे रखना चाहिए । अथवा यह ठीक कहा जाता है—

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥१६६॥

अन्वयः—राजन् सततम् प्रियवादिनः पुरुषाः सुलभाः, अप्रियस्य पथ्यस्य च वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।

समासः—प्रियवादिनः=प्रियम् वदन्ति (उपपद तत्पु०) ।

व्या०:—प्रियवादिनः=प्रिय+वद्+णिनि (इन्) । वक्ता=ब्रू (वच्)+तृच् (तृ) । श्रोता=श्रु+तृच् (तृ) ।

हि० अनु०:—हे राजन्, निरन्तर प्रिय बोलने वाले पुरुष सुलभ हैं, किन्तु अप्रिय और हितकर बात का कहने वाला और सुनने वाला दुर्लभ है।

अप्रियाण्यपि पथ्यानि ये वदन्ति नृणामिह।
त एव सुहृदः प्रोक्ता अन्ये स्युर्नामधारकाः ॥१७०॥

अन्वय.—इह ये नृणाम् अप्रियाणि पथ्यानि वदन्ति, ते एव सुहृदः प्रोक्ताः अन्ये नामधारकाः स्युः।

समास.—नामधारकाः=नाम्नः धारकाः (तत्पु०)।

व्या०:—प्रोक्ताः=प्र+ब्रू (वच्)+क्त (त)। नामधारका=नाम+धृ+ण्वुल् (वु=अक)।

हि० अनु०:—इस जगत् में जो मनुष्यों से अप्रिय होने पर भी हितकर वचन कहते हैं, वे ही सुहृद् कहे गए हैं, अन्य तो केवल (सुहृद् का) नाम धारण करने वाले हैं (सुहृद् नहीं)।

अथैवं जल्पतां तेषां चित्राङ्गो नाम हरिणो लुब्धकत्रासितस्तस्मिन्नेव सरसि प्रविष्टः। अथायान्तं ससम्भ्रममवलोक्य लघुपतनको वृक्षमारूढः। हिरण्यको निकटवर्तिनं शरस्तम्बं प्रविष्टः। मन्थरकः सलिलाशयमास्थितः। अथ लघुपतनको मृगं सम्यक् परिज्ञाय मन्थरकमुवाच—'एह्येहि सखे मन्थरक, मृगोऽयं तृषार्तोऽत्र समायातः सरसि प्रविष्टः, तस्य शब्दोऽयं न मानुषसम्भवः' इति। तच्छ्रुत्वा मन्थरको देशकालोचितमाह—'भो लघुपतनक, यथायं मृगो दृश्यते प्रभूतमुच्छ्वासमुद्वहन्नुद्भ्रान्तदृष्ट्या पृष्ठतोऽवलोकयति, तन्न तृषार्त एषः, नूनं लुब्धकत्रासितः। तज्ज्ञायतामस्य पृष्ठे लुब्धका आगच्छन्ति न वा' इति। उक्तं च—

समास.—लुब्धकत्रासितः=लुब्धकेन त्रासितः (तत्पु०)। शरस्तम्बम्=शराणाम् स्तम्बम् (तत्पु०)। मानुषसम्भवः=मानुषात् सम्भवः यस्य सः (बहु०)।

व्या०:—जल्पताम्=जल्प्+शतृ (अत्)। त्रासित=णिजन्त 'त्रस्' (त्रास्)+इट् (इ)+क्त (त)। आयान्तम्=आ+या+शतृ (अत्)। आरूढः=आ+रुह्+क्त (त)। आस्थितः=आ+स्था+इट् (इ)+क्त (त)। परिज्ञाय=परि+ज्ञा+क्त्वा (ल्यप्=य) उद्वहन्=उत्+वह्+शतृ(अत्)। उद्भ्रान्त=उत्+भ्रम्+क्त (त)।

शब्दार्थ.—जल्पताम्=बातें करने वालों का। लुब्धकत्रासित:=बहेलियों के द्वारा डराया हुआ। ससंभ्रमम्=हड़बड़ाहट के साथ। शरस्तम्बम्=एक प्रकार की घास का ढेर। प्रभूतम्=बहुत। उच्छ्वासम्=साँस। उद्भ्रान्त-दृष्ट्या=घबड़ाई हुई नजर से।

हि० अनु:०—इसके बाद इस प्रकार उनसे बातें करते हुए चित्राङ्ग नामक हरिण बहेलियों के द्वारा डराया जाकर उसी तालाब में घुसा। आते हुए को हड़बड़ाहट के साथ देखकर लघुपतनक पेड़ पर बैठ गया। हिरण्यक घास में पड़े हुए घास के ढेर में घुस गया। मन्थरक तालाब में जम गया। तब लघुपतनक हरिण को अच्छी तरह पहचान कर मन्थरक से बोला—'मित्र मन्थरक, आओ-आओ। यह प्यासा मृग यहाँ आकर तालाब में घुस गया है, यह उसका शब्द है, किसी मनुष्य का शब्द नहीं है।' यह सुनकर मन्थरक ने देश और और काल के अनुकूल कहा—'हे लघुपतनक, जैसा कि यह मृग दिखाई देता है कि यह बहुत सी साँसों को लेता हुआ घबड़ाई हुई नजर से पीछे को देखता है, सो यह प्यासा नहीं है, यह निश्चय ही बहेलियों का डराया हुआ है। सो जानो, इसके पीछे बहेलिए आ रहे हैं या नहीं। कहा भी है—

भयत्रस्तो नरः श्वासं प्रभूतं कुरुते मुहुः।
दिशोऽवलोकयत्येव न स्वास्थ्यं व्रजति क्वचित् ॥१७१॥

अन्वयः—भयत्रस्तः नरः मुहुः प्रभूतम् श्वासम् कुरुते, दिशः एव अवलोकयति, क्वचित् स्वास्थ्यम् न व्रजति।

समासः—भयत्रस्तः=भयेन भयाद् वा त्रस्तः (तत्पु०)।

व्या०:—त्रस्तः=त्रस्+क्त (त)। श्वासम्=श्वस्+घञ् (अ)।

शब्दार्थः—दिशः=दिशाएँ, इधर-उधर। स्वास्थ्यम्=शान्ति, निश्चिन्तता।

हि० अनु० —भयभीत व्यक्ति बारम्बार बहुत साँस लेता है। वह इधर-उधर ही देखता है और कहीं शान्ति प्राप्त नहीं करता है।

तच्छ्रुत्वा चित्राङ्ग आह—'भो मन्थरक, ज्ञात त्वया सम्यङ्मे त्रासकारणम्। अहं लुब्धकशरप्रहारादुद्गारितः कृच्छ्रेणात्र समायातः। मम यूथं तैर्लुब्धकैर्व्या-

पातितं भविष्यति । तच्छरणागतस्य मे दर्शय किंचिदगम्यं स्थानं लुब्धकानाम् ।' तदाकर्ण्य मन्थरक आह—'भोश्चित्राङ्ग, श्रूयतां नीतिशास्त्रम्—

समासः—त्रासकारणम्=त्रासस्य कारणम् (तत्पु०)। लुब्धकशरप्रहारात्=लुब्धकानाम् शराः (तत्पु०), तेषाम् प्रहारात् (तत्पु०)। शरणागतस्य=शरणम् आगतस्य (तत्पु०)।

व्या०—श्रुत्वा=श्रु+क्त्वा (त्वा)। ज्ञातम्=ज्ञा+क्त (त)। त्रास=त्रस्+घञ् (अ)। उद्धारित=उत्=णिजन्त 'हृ' (हार्)+इट् (इ)+क्त (त)। समायात=सम्+आ+या+क्त (त)। व्यापादितम्=वि+आ+णिजन्त 'पद्' (पाद्)+इट् (इ)+क्त (त)। अगम्यम्=नञ् (अ)+गम्+यत् (य)। आकर्ण्य=आ+कर्ण्+क्त्वा (ल्यप्=य)।

शब्दार्थः—सम्यक्=अच्छी तरह। त्रासकारणम्=भय का कारण। लुब्धकशरप्रहारात्=बहेलियों के बाणों के प्रहार से। उद्धारितः=बचा हुआ। कृच्छ्रेण=मुश्किल से। यूथम्=झुण्ड। व्यापादितम्=मारा हुआ। अगम्यम्=जहाँ न पहुँचा जा सके। आकर्ण्य=सुन कर।

हि० अनु०:—यह सुनकर चित्राङ्ग बोला—'हे मन्थरक, तुमने मेरे भय का कारण ठीक तरह जान लिया है। मैं बहेलियों के बाणों के प्रहार से बच कर बड़ी मुश्किल से यहाँ आया हूँ। मेरा झुण्ड उन बहेलियों ने मार डाला होगा। सो मुझ शरणागत को कोई ऐसा स्थान दिखाओ जो बहेलियों की पहुँच से बाहर हो। यह सुनकर मन्थरक बोला—'हे चित्राङ्ग, नीतिशास्त्र सुनो—

द्वावुपायाविह प्रोक्तौ विमुक्तौ शत्रुदर्शने।
हस्तयोश्चालनादेको द्वितीयः पादवेगजः ॥१७२॥

अन्वय—इह शत्रुदर्शने विमुक्तौ द्वौ उपायौ प्रोक्तौ, एकः हस्तयोः चालनात् द्वितीयः पादवेगजः।

समासः—शत्रुदर्शने=शत्रूणाम् दर्शने (तत्पु०)। पादवेगजः=पादयोः वेगः (तत्पु०), तस्माज्जायते (उपपद तत्पु०)।

व्या०:—दर्शने=दृश्+ल्युट् (यु=अन)। चालनात्=णिजन्त 'चल्'

(चाल्)+ल्युट् (यु=अन) । पादवेगजः=पादवेग+जन्+ड (अ)। विमुक्तौ=वि+मुच्+क्तिन् (ति), सप्तमी एक०।

शब्दार्थः—विमुक्तौ=छुटकारे के विषय मे अर्थात् छुटकारे के लिए। पादवेगज=पैरो के वेग से होने वाला।

हि० अनु०—यहां शत्रुओ का दर्शन होने पर उनसे छुटकारे के लिए दो उपाय कहे गए हैं, एक तो हाथो के चलाने से होने वाला और दूसरा पैरो के वेग से होने वाला।

तद्गम्यता शीघ्र सघन वनम्, यावदद्यापि नागाच्छन्ति ते दुरात्मानो लुब्धका।' अत्रान्तरे लघुपतनक. सत्वरमभ्युपेत्योवाच—'भो मन्थरक, गतास्ते लुब्धकाः स्वगृहोन्मुखाः प्रचुरमासपिण्डधारिण। तन्चित्राङ्ग, त्व विश्रब्धो वनाद् वहिर्भव।' ततस्ते चत्वारोऽपि मित्रभावमाश्रितास्तस्मिन् सरसि मध्याह्नसमये वृक्षच्छायाया अधस्तात् सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्त सुखेन काल नयन्ति। अथवा युक्तमेतदुच्यते—

समास—दुरात्मानः=दुष्ट आत्मा येषाम् ते (बहु०)। स्वगृहोन्मुखा=स्वगृह प्रति स्वगृहाय वा उन्मुखा (तत्पु०)। प्रचुरमांसपिण्डधारिणः=प्रचुरम् तत् मासम् (कर्मधा०), तस्य पिण्डा (तत्पु०)। तान् धरन्ति (उपपद तत्पु०)। मित्रभावम्=मित्रस्य भावः तम् (तत्पु०)। मध्याह्नसमये=मध्याह्नस्य समये (तत्पु०)। वृक्षच्छायाया—वृक्षाणाम् छाया तस्या (तत्पु०)। सुभाषितगोष्ठीसुखम्=सुभाषितानाम् गोष्ठ्यः (तत्पु०), तासाम् सुखम् (तत्पु०)।

व्या०:—अभ्युपेत्य=अभि+उप+इ+तुक् (त्)+क्त्वा (ल्यप्=य)। प्रचुरमासपिण्डधारिण=प्रचुरमासपिण्ड+धृ+णिनि (इन्)। विश्रब्धः=वि+श्रम्भ्+क्त (त)। आश्रिताः=आ+श्रि+क्त (त)। अनुभवन्तः=अनु=भू+शतृ (अत्)।

शब्दार्थ—दुरात्मानः=दुष्ट। सत्वरम्=शीघ्र। अभ्युपेत्य=पास जाकर। स्वगृहोन्मुखा.=अपने घरो की ओर मुख करके। प्रचुरमासपिण्डधारिणः=अत्यधिक मास के पिण्डो को रखे हुए। विश्रब्धः=निश्चिन्त। अधस्तात्=नीचे। सुभाषितगोष्ठीसुखम्=अच्छी बातो के लिए की गई

बैठकों के सुख को । अनुभवन्तः=अनुभव करते हुए । नयन्ति=व्यतीत करते हैं (वे) ।

हि० अनु०:—सो शीघ्र सघन वन में चले जाओ, जब तक कि अभी वे दुष्ट बहेलिए न आवें । इस बीच में लघुपतनक शीघ्र पास पहुँच कर बोला—'हे मन्थरक, वे बहेलिए भरपूर मांस के पिण्डों को लादे हुए अपने घरों की ओर चले गए । सो चित्राङ्ग., तुम निश्चिन्त होकर वन से बाहर रहो । तब वे चारों मित्रता के साथ उस तालाब पर दोपहर के समय पेड़ों की छाया के नीचे अच्छी बातों के लिए की गई बैठकों के सुख का अनुभव करते हुए सुखपूर्वक समय को व्यतीत करते थे । क्यों न ऐसा हो, यह ठीक ही कहा जाता है—

सुभाषितरसास्वादबद्धरोमाञ्चकञ्चुकाः ।
विनापि सगमं स्त्रीणां सुधियः सुखमासते ।।१७३।।

अन्वयः—सुभाषितरसास्वादबद्धरोमाञ्चकञ्चुकाः सुधियः स्त्रीणाम् सगमम् विना अपि सुखम् आसते ।

समासः—सुभाषितरसास्वादबद्धरोमाञ्चकञ्चुकाः = सुभाषितानाम् रसः (तत्पु०), तस्य आस्वादः (तत्पु०), तेन बद्धाः (तत्पु०), रोमाञ्चा एव कञ्चुकाः (कर्मधा०), सुभाषितरसास्वादबद्धाः रोमाञ्चकञ्चुकाः येषाम् ते (बहु०) ।

व्या:०—सुभाषित=सु+भाष्+इट् (इ)+क्त (त) । आस्वाद=आ+स्वद्+घञ् (अ) । बद्ध=बन्ध्+क्त (त) ।

शब्दार्थ.—सुभाषितरसास्वादबद्धरोमाञ्चकञ्चुकाः=सुभाषितों के रस के आस्वादन से बँध गए हैं रोमाञ्च रूपी कञ्चुक (चोली) जिनके ऐसे । सुधियः=विद्वान्, बुद्धिमान् । आसते=रहते हैं ।

हि० अनु०:—जिनके सुभाषितों के रस के आस्वादन से रोमाञ्च रूपी कञ्चुक बँधे हुए हैं ऐसे बुद्धिमान् व्यक्ति स्त्रियों के समागम के बिना भी सुखपूर्वक रहते हैं ।

सुभाषितमयद्रव्यसंग्रहं न करोति यः ।
स तु प्रस्तावयज्ञेषु कां प्रदास्यति दक्षिणाम् ।।१७४।।

अन्वय —य सुभाषितमयद्रव्यसग्रहम् न करोति स तु प्रस्तावयज्ञेषु काम् दक्षिणाम् प्रदास्यति ।

समास —सुभाषितमयद्रव्यसग्रहम्=प्रकृतम् सुभाषितम् सुभाषितमयम् (तद्धित) तच्च तद् द्रव्यम् (कर्मधा०), तस्य सग्रहम् (तत्पु०), प्रस्तावयज्ञेषु= प्रस्तावा एव यज्ञा तेषु (कर्मधा०) ।

व्या —सुभाषितमय=सुभाषित+मयट् (मय)। प्रस्ताव=प्र+स्तु+ घञ् (अ) ।

शब्दार्थ—सुभाषितमयद्रव्यसग्रहम्=प्रचुर (भरपूर) सुभाषित रूप द्रव्य के सग्रह को । प्रस्तावयज्ञेषु=वार्त्तालाप रूपी यज्ञो मे ।

हि० अनु० —जो प्रचुर सुभाषित रूप धन का सग्रह नही करता, वह वार्त्तालाप रूपी यज्ञो मे क्या दक्षिणा देगा अर्थात् जो सुभाषितो को अत्यधिक मात्रा में कण्ठस्थ नही कर लेता वह वार्त्तालाप के अवसर पर अपनी बात की पुष्टि मे क्या कह सकेगा ।

तथा च ।

हि० अनु० —और भी !

सकृदुक्त न गृह्णाति स्वय वा न करोति य ।
यस्य संपुटिका नास्ति कुतस्तस्य सुभाषितम् ॥१७५॥

अन्वय —य सकृद् उक्तम् न गृह्णाति, स्वयम् वा न करोति, यस्य सपुटिका न अस्ति, तस्य सुभाषितम् कुत ।

शब्दार्थ —सपुटिका=पन्नो, रत्नो की पेटी ।

हि० अनु० —जो (दूसरे के द्वारा) एक बार कहे हुए को ग्रहण नही कर लेता है (याद नही कर लता है) अथवा जो स्वय सुभाषितो को नही बनाता है, इस प्रकार जिसके पास (सुभाषित रूपी रत्न रखने की) पेटी नही है, उसके पास सुभाषित कहाँ हो सकते है ।

अथैकस्मिन्नहनि गोष्ठीसमये चित्राङ्गो नायात । अथ ते व्याकुलीभूता परस्पर जल्पितुमारब्धा — अहो किमद्य सुहृन्न समायात । किं सिंहादिभि-

क्वापि व्यापादितः, उत लुब्धकैः, अथवा अनले प्रपतितो गर्ताविषमे वा नवतृण-लोल्यात्' इति । अथवा साध्विदमुच्यते—

समास—गर्ताविषमे=गर्तामि विषमे (तत्पु०)।

व्या०—आयात=आ+या+क्त (त)। व्याकुलीभूता=व्याकुल+च्वि (×)+भूता। जल्पितुम्=जल्प+इट् (इ)+तुमुन् (तुम्)। आरब्धा=आ+रभ्+क्त (त)। व्यापादित=वि+आ+णिजन्त 'पद' (पाद)+इट् (इ)+क्त (त)। प्रपतित=प्र+पत्+इट+(इ)+क्त (त)। लोल्यात्=लोल+ष्यञ् (य)।

शब्दार्थ—व्यापादित=मार डाला। गर्ताविषमे=गड्ढा या गुफाओं में ऊबड़ खाबड़ स्थान में। नवतृणलोल्यात्=नई घास के लालच से। प्रपतित=गिर पड़ा।

हि० अनु०—इसके बाद एक दिन गोष्ठी (बैठक) के समय चित्राङ्ग नहीं आया। तब वे व्याकुल होकर परस्पर कहने लगे—'अरे, आज मित्र क्यों नहीं आया। क्या कहीं सिंह आदि ने मार डाला या शिकारियों ने मार डाला अथवा आग में गिर पड़ा या नई घास के लालच से गड्ढा या गुफाओं में ऊबड़-खाबड़ स्थान में गिर गया'। अथवा यह ठीक कहा जाता है—

स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धैः पापं विशङ्क्यते मोहात्।
किमु दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे ॥१७६॥

स्निग्धैः=स्नेही व्यक्तियो क द्वारा। पापम्=अनिष्ट। दृष्टबह्वपायप्रतिभय कान्तारमध्यस्थे=जिसमे बहुत से सकटो से उत्पन्न भय का अनुभव किया जा चुका है, ऐसे बियावान जगल के मध्य मे स्थित के विषय मे। किमु=क्या, क्या कहना।

हि० अ०—अपने घर के बगीचे मे गए हुए व्यक्ति के विषय मे भी स्नेही जन मोहवश अनिष्ट की आशका करते हैं तो फिर जिसमे बहुत से सकटो से उत्पन्न भय का अनुभव किया जा चुका है, ऐसे बियावान जगल के मध्य मे स्थित व्यक्ति के विषय मे क्या कहना ! (वहाँ तो और भी अधिक अनिष्ट की आशका की जाती है)।

अथ मन्थरको वायसमाह—भो लघुपतनक, अह हिरण्यकश्च तावद् द्वावप्यशक्तौ तस्यान्वेषण कर्तुं मन्दगतित्वात्। तद्गत्वा त्वमरण्य शोधय यदि कुत्रचित्त जीवन्त पश्यसि' इति। तदाकर्ण्य लघुपतनको नातिदूरे यावद्गच्छति तावत् पल्वलतीरे चित्राङ्ग कूटपाशनियन्त्रितस्तिष्ठति। त दृष्ट्वा शोक व्याकुलितमनास्तमवोचत—'भद्र, किमिदम्।' चित्राङ्गोऽपि वायसमवलोक्य विशेषेण दु खितमना बभूव। अथवा युक्तमेतत्।

समास—मन्दगतित्वात्=मन्दा गति ययो तौ (बहु०), तयो भाव (तद्धित)। पल्वलतीरे=पल्वलस्य तीरे (तत्पु०)। कूटपाशनियन्त्रित =कूटश्च असौ पाश (कर्मधा०)। तेन नियन्त्रित (तत्पु०)। शोकव्याकुलितमना =शोकेन व्याकुलितम् मन यस्य स (बहु०)। दु खितमना =दु खितम् मन यस्य स (बहु०)।

व्या०—अशक्तौ=नञ् (अ)+शक्+क्त (त)। अन्वेषणम्=अनु+इष्+ल्युट् (यु=अन)। जीवन्तम्=जीव्+शतृ (अत)। नियन्त्रित =नि+यन्त्+इट् (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थ—अशक्तौ=असमर्थ। मन्दगतित्वात्=धीमी चाल वाले होने के कारण। शोधय=खोजो। कूटपाशनियन्त्रित =जाल से बँधा हुआ।

हि० अनु०—तब मन्थरक कौए से बोला—'हे लघुपतनक, मैं और हिरण्यक तो दोनो धीमी चाल वाले होने के कारण उसकी खोज करने मे अस-

व्या०—अत्यये=अति+इ+अच् (अ)। समुत्पन्ने=सम्+उत्+पद्+क्त (त)।

शब्दार्थ —प्राणात्यये=प्राणों के नाश के।

हि० अनु०:—यदि प्राणो के नाश (मृत्यु) के उपस्थित होने पर मित्रों का दर्शन हो जाता है तो उनके बाद वह जीवे या मरे, दोनो ही दशाओ म उसके लिए सुखद रहता है (अथवा मर जाने वाले और जीवित रहने वाले, दोनों के लिए सुखद रहता है)।

तत्क्षन्तव्य यन्मया प्रणयात् सुभाषितगोष्ठीष्वभिहितम्। तथा हिरण्यक-मन्थरकौ मम वाक्याद् वाच्यौ—

हि० अनु०:—सो वह सब क्षमा करना जो कुछ मैंने सुभाषितो की गोष्ठियो मे प्रेम के कारण कहा हो, और मेरी ओर से हिरण्यक और मन्थरक से यह कहना कि—

अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि दुरुक्तं यदुदाहृतम्।
तत्क्षन्तव्यं युवाभ्यां मे कृत्वा प्रीतिपरं मनः ॥१७६॥

अन्वय —अज्ञानात् ज्ञानतः वा अपि यत् दुरुक्तम् उदाहृतम्, तत् युवाभ्याम् मे प्रीतिपरम् मनः कृत्वा क्षन्तव्यम्।

समासः—दुरुक्तम्=दुष्टम् उक्तम् (गति तत्पु०)। प्रीतिपरम्=प्रीत्याम् परम् (तत्पु०)।

व्या०:—दुरुक्तम्=दुर्+ब्रू (वच्)+क्त (त)। उदाहृतम्=उत्+आ+हृ+क्त (त)। क्षन्तव्यम्=क्षम्+तव्य।

शब्दार्थ.—दुरुक्तम्=खराब बात, न कहने योग्य बात।

हि० अनु०—अज्ञान से अथवा ज्ञान से भी जो कुछ खराब वचन मैंने कहा हो, उसे तुम दोनो मेरे प्रति प्रीतिपूर्ण चित्त करके क्षमा करें।

तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह—'भद्र, न भेतव्यमस्मद्विधैर्विद्यमानैः। यावदहं द्रुततरं हिरण्यकं गृहीत्वागच्छामि। अपरं ये सत्पुरुषा भवन्ति ते व्यसने न व्याकुलत्वमुपयान्ति। उक्तं च—

मय हैं। सो तुम जाकर वन मे खोज करो कदाचित् उसे तुम जिन्दा देख सको। यह सुनकर लघुपतनक जैसे ही थोडी दूर पर जाता है, वैसे ही एक छोटे तालाब के किनारे चित्राङ्ग को जाल से बंधा हुआ देखता है। उसे देखकर शोक से आकुल चित्त वाला हो वह उससे बोला—'भाई, यह क्या ? चित्राङ्ग भी कौए को देख कर और भी अधिक दु खी हुआ। क्यो न ऐसा हो यह ठीक है।

अपि मन्दत्वमापन्नो नष्टो वापीष्टदर्शनात्।
प्रायेण प्राणिना भूयो दु खावेगोऽधिको भवेत् ॥१७७॥

अन्वय —म दत्वम् आपन्न अपि नष्ट वा अपि प्राणिनाम् दु खावेग इष्टदर्शनात् भूय प्रायेण अधिक भवेत्।

समास —दु खावेग =दु खस्य आवेग (तत्पु०)। इष्टदशनात्—इष्टानाम् दशनम् तस्मात् (तत्पु०)।

व्या० —आपन्न =आ+पद+क्त (त)।

शब्दार्थ —इष्टदर्शनाद्=प्रियजनो के दशन से। भूय =फिर।

हि० अनु० —धीमा पडा हुआ भी अथवा बिल्कुल नष्ट हुआ भी प्राणियो के दु ख का आवेग प्रियजनो के दर्शन से फिर प्राय अधिक हो जाता है।

ततश्च बाष्पावसाने चित्राङ्गो लघुपतनकमाह—भो मित्र सजातोऽय तावन्मम मृत्यु । तद्युक्त सपन्न यद्भवता सह मे दशन सजातम्। उक्त च—

हि० अनु० —तब रोने के बाद चित्राङ्ग लघुपतनक से बोला—'हे मित्र यह तो मेरी मृत्यु हो गई। सो यह ठीक हुआ कि आपके साथ मेरी मुलाकात हो गई। कहा भी है—

प्राणात्यये समुत्पन्ने यदि स्यान्मित्रदर्शनम्।
तदद्वाभ्या सुखद पश्चाज्जीवतो ऽपि मृतस्य च ॥१७८॥

अन्वय —यदि प्राणात्यये समुत्पन्ने मित्रदशनम् स्यात् तत् पश्चात् जीवत अपि मृतस्य च द्वाभ्याम् सुखदम्।

समास —प्राणात्यये=प्राणानाम् अत्यय तस्मिन् (तत्पु०)। मित्रदशनम्=मित्राणाम् दशनम् (तत्पु०)। सुखदम्=सुखम ददाति (उपपद तत्पु०)।

व्या० —अत्यये=अति+इ+अच् (अ)। समुत्पन्ने=सम्+उत्+पद्+क्त (त)।

शब्दार्थ —प्राणात्यये=प्राणो के नाश के।

हि० अनु०—यदि प्राणो के नाश (मृत्यु) के उपस्थित होने पर मित्रो का दर्शन हो जाता है तो उसके बाद वह जीवे या मरे, दोनो ही दशाओं मे उसके लिए सुखद रहता है (अथवा मर जाने वाले और जीवित रहने वाले, दोनो के लिए सुखद रहता है)।

तत्क्षन्तव्य यन्मया प्रणयात् सुभाषितगोष्ठीष्वभिहितम्। तथा हिरण्यक-मन्थरकौ मम वाक्याद् वाच्यौ—

हि० अनु०:—सो वह सब क्षमा करना जो कुछ मैंने सुभाषितो की गोष्ठियो मे प्रेम के कारण कहा हो, और मेरी ओर से हिरण्यक और मन्थरक से यह कहना कि—

अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि दुरुक्त यदुदाहृतम्।
तत्क्षन्तव्य युवाभ्यां मे कृत्वा प्रीतिपर मन ॥१७६॥

अन्वय —अज्ञानात् ज्ञानत वा अपि यत् दुरुक्तम् उदाहृतम्, तत् युवाभ्याम् मे प्रीतिपरम् मन कृत्वा क्षन्तव्यम्।

समासः—दुरुक्तम्=दुष्टम् उक्तम् (गति तत्पु०)। प्रीतिपरम्=प्रीत्याम् परम् (तत्पु०)।

व्या० —दुरुक्तम्=दुर्+ब्रू (वच्)+क्त (त)। उदाहृतम्=उत्+आ+हृ+क्त (त)। क्षन्तव्यम्=क्षम्+तव्य।

शब्दार्थ —दुरुक्तम्=खराब बात, न कहने योग्य बात।

हि० अनु० —अज्ञान से अथवा ज्ञान से भी जो कुछ खराब वचन मैंने कहा हो, उसे तुम दोनो मेरे प्रति प्रीतिपूर्ण चित्त करके क्षमा करें।

तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह—'भद्र, न भेतव्यमस्मद्विधैर्विद्यमानैः। यावदह द्रुततरं हिरण्यक गृहीत्वागच्छामि। अपर ये सत्पुरुषा भवन्ति ते व्यसन न व्याकुलत्वमुपयान्ति। उक्त च—

हि० अनु०:—यह सुनकर लघुपतनक बोला—'भाई, हम सरीखों के बने रहने पर तुम्हें नहीं डरना चाहिए। अभी मैं शीघ्र ही हिरण्यक को लेकर आता हूँ। दूसरे जो अच्छे पुरुष होते हैं वे सकट मे व्याकुल नही होते। कहा भी है—

सपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम्।
त भुवनत्रयतिलक जनयति जननी सुत विरलम् ॥१८०॥

अन्वयः—यस्य सपदि हर्षं विपदि विषादः रणे च भीरुत्वम् न (अस्ति), तम् भुवनत्रयतिलकम् विरलम् सुतम् जननी जनयति।

सं० टी०.—यस्य जनस्य सपदि सपत्तौ हर्षः प्रसन्नता विपदि विपत्तौ विषाद खिन्नता रणे युद्धे च भीरुत्वम् भीतत्वम् न अस्ति, तम् एतादृशम् भुवनत्रयतिलकम् त्रिलोकशिरोमणिम् विरलम् दुर्लभम् सुतम् पुत्रम् जननी माता जनयति उत्पादयति।

समास.—भुवनत्रयतिलकम्=भुवनानाम् त्रयम् (तत्पु०), तस्य तिलकम् (तत्पु०)।

व्या०:—भीरुत्वम्=भीरु+त्व।

शब्दार्थ —भीरुत्वम्=भीरुता, भय। विरलम्=विरले को। भुवनत्रय-तिलकम्=तीनों लोकों मे शिरोमणि।

हि० अनु०.—जिस को संपत्ति मे प्रसन्नता, विपत्ति मे विषाद (खिन्नता) और युद्ध मे भय नहीं होता ऐसे त्रिलोकशिरोमणि किसी विरले पुत्र को माता जन्म देती है।

एवमुक्त्वा लघुपतनकश्चित्राङ्गमाश्वास्य यत्र हिरण्यकमन्थरकौ तिष्ठतस्तत्र गत्वा सर्वं चित्राङ्गपाशपतन कथितवान्। हिरण्यक च चित्राङ्गपाशमोक्षण प्रति कृतनिश्चय पृष्ठमारोप्य भूयोऽपि सत्वरम् चित्राङ्गसमीपे गतः। सोऽपि मूषक-मवलोक्य किंचिज्जीविताशया संश्लिष्ट आह—

समास —चित्राङ्गपाशपतनम्=पाशे पतनम् (तत्पु०), चित्राङ्गस्य पाश-पतनम् (तत्पु०)। चित्राङ्गपाशमोक्षणम्=पाशात् मोक्षणम् (तत्पु०), चित्राङ्गस्य

पाशमोक्षणम् (तत्पु०)। कृतनिश्चयम्=कृत निश्चय येन तम् (बहु०)। किंचिज्जीविताशया=जीवितस्य आशा (तत्पु०), काचित् च असौ जीविताशा तया (कमधा०)।

व्या०—आश्वास्य=आ+णिजन्द 'श्वस्' (श्वास्)+क्त्वा (ल्यप=य)। कथितवान्=कथ्+इट् (इ)+क्तवतु (तवत्)। आरोप्य=आ+णिजन्त 'रुह्' (रोप्)+क्त्वा (ल्यप्=य)। संश्लिष्ट=सम्+श्लिष्+क्त (त)।

शब्दार्थ—आश्वास्य=आश्वस्त कर, सान्त्वना देकर। चित्राङ्गपाशपतनम्=चित्राङ्ग का जाल मे पड़ना। चित्राङ्गपाशमोक्षणम्=चित्राङ्ग का जाल से छुटकारा। कृतनिश्चयम्=निश्चय कर चुकने वाले को। संश्लिष्ट=युक्त।

हि० अनु०—ऐसा कहकर लघुपतनक ने चित्राङ्ग को आश्वस्त कर, हिरण्यक मन्थरक जहाँ थे, वहाँ जाकर उनसे चित्राङ्ग के जाल म गिरने के सम्पूर्ण वृत्तान्त को कहा और चित्राङ्ग के जाल से छुटकारे के प्रति निश्चय कर चुकने वाले हिरण्यक को पीठ पर रख कर फिर वह लौटकर शीघ्र ही चित्राग के पास गया। वह (चित्राङ्ग) भी चूहे को देखकर जीवन की कुछ आशा से युक्त हो बोला—

आपन्नाशाय विबुधैः कर्तव्याः सुहृदोऽमलाः।
न तरत्यापदं कश्चिद्योऽत्र मित्रविवर्जितः॥१८१॥

अन्वय—अपन्नाशाय विबुधैः अमलाः सुहृदः कर्तव्याः, अत्र यः मित्रविवर्जितः (अस्ति), कश्चित् आपदम् न तरति।

समास—आपन्नाशाय=आपदाम् नाशः तस्मै (तत्पु०)। मित्रविवर्जितः=मित्रैः विवर्जितः (तत्पु०)।

हि० अनु०—आपत्तियों के नाश के लिए विज्ञ जनों को निर्दोष (सच्चे) मित्र बनाने चाहिए, इस जगत् म जो मित्रों से विहीन है ऐसा कोई भी सकट को पार नहीं कर पाता है।

हिरण्यक आह—'भद्र, त्वं तावन्नीतिशास्त्रज्ञो दक्षमतिः। तत्कथमत्र कूटपाशे पतितः।' स आह—'भो', न कालोऽयं विवादस्य। तद्यावत् स

पापात्मा लुब्धक समभ्येति तावद् द्रुततरं कर्तयेमं मत्पादपाशम्।' तदाकर्ण्य विहस्याह हिरण्यक—'किं मय्यपि समायाते लुब्धकाद् बिभेषि। तत्र शास्त्रं प्रति महती मे विरक्ति सपन्ना, यद्भवद्विधा अपि नीतिशास्त्रविद एतामवस्थां प्राप्नुवन्ति। तेन त्वां पृच्छामि।' स आह—भद्र, कर्मणा बुद्धिरपि हन्यते। उक्तं च—

समास —नीतिशास्त्रज्ञ =नीतिशास्त्रम् जानाति (तत्पु०)। दक्षमति = दक्षा मतिः यस्य स (बहु०)। मत्पादपाशम्=मम पाशः (तत्पु०), तेषाम् पाशम् (तत्पु०)। नीतिशास्त्रविद =नीतिशास्त्रम् विदन्ति (तत्पु०)। भवद् विधा =भवान् विधा येषाम् ते (बहु०)।

व्या० —नीतिशास्त्रज्ञ =नीतिशास्त्र+ज्ञा+क (अ)। विरक्ति =वि+ रञ्ज+क्तिन (ति)। नीतिशास्त्रविद —नीतिशास्त्र+विद्+क्विप् (×)।

शब्दार्थ —दक्षमति =कुशल बुद्धि वाला। कूटपाशे=जाल में। द्रुततरम्=अति शीघ्र। मत्पादपाशम्=मेरे पैरों के बन्धन को। बिभेषि=डरते हो। विरक्ति =अरुचि, वैराग्य। भवद्विधा =आप सरीखे। नीतिशास्त्रविद =नीतिशास्त्र को जानने वाले। कर्मणा=भाग्य से। हन्यते=नष्ट हो जाती है, मारी जाती है।

हि०अनु० —हिरण्यक बोला—'भद्र, तुम तो कुशल बुद्धि वाले नीतिशास्त्रज्ञ हो। सो इस जाल में कैसे पड़ गए ?' वह बोला—'अरे यह विवाद करने का समय नहीं है, सो जब तक वह पापी बहेलिया न आवे तब तक बहुत जल्दी ही मेरे पैरों के बन्धन को काट दो।' यह सुन हिरण्यक हँसकर बोला—'क्या मेरे आने पर भी तुम बहेलिया से डरते हो ? चूँकि आप सरीखे भी नीतिशास्त्रवेत्ता इस दशा को प्राप्त हो जाते हैं, अतः शास्त्र के प्रति मेरी बड़ी अरुचि हो गई है, इसलिए तुम से पूछता हूँ।' वह बोला—'भाई, भाग्य से बुद्धि भी नष्ट हो जाती है (मारी जाती है)। कहा भी है—

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम्।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि॥१८२॥

अन्वयः—कृतान्तपाशबद्धानाम् दैवोपहतचेतसाम् महताम् अपि बुद्धयः कुब्जगामिन्यः भवन्ति ।

समासः—कृतान्तपाशबद्धानाम्=कृतान्तस्य पाशः (तत्पु०), तेन बद्धानाम् (तत्पु०) । दैवोपहतचेतसाम्=दैवेन उपहतम् चेतः येषाम् तेषाम् (बहु०) । कुब्जगामिन्यः=कुब्जम् गच्छन्ति (उपपद तत्पु०) ।

व्या०:—बद्ध=बन्ध+क्त (त) । उपहत=उप+हन्+क्त (त) । कुब्जगामिन्यः=कुब्ज+गम्+णिनि (इन्)+ङीप् (ई) ।

शब्दार्थः—कृतान्तपाशबद्धानाम्=यम के पाश (जाल) से बँधे हुओं की । दैवोपहतचेतसाम्=भाग्य के कारण मूढ चित्त वालों की । कुब्जगामिन्यः= विपरीत या टेढ़ी चलने वाली ।

हि० अनु०:—यम के पाश (जाल) मे बँधे हुए और भाग्य से मूढ किए हुए चित्त वाले बड़े पुरुषों की भी बुद्धियाँ विपरीत दिशा मे जाने वाली हो जाती है ।

विधात्रा रचिता या सा ललाटेऽक्षरमालिका ।
न तां मार्जयितुं शक्ताः स्वबुद्ध्याप्यतिपण्डिताः ॥१८३॥

अन्वयः—विधात्रा ललाटे या सा अक्षरमालिका रचिता, ताम् स्वबुद्धया मार्जयितुम् अतिपण्डिताः अपि न शक्ताः ।

समास—अक्षरमालिका=अक्षराणाम् मालिका । अतिपण्डिताः=अतिशयिताः पण्डिताः (गति तत्पु०) ।

व्या०—विधात्र=वि+धा+तृच् (तृ) रचिता=रच्+इट् (इ)+क्त (त)+टाप् (आ) । मार्जयितुम्=मार्ज् (मार्जय्)+इट् (इ)+तुमुन् (तुम्) । शक्ता=शक्+क्त (त) ।

शब्दार्थ—अक्षरमालिका=अक्षरों की माला, लेख । मार्जयितुम्=धोने को, मेटने को । शक्ताः=समर्थ ।

हि० अनु०—विधाता ने ललाट मे जो कुछ (भाग्य का) लेख लिखा है, उसे अपनी बुद्धि से मेटने मे बड़े पण्डित भी समर्थ नहीं हैं ।

एव तयो प्रवदतो सुहृद्व्यसनसतप्तहृदयो मन्थरक शनै शनैस्त प्रदेश-माजगाम । त दृष्ट्वा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'अहो, न शोभनमापतितम् ।' हिरण्यक आह—कि स लुब्धक समायाति । स आह—'आस्ता तावल्लुब्धक-वार्ता । एष मन्थरक समागच्छति । तदनीतिरनुष्ठितानेन, यतो वयमप्यस्य कारणान्नून व्यापादन यास्यामो यदि स पापात्मा लुब्धक समागमिष्यति । तदह तावत्खमुत्पतिष्यामि । त्व पुनर्बिल प्रविश्यात्मान रक्षयिष्यसि । चित्राङ्गोऽपि वेगेन दिगन्तर यास्यति । एष पुनर्जलचर स्थले कथ भविष्यतीति व्याकुलोऽस्मि ।

समास —सुहृद्व्यसनसतप्तहृदय —सुहृद व्यसनम् (तत्पु०), तेन सतप्तम् हृदयम् यस्य स (बहु०) । लुब्धकवार्ता=लुब्धकस्य वार्ता (तत्पु०) ।

व्या० —प्रवदतो =प्र+वद्+शतृ (अत्) । सतप्त=सम्+तप्+क्त (त) । आपतितम=आ+पत्+इट् (इ)+क्त (त) । अनुष्ठिता=अनु+स्था+क्त (त) । टाप् (अ) । व्यापादनम्=वि+आ+णिजन्त 'पद' (पाद)—ल्युट् (यु=अन) । प्रविश्य=प्र=विश्=क्त्वा (ल्यप्=य) ।

शब्दार्थ —सुहृद्व्यसनसतप्तहृदय =मित्र के सकट से दु खित हृदय वाला । शोभनम्=अच्छा । आपतितम्=हुआ । अनीति:=अनुचित बात । व्यापादनम्=मारा जाना । खम्=आकाश । उत्पतिष्यामि=उड जाऊँगा । दिगन्तरम्=दूसरी दिशा मे, इधर-उधर ।

हि० अनु०—इस प्रकार उन दोनो के बातें करने के समय मित्र के सकट से दु खित चित्त वाला मन्थरक धीरे धीरे उस स्थान पर आ रहा था । उसे देखकर लघुपतनक हिरण्यक से बोला— अरे, यह अच्छा नहीं हुआ । हिरण्यक बोला—'क्या वह बहेलिया आ गया ?' वह बोला—बहेलिया की बात तो रहने दो । यह मन्थरक आ रहा है, सो इसने यह अनुचित बात की है, क्योंकि इसके कारण हम भी निश्चय ही मारे जावगे, यदि वह पापी बहेलिया आवेगा तो मैं तो आकाश मे उड जाऊगा और तुम बिल मे घुसकर अपनी रक्षा कर लोगे । चित्राङ्ग भी वेग के साथ इधर-उधर कहीं चला जावेगा । किन्तु यह जलचर स्थल मे क्या करेगा, इसलिए मैं व्याकुल हूँ ।

अत्रान्तरे प्राप्तोऽयं मन्थरकः। हिरण्यक आह—'भद्र, न युक्तमनुष्ठितं भवता, यदत्र समायातः। तद्भूयोऽपि द्रुततरं गम्यताम्, यावदसौ लुब्धको न समायाति।' मन्थरक आह—'भद्र, किं करोमि, न शक्नोमि तत्रस्थो मित्रव्यसनाग्निदाहं सोढुम्। तेनाहमत्रागतः। अथवा साध्विदमुच्यते—

समासः—मित्रव्यसनाग्निदाहम्=मित्रस्य व्यसनम् (तत्पु०), तदेव अग्निः (कर्मधा०) तेन दाहः तम् (तत्पु०)।

व्या०:—अनुष्ठितम्=अनु+स्था+क्त (त)। सोढुम्=सह+तुमुन् (तुम्)।

शब्दार्थः—द्रुततरम्=अति शीघ्र। मित्रव्यसनाग्निदाहम्=मित्र के संकट रूपी अग्नि की जलन को। सोढुम्=सहन करने।

हि० अनु०:—इस बीच में यह मन्थरक आ गया। हिरण्यक ने कहा—'भद्र, आपने यह ठीक नहीं किया, जो कि यहाँ आए। सो अब फिर लौटकर अति शीघ्र चले जाओ, जब तक कि यह बहेलिया न आवे।' मन्थरक बोला—'भद्र, क्या करूँ, वहाँ रहकर मित्र के संकट रूपी आग की जलन को सहने में असमर्थ हूँ। इसलिए यहाँ आ गया। अथवा यह ठीक कहा जाता है—

दयितजनविप्रयोगो वित्तवियोगश्च केन सह्याः स्युः।
यदि सुमहौषधकल्पो वयस्यजनसंगमो न स्यात् ॥१८४॥

अन्वय.—यदि सुमहौषधकल्पः वयस्यजनसंगमः न स्यात् (तर्हि) दयितजनविप्रयोगः वित्तवियोगः च केन सह्याः स्युः।

समासः—सुमहौषधकल्पः=महत् तत् औषधम् (कर्मधा०), शोभनम् महौषधम् (गति तत्पु०), ईषदूनम् सुमहौषधम् (तद्धित)। दयितजनविप्रयोगः=दयिताश्च ते जनाः (कर्मधा०), तेषाम् विप्रयोगः (तत्पु०) वित्तवियोगः=वित्तस्य वियोगः (तत्पु०) वयस्यजनसंगमः=वयस्याश्च ते जनाः (कर्मधा०), तेषाम् संगमः (तत्पु०)।

व्या०—सुमहौषधकल्पः=सुमहौषध+कल्पप् (कल्प)। वयस्य=वयस्+

यत् (य)। विप्रयोगः=वि+प्र+युज्+घञ् (अ)। वियोग=वि+युज्+घञ् (अ)।

शब्दार्थ—सुमहौषधकल्पः=उत्तम महौषध के समान। वयस्यजनसंगमः=अपनी उम्र के साथी लोगों का मिलन। दयितजनविप्रयोगः=प्रिय जनों का वियोग।

हि० अनु०.—यदि उत्तम महौषध के समान समवयस्क लोगों का मिलन न हो तो प्रियजनों के वियोग तथा धन के वियोग को कौन सहन कर सकता है?

> वरं प्राणपरित्यागो न वियोगो भवादृशैः।
> प्राणा जन्मान्तरे भूयो भवन्ति न भवद्विधा ॥१८५॥

अन्वयः—सीधा है।

समास.—प्राणपरित्याग.=प्राणानाम् परित्यागः। जन्मान्तरे=अन्यद् जन्म तस्मिन् (नित्य तत्पु०)। भवद्विधा.=भवन्तः विधा येषाम् ते (बहु०)।

व्या०:—परित्याग.=परि+त्यज्+घञ् (अ)।

हि० अनु०:—प्राणों का परित्याग (छूट जाना या छोड़ना) अच्छा, किन्तु आप सरीखों (प्रिय जनों) का वियोग अच्छा नहीं। प्राण तो फिर भी दूसरे जन्म में मिल जाते हैं, किन्तु आप सरीखे (प्रिय जन) नहीं मिलते।

एवं तस्य प्रवदतः आकर्णपूरितशरासनो लुब्धकोऽप्युपागत.। तं दृष्ट्वा मूषकेण तस्य स्नायुपाशस्तत्क्षणात्खण्डितः। अत्रान्तरे चित्राङ्गः सत्वरं पृष्ठमवलोकयन् प्रधावित.। लघुपतनको वृक्षमारूढ.। हिरण्यकश्च समीपवर्तिबिलं प्रविष्टः।

समासः—आकर्णपूरितशरासन.=आ कर्णात् (अव्ययी०), आकर्णम् पूरितम् शरासनम् येन सः (बहु०)।

व्या.०—खण्डितः=खण्ड्+इट् (इ)+क्त (त)।

शब्दार्थः—आकर्णपूरितशरासनः=कान तक धनुष को फैलाए या खींचे हुए। स्नायुपाशः=तांत से बना हुआ बन्धन (जाल)।

हि० अनु० —उसके इस प्रकार बात करते हुए ही कान तक धनुष को खींचे हुए बहेलिया भी आ गया। उसको देखकर चूहे ने उसका ताँतों का बन्धन उसी क्षण काट दिया। इस बीच में चित्राङ्ग शीघ्र पीछे को देखता हुआ दौड़ गया। लघुपतनक वृक्ष पर चढ़ गया और हिरण्यक निकटवर्ती बिल में घुस गया।

अथासौ लुब्धको मृगगमनाद् विषण्णवदनो व्यर्थश्रमस्तं मन्थरकं मन्दं मन्दं स्थलमध्ये गच्छन्तं दृष्टवान्, अचिन्तयच्च—'यद्यपि कुरङ्गो धात्रापहृतस्तथाप्ययं कूर्म आहाराय सम्पादितः। तदद्यास्यामिषेण मे कुटुम्बस्याहारनिवृत्तिर्भविष्यति।' एवं विचिन्त्य तं दर्भैः सञ्छाद्य धनुषि समारोप्य स्कन्धे कृत्वा गृहं प्रति प्रस्थितः। अत्रान्तरे तं नीयमानमवलोक्य हिरण्यको दुःखाकुलः पर्यदेवयत्—'कष्टं भोः, कष्टमापतितम्।

समास —विषण्णवदनः =विषण्णम् वदनम् यस्य सः (बहु०)। व्यर्थश्रमः = व्यर्थः श्रमः यस्य सः (बहु०)। आहारनिवृत्तिः =आहारस्य निवृत्तिः (तत्पु०) दुःखाकुलः =दुःखेन आकुलः (तत्पु०)।

व्या—विषण्णः=वि+सद्+क्त (त)। अपहृतः =अप+हृ+क्त (त)। सम्पादितः =सम्+णिजन्त 'पद्' (पादि)+इट (इ)+क्त (त)। निवृत्तिः= निर्+वृत्—क्तिन् (ति)। विचिन्त्य=वि+चिन्त्+क्त्वा (ल्यप्=य)। सञ्छाद्य=सम्—छद् (छाद्)=क्त्वा (ल्यप=य)। समारोप्य=सम्+आ+णिजन्त 'रुह्' (रोप)+क्त्वा (ल्यप=य)।

शब्दार्थ —विषण्णवदनः=विषादयुक्त (फीका) मुख वाला। आमिषेण= मांस से। आहारनिवृत्तिः=भोजन का सम्पादन। दर्भैः=कुशों से। सञ्छाद्य= ढाँक कर। समारोप्य=रख कर। पर्यदेवयत्=रोया, रोने लगा।

हि० अनु० —इसके बाद बहेलिये ने मृग के जाने के कारण विषादयुक्त (फीका) मुख वाला एवं व्यर्थ परिश्रम वाला हो उस मन्थरक को स्थल के ऊपर धीरे धीरे जाते हुए देखा और सोचा—'यद्यपि विधाता ने वह हरिन ले लिया फिर भी यह कछुवा भोजन के लिए दे दिया। सो आज इसके मांस से मेरे कुटुम्ब के आहार का सम्पादन होगा।' ऐसा सोचकर उसको कुशों से

टक मर, धनुष के ऊपर रस, कन्धे पर लटकाकर घर के लिए चल दिया। तब उसको लिया आता हुआ देखकर हिरण्यक दुःख से व्याकुल हो रोने लगा—'अरे, सकट आया, सकट आ पड़ा।

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तम्,
गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे,
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥१८६॥

अन्वय—अहम् यावत् एकस्य दुःखस्य अन्तम् अर्णवस्य पारम् इव न गच्छामि, तावत् मे द्वितीयम् समुपस्थितम्, छिद्रेषु अनर्थाः बहुलीभवन्ति।

स० टी०—अहम् यावत् यत्कालपर्यन्तम् एकस्य दुःखस्य सकटस्य अन्तम् अवसानम् अर्णवस्य समुद्रस्य पारम् तीरम् इव यथा न गच्छामि प्राप्नोमि, तावद् मे मम द्वितीयम् दुःखम् समुपस्थितम् आगतम्, छिद्रेषु सकटेषु अनर्थाः सकटाः बहुलीभवन्ति सम्भूय समागच्छन्ति।

समास—बहुलीभवन्ति=अबहुलाः बहुलाः भवन्ति (च्वितत्पु०)।

व्या०—बहुलीभवन्ति=बहुल+च्वि (X)+भवन्ति।

शब्दार्थ—छिद्रेषु=कमियों में, सकटों में। बहुलीभवन्ति=इकट्ठे हो जाते हैं।

हि० अनु०—मैं जब तक समुद्र के पार जाने के समान एक दुःख के अन्त तक नहीं पहुँच पाया तब तक मेरे ऊपर दूसरा दुःख आ गया। (ठीक है)। सकटों के आने पर (अन्य) सकट भी आकर इकट्ठे हो जाते हैं।

यावदस्खलितं तावत् सुखं याति समे पथि।
स्खलिते च समुत्पन्ने विषमं च पदे पदे ॥१८७॥

अन्वय—यावत् अस्खलितम् तावत् समे पथि सुखम् याति, स्खलिते समुत्पन्ने च पदे पदे च विषमम् (भवति)।

समास—अस्खलितम्=न स्खलितम् (नञ् तत्पु०)।

व्या०:—अस्खलितम्=नञ् (अ) + स्खल् + इट् (इ) + क्त (त)। समुत्पन्ने=सम्+उत्+पद्+क्त (त)।

शब्दार्थ—अस्खलितम्=न फिसलना, फिसलने का अभाव। समे=एक से, चौरस।

हि० अनु०:—जब तक फिसलना नहीं होता, तब तक (व्यक्ति) चौरस रास्ते पर सुखपूर्वक चला जाता है, किन्तु एक बार फिसलने पर कदम-कदम पर फिसलन होती या ऊँचे-नीचे पैर पड़ते हैं।

यन्नम्रं सरलं चापि तच्चापत्सु न सीदति।
धनुर्मित्रं कलत्रं च दुर्लभं शुद्धवंशजम् ॥१८८॥

अन्वयः—यत् नम्रम् सरलम् च अपि, तत् च आपत्सु न सीदति (एतादृशम्) शुद्धवंशजम् धनुः मित्रम् कलत्रम् च दुर्लभम्।

समास—शुद्धवंशजम्=शुद्धश्चासौ वंशः (तत्पु०), तस्माज्जातम् (उपपद-तत्पु०)।

व्या०:—शुद्धवंशजम्=शुद्धवंश+जन्+ड (अ)।

हि० अनु०:—जो नम्र और सरल भी होता है, वह आपत्तियों में दुःखी नहीं होता। शुद्ध वंश (कुल, बाँस) से उत्पन्न ऐसे धनुष, मित्र और कलत्र (स्त्री) दुर्लभ हैं।

न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे।
विश्रम्भस्तादृशः पुंसां यादृङ् मित्रे निरन्तरे ॥१८९॥

अन्वय—पुंसाम् तादृशः विश्रम्भः न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न च आत्मजे (भवति), यादृग् निरन्तरे मित्रे (भवति)।

समासः—निरन्तरे=नास्ति अन्तरम् यस्मिन् तस्मिन् (बहु०)।

हि० अनु०:—पुरुषों का वैसा विश्वास न माता में होता है, न पत्नियों में, न सहोदर भाई में और न पुत्र में, जैसा कि किसी प्रकार का अन्तर या दुराव न रखने वाले मित्र में होता है।

यदि तावत् कृतान्तेन मे धननाशो विहितस्तन्मार्गश्रान्तस्य मे विश्राममूत मित्र कस्मादपहृतम् । अपरमपि मित्र पर मन्थरकसम न स्यात् । उक्त च—

हि० अनु०—यदि दैव ने मेरे धन का नाश कर दिया तो मार्ग से थके हुए मुझको विश्राम देने वाला मित्र क्यो छीन लिया, दूसरा भी मित्र हो सकता है, किन्तु मन्थरक के समान नही हो सकता । कहा भी है—

असंपत्तौ परो लाभो गुह्यस्य कथन तथा ।
आपद्विमोक्षण चैव मित्रस्यैतत्फलत्रयम् ॥१६०॥

अन्वय—(सीधा है) ।

हि० अनु०—सपत्ति न रहने पर परम लाभ, गोपनीय बात का कथन और आपत्तियो से छुटकारा, ये मित्र के तीन फल या लाभ है ।

तदस्य पश्चान्नान्य सुहृन्मे । तत्किं ममोपर्यनवरत व्यसनशरैर्वर्षति हन्त विधि । यत आदौ तावद् वित्तनाश , ततः परिवारभ्रशः, ततो देशत्याग , ततो मित्रवियोग इति । अथवा स्वरूपमेतत् सर्वेषामेव जन्तूना जीवितधर्मस्य । उक्त च—

समास —व्यसनशरै.=व्यसनानाम् शतानि तैं (तत्पु०) । वित्तनाश = वित्तस्य नाश (तत्पु०) परिवारभ्रश =परिवारस्य परिवाराद वा भ्रश (तत्पु०) देशत्याग =देशस्य त्यागः (तत्पु०) मित्रवियोग =मित्रस्य मित्राद वा वियोगः (तत्पु०) । जीवितधर्मस्य=जीवितस्य धर्म तस्य (तत्पु०), अथवा—जीवितमेव धर्म तस्य (कर्मधा०) ।

व्या० —त्याग =त्यज्+घञ् (अ) । जीवित=जीव्+इट् (इ)+क्त (त) ।

शब्दार्थ —अनवरतम्=निरन्तर । हन्त=खेद है !, हाय ! परिवारभ्रश =परिवार से बिछुडना । जीवितधर्मस्य=जीवन के धर्म या जीवन रूपी धर्म का ।

हि० अनु० —सो इसके बाद मेरा कोई दूसरा सुहृद नहीं है । सो हाय ! विधाता मेरे ऊपर निरन्तर सैकडो सकटो की बौछार क्यों कर रहा है ?

क्योकि पहले तो धन का नाश, फिर परिवार से बिछुड़ना, फिर देश का त्याग और फिर मित्र का वियोग। अथवा यह सभी प्राणियो के जीवन रूपी धर्म का अर्थात् जीवन का स्वरूप ही है। कहा भी है—

कायः सन्निहितापाय. सपदः क्षणभंगुरा।
समागमाः सापगमा· सर्वेषामेव देहिनाम् ॥१६१॥

अन्वय·—(सीधा है)।

समास —सन्निहितापाय = सन्निहिता अपाया· यस्य यस्मिन् वा (बहु०)। क्षणभगुरा = क्षणे भगुरा· (तत्पु०)। सापगमा = अपगमेन सहिताः (तत्पु०)।

व्या —काय = चि + घञ् (अ), धातु के 'च्' को 'क्'। सन्निहित = सम् + नि + धा (हि) + क्त (त) अपाय = अप + इ + घञ् (अ)।

शब्दार्थ —काय = शरीर। सन्निहितापाय· = जिसमे विघ्न या सकट भरे हुए हैं। सापगमा = वियोगयुक्त। क्षणभगुरा = क्षण म नष्ट होने वाली।

हि० अनु० —सभी शरीरधारियो के शरीर विघ्न या सकटो (रोग आदि) से पूर्ण हैं, सपत्तियाँ क्षण म नष्ट वाली हैं और मिलन वियोग से युक्त हैं।

तथा च।

हि० अनु० —और भी।

क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णम्
धनक्षये दीप्यति जाठराग्निः।
आपत्सु वैराणि समुल्लसन्ति
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति।

अन्वय —क्षते अभीक्ष्णम् प्रहारा. निपतन्ति, धनक्षये जाठराग्नि दीप्यति, आपत्सु वैराणि समुल्लसन्ति, छिद्रेषु अनर्था बहुलीभवन्ति।

स० टी०·—क्षते व्रणे आहते वा स्थाने अभीक्ष्णम् नित्यम् प्रहारा· आघाता· निपतन्ति आगच्छन्ति, धनक्षये वित्ताभावे जाठराग्निः उदरानल दीप्यति दीप्तः भवति, आपत्सु आपत्तिषु वैराणि शत्रुभावा समुल्लसन्ति वर्धन्ते, छिद्रेषु त्रुटिषु मर्मस्थलेषु वा अनर्था सकटा बहुलीभवन्ति प्रभूत भवन्ति·।

समासः—धनक्षये=धनस्य क्षये (तत्पु०) ।

व्या०:—क्षते=क्षण्+क्त (त) । प्रहारा=प्र+हृ+घञ् (अ) ।

शब्दार्थः—क्षते=घाव या चोट वाले स्थान मे । अभीक्ष्णम्=नित्य, बारम्बार । प्रहाराः=चोटें । निपतन्ति=आती हैं, लगती हैं । जाठराग्नि.=पेट की अग्नि । समुल्लसन्ति=बढते हैं । छिद्रेषु=कमियो मे, सकटो मे । अनर्थाः=सकट । बहुलीभवन्ति=आकर इकट्ठे हो जाते हैं ।

हि० अनु०:—घाव या चोट वाले स्थान में बारम्बार चोटें लगती हैं । धन का नाश होने पर पेट की अग्नि प्रदीप्त होती है, आपत्तियो मे वैर बढते हैं, सकट की दशाओ मे अन्य सकट भी आकर इकट्ठे हो जाते हैं ।

अहो साधूक्तं केनापि—

हि० अनु०:—अरे, यह किसी ने ठीक कहा है—

> प्राप्ते भये परित्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
> केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥१९३॥

अन्वयः—भये प्राप्ते परित्राणम् प्रीतिविश्रम्भभाजनम् मित्रम् इति अक्षर-द्वयम् इदम् रत्नम् केन सृष्टम् ।

समासः—प्रीतिविश्रम्भभाजनम्=प्रीतिश्च विश्रम्भश्च (द्वन्द्व), तयोः भाजनम् (तत्पु०) । अक्षरद्वयम्=अक्षरयोः द्वयम् (तत्पु०) ।

व्या०:—सृष्टम्=सृज्+क्त (त) । परित्राणम्=परि+त्रा+ल्युट् (यु=अन) ।

शब्दार्थ.—परित्राणम्=रक्षक । प्रीतिविश्रम्भभाजनम्—स्नेह और विश्वास का पात्र । सृष्टम्=बनाया ।

हि० अनु०:—सकट के प्राप्त होने पर रक्षा करने वाला और स्नेह तथा विश्वास का पात्र 'मित्र' यह अक्षर-युगल (अक्षरो की जोडी) रूपी रत्न किसने बनाया है ?

अत्रान्तरे चाक्रन्दपरौ चित्राङ्गलघुपतनकौ तत्रैव समायातौ । अथ हिरण्यक

आह—'अहो किं वृथा प्रलपितेन । तद्यावदेष मन्थरको दृष्टिगोचरान्न नीयते, तावदस्य मोक्षोपायश्चिन्त्यताम्' इति । उक्तं च—

हि० अनु०:—इस बीच में चित्राङ्ग और लघुपतनक रोते हुये वहीं आए। तब हिरण्यक बोला—'अरे, व्यर्थ रोने से क्या लाभ है, सो जब तक यह मन्थरक हमारी दृष्टि से ओझल नहीं किया जावे, तब तक इसके छुड़ाने का उपाय सोचिए।'

कहा भी है—

> व्यसनं प्राप्य यो मोहात् केवलं परिदेवयेत् ।
> क्रन्दनं वर्धयत्येव तस्यान्तं नाधिगच्छति ॥१६४॥

अन्वयः—यः व्यसनम् प्राप्य मोहात् केवलम् परिदेवयेत् (सः) क्रन्दनम् वर्धयति एव तस्य अन्तम् न अधिगच्छति ।

व्या०:—क्रन्दनम्=क्रन्द्+ल्युट् (यु=अन) ।

शब्दार्थः—परिदेवयेत्=रोवे, रोता है । क्रन्दनम्=रोना, रोदन ।

हि० अनु०:—जो संकट को प्राप्त कर मोहवश केवल रोता है, वह रोदन को बढ़ाता ही है, उस संकट के पार नहीं जाता है।

> केवलं व्यसनस्योक्तं भेषजं नयपण्डितैः ।
> तस्योच्छेदसमारम्भो विषादपरिवर्जनम् ॥१६५॥

अन्वय—नयपण्डितैः व्यसनस्य केवलम् भेषजम् उक्तम् (यत्) तस्य उच्छेद समारम्भः, विषादपरिवर्जनम् ।

समासः—नयपण्डितैः=नयस्य पण्डितैः (तत्पु०) उच्छेदसमारम्भः=उच्छेदस्य समारम्भः (तत्पु०) । विषादपरिवर्जनम्=विषादस्य परिवर्जनम् (तत्पु०) ।

व्या०:—उच्छेद=उत्+छिद्+घञ् (अ) । समारम्भः=सम्+आ+रभ्+घञ् (अ) । विषाद=वि+सद्+घञ् (अ) । परिवर्जनम्=परि+वृज्+ल्युट् (यु=अन) ।

शब्दार्थ —उच्छेदसमारम्भः=नष्ट करने का आरम्भ । विषादपरिवर्जनम्=विषाद या खिन्नता का परित्याग ।

हि० अनु०—नीति के पण्डितो ने सकट की एक मात्र यह औषध बताई है कि उसको नष्ट करने का आरम्भ और विषाद या खिन्नता का परित्याग ।

अन्यच्च ।

हि० अनु०:—और भी ।

अतीतलाभस्य सुरक्षणार्थम् ।
भविष्यलाभस्य च सगमार्थम् ।
आपत्प्रपन्नस्य च मोक्षणार्थम् ।
यन्मन्त्र्यतेऽसौ परमो हि मन्त्रः ॥१६६॥

अन्वय.—अतीतलाभस्य सुरक्षणार्थम् भविष्यलाभस्य च सङ्गमार्थम् आपत्प्रपन्नस्य च मोक्षणार्थम् यत् मन्त्रते असौ परम· मन्त्रः हि ।

स० टी०:—अतीतलाभस्य प्राप्तलाभस्य सुरक्षणार्थम् सरक्षणार्थम्, भविष्यलाभस्य आगमिष्यमाणलाभस्य च सगमार्थम् प्राप्त्यर्थम्, आपत्प्रपन्नस्य विपद्ग्रस्तस्य च मोक्षणायम् मोक्षार्थम् यत् यत् किञ्चिदपि मन्त्र्यते मन्त्रण क्रियते असौ स. परमः सर्वोत्तमः मन्त्रः मन्त्रणा अस्ति ।

समासः—अतीतलाभस्य=अतीतश्च असौ लाभ. (कर्मधा०) । भविष्यलाभस्य=भविष्यश्चासौ लाभ (कर्मधा०) आपत्प्रपन्नस्य=आपदम् प्रपन्नस्य (तत्पु०) ।

व्या ०—अतीत=अति=इ=क्त (त) प्रपन्न=प्र+पद्+क्त (त) ।

शब्दार्थ=अतीतलाभस्य=प्राप्त हुए लाभ के । भविष्यलाभस्य=होने वा[ले] लाभ के । आपत्प्रपन्नस्य=आपत्ति मे फँसे हुए के । मन्त्र्यते=सलाह की जाती है । मन्त्रः=सलाह ।

हि० अनु०:—प्राप्त हुए लाभ की सुरक्षा के लिए, आगे होने वाले लाभ की प्राप्ति के लिए, आपत्ति मे फँसे हुए को छुड़ाने के लिए जो सलाह की जाती है, वह सर्वोत्तम सलाह है ।

तच्छ्रुत्वा वायस आह—'भो, यद्येवं तत्क्रियतां मद्वचः । एष चित्राङ्गोऽस्य मार्गे गत्वा किञ्चित्पल्वलमासाद्य तस्य तीरे निश्चेतनो भूत्वा पततु । अहमप्यस्य शिरसि समारुह्य मन्दैश्चञ्चुप्रहारैः शिर उल्लेखयिष्यामि, येनासौ दुष्टलुब्धकोऽमुं मृतं मत्वा मम चञ्चुप्रहरणप्रत्ययेन मन्थरकं भूमौ क्षिप्त्वा मृगार्थं परिधाविष्यति । अत्रान्तरे त्वया दर्भमयानि पाशानि, खण्डनीयानि येनासौ मन्थरको द्रुततरं पल्वलं प्रविशति ।' चित्राङ्ग आह—'भोः, भद्रोऽयं त्वया दृष्टो मन्त्रः । नूनं मन्थरकोऽयं मुक्तो मन्तव्य' इति । उक्तं च—

समास—निश्चेतन=नास्ति चेतना यस्य सः (बहु०) चञ्चुप्रहारैः=चञ्चोः प्रहारैः (तत्पु०) । चञ्चुप्रहरणप्रत्ययेन=चञ्चोः प्रहरणम् (तत्पु०), तस्य प्रत्ययेन (तत्पु०) ।

व्या०:—आसाद्य=आ+सद (साद)+क्त्वा (ल्यप्=य) । मत्वा=मन्+क्त्वा (त्वा) । प्रहरण=प्र+हृ+ल्युट् (यु=अन) । प्रत्यय=प्रति+इ+अच् (अ) । क्षिप्त्वा=क्षिप्+क्त्वा (त्वा) । दर्भमयानि=दर्भ+मयट् (मय) ।

शब्दार्थ—पल्वलम्=छोटे तालाब पर । आसाद्य=पहुँच कर । निश्चेतन=चेतनाहीन, बेहोश, मरा हुआ । चञ्चुप्रहारैः=चोंच के प्रहारों से । उल्लेखयिष्यामि=नोचूँगा, खोट मारूँगा । चञ्चुप्रहरणप्रत्ययेन=चोंच की चोटों की प्रतीति (विश्वास) से । क्षिप्त्वा=फेंककर । परिधाविष्यति=दौड़ेगा । दर्भमयानि=कुश से बने हुए । पाशानि=जालों को । खण्डनीयानि=काटने चाहिए । द्रुततरम्=अति शीघ्र ।

हि० अनु०—यह सुनकर कौआ बोला—'अरे, यदि ऐसा है तो मेरी बात मानिए । यह चित्राङ्ग इस बहेलिए के मार्ग में जाकर किसी तालाब पर पहुँच उसके किनारे चेतनाहीन होकर गिर पड़े । मैं भी इसके सिर पर बैठकर चोंच की धीमी चोटों से सिर को नोचूँगा, जिससे यह दुष्ट बहेलिया इसको मरा हुआ समझकर मेरी चोंच की चोटों के विश्वास से मन्थरक को भूमि पर पटक कर मृग के लिए दौड़ेगा । इस बीच में तुम्हें कुश से बने हुए बन्धन काट देने चाहिए जिससे यह मन्थरक अति शीघ्र तालाब में घुस जायगा ।

चित्राङ्ग बोला—'अरे तुमने यह बहुत उत्तम उपाय सोचा। निश्चय ही इस मन्थरक को छूटा हुआ समझिए। कहा भी है—

सिद्धं वा यदि वाऽसिद्धं चित्तोत्साहो निवेदयेत्।
प्रथमं सर्वजन्तूनां तत्प्रज्ञो वेत्ति नेतरः ॥१६७॥

अन्वय—सर्वजन्तूनाम् चित्तोत्साहः सिद्धम् वा यदि वा असिद्धम् प्रथमम् निवेदयेत्, तत्प्रज्ञः वेत्ति इतरः न।

समास—सर्वजन्तूनाम्=सर्वे च ते जन्तवः तेषाम् (कर्मधा०)। चित्तोत्साहः=चित्तस्य उत्साहः। (तत्पु०)। तत्प्रज्ञः=तस्य प्रज्ञः (तत्पु०)।

व्या०—प्रज्ञ=प्र+ज्ञा+क (अ)।

शब्दार्थ—सर्वजन्तूनाम्=सब प्राणियों का। तत्प्रज्ञः=उसका जानकार।

हि० अनु०—सब प्राणियों के चित्त का उत्साह सिद्ध होने वाले या असिद्ध होने वाले काम को पहले से ही बता देता है उसका जानकार यह जानता है दूसरा नहीं।

तन्त्रैव क्रियताम् इति।

हि० अनु०—सो ऐसा कीजिए।

तथानुष्ठिते स लुब्धकस्तथैव मार्गासन्नपल्वलतीरस्थं चित्राङ्गं वायससनाथमपश्यत्। तं दृष्ट्वा हर्षितमना व्यचिन्तयत—नूनं पाशबन्धनवेदनया वराकोऽयं मृगः सावशेषजीवितः पाशं त्रोटयित्वा कथमप्येनद्वनान्तरं यावत्प्रविष्टस्तावन्मृतः। तद्वश्योऽयं मे कच्छपः सुयन्त्रितत्वात्। तदेनमपि तावद्गृह्णामि।' इत्यवधार्य कच्छपं भूतले प्रक्षिप्य मृगमुपाद्रवत्।

समास—मार्गासन्नपल्वलतीरस्थम्=मार्गम् आसन्नम् (तत्पु०) तत् च तत् पल्वलम् (कर्मधा०) तस्य तीरम् (तत्पु०) तस्मिन् तिष्ठति (उपपद तत्पु०)। वायससनाथम्=वायसेन सनाथम् (तत्पु०)। हर्षितमनाः=हर्षितम् मनः यस्य सः (बहु०)। सावशेषजीवितः=अवशेषेण सहितम् (तत्पु०)। सावशेषम् जीवितम् यस्य सः (बहु०)। पाशबन्धनवेदनया=पाशेन बन्धनम् (तत्पु०) तेन वेदना तया (तत्पु०)।

व्या०—आसन्न=आ+सद्+क्त (त)। त्रोटयित्वा=णिजन्त 'त्रुट्' (त्रोटय्)+इट् (इ)+क्त्वा (त्वा)। अवधार्य=अव+णिजन्त 'धृ' (धार्)+क्त्वा (ल्यप्=य)। प्रक्षिप्य=प्र+क्षिप्+क्त्वा (ल्यप्=य)।

शब्दार्थः—मार्गासन्नपल्वलतीरस्थम्=मार्ग के समीपवर्ती तालाब के किनारे स्थित को। वायसनाथम्=कौए के सहित को। व्यचिन्तयत्=सोचने लगा। पाशावन्धनवेदनया=जाल के बन्धन की वेदना से। वराकः=बेचारा। सावशेष-जीवितः=अवशिष्ट जीवन वाला। त्रोटयित्वा=ताड कर। वनान्तरम्=दूसरे वन मे। वश्यः=वश मे रहने वाला। सुयन्त्रितत्वात्=अच्छी तरह बँधा हुआ होने के कारण। अवधार्य=निश्चय कर। प्रक्षिप्य=फेंककर। उपाद्रवत्=भागा।

हि० अनु०:—वैसा करने पर उस बहेलिया ने उसी प्रकार मार्ग के समीप-वर्ती तालाब के किनारे पर पडे हुए चित्राङ्ग को कौए के साथ देखा। उसको देखकर प्रसन्नचित हो सोचने लगा—'निश्चय ही यह बेचारा मृग जाल के बन्धन की पीडा से कुछ अवशिष्ट जीवन वाला हो, जाल को तोडकर जैसे-तैसे इस दूसरे वन में ज्यो हा घुसा है त्यों ही मर गया है। सो यह कछवा तो अच्छी तरह बँधा रहने के कारण मेरे वश मे है, अतः इसको भी पकड लूँ।' ऐसा निश्चय कर कछवे को जमीन पर पटक कर हरिण की ओर दौडा।

एतस्मिन्नन्तरे हिरण्यकेन वज्रोपमदंष्ट्राप्रहरणेन तद्दर्भवेष्टनम् खण्डश-कृतम्। मन्थरकोऽपि तृणमध्यान्निष्क्रम्य समीपवर्तिनं पल्वलं प्रविष्टः। चित्रा-ङ्गोऽप्यप्राप्तस्यापि तस्य तल उत्थाय वायसेन सह पलायितः। एतस्मिन्नन्तरे विलक्षो विषादपरो लुब्धको निवृत्तो यावत् पश्यति, तावत्कच्छपोऽपि गतः। ततश्च तत्रोपविश्येमं श्लोकमपठत्—

समास—वज्रोपमदंष्ट्राप्रहरणेन=वज्रम् उपमा यासाम् ताः (बहु०), ताश्च ताः दंष्ट्राः (कर्मधा०), ता एव प्रहरणम् तेन (तत्पु०)। दर्भवेष्टनम् दर्भ-निर्मित वेष्टनम् (मध्यमपदलोपी कर्मधा०)। विषादपरः=विषादे परः (तत्पु०)।

व्या०:—प्रहरण=प्र+हृ+ल्युट् (यु=अन)। वेष्टनम्=वेष्ट्+ल्युट्

(यु=अन) । निष्क्रम्य=निस् + क्रम् + क्त्वा (ल्यप्=य) । समीपवर्तिनम्= समीप + वृत् + णिनि (इन्) । उत्थाय=उत् + स्था + क्त्वा (ल्यप्=य) । पलायित =परा + अय् + इट् (इ) + क्त (त) । निवृत्तः=नि + वृत् + क्त (त) । उपविश्य=उप + विश् + क्त्वा (ल्यप्=य) ।

शब्दार्थ.—वज्रोपमदंष्ट्राप्रहरणेन=वज्र के समान दाढ रूपी शस्त्र से । दर्भवेष्टनम्=कुशा से बने हुए लपेटन या बंधने को । खण्डशः=टुकडे-टुकडे । निष्क्रम्य=निकल कर । तले=तल या जमीन मे । पलायित =भाग गया । विलक्ष =भौचक्का । विषादपरः=खिन्न होता हुआ । उपविश्य=बैठ कर ।

हि० अनु०:—इस बीच मे हिरण्यक ने वज्र के समान दाढ रूपी शस्त्र से उस कुशनिर्मित बंधने को टुकडे टुकडे कर दिया । मन्थरक भी तृणो के मध्य से निकलकर पास के तालाव मे घुस गया । चित्राङ्ग भी उसके पहुँचने से पहले जमीन पर उठकर कौए के साथ भाग गया । इस बीच मे भौचक्का और खिन्न बहेलिया लौटकर जब देखता है तब तक कछुवा भी चला गया । तब उसने वही बैठकर यह श्लोक पढा—

> प्राप्तो बन्धनमप्यय बहुमृतस्तावत्त्वया मे हृत.,
> संप्राप्तः कमठः स चापि नियत नष्टस्तवादेशतः ।
> क्षुत्क्षामोऽत्र वने भ्रमामि शिशुकैस्त्यक्त. सम भार्यया,
> यच्चान्यन्न कृत कृतान्त कुरु ते तच्चापि सह्य मया ॥१६८॥

अन्वय —हे कृतान्त, अयम् बन्धनम् अपि प्राप्त. (यावत्) बहुमृतः तावत् त्वया मे हृतः, कमठः सप्राप्त., स च अपि नियतम् तव आदेशतः नष्टः, क्षुत्क्षाम. भार्यया समम् शिशुकैः त्यक्त अत्र वने भ्रमामि, यत् च अन्यत् न कृतम् (तत्) कुरु, ते तत् च अपि मया सह्यम् ।

स० टी०.—हे कृतान्त हे दैव अयम् मृग' बन्धनम् यन्त्रणम् अपि प्राप्तः आपन्न यावत बहुमृत. मृतकल्पो जातः तावत् त्वया ये मम हृत. अपहृत., यः कमठ. कच्छपः संप्राप्तः लब्ध. स च अपि नियतम् नूनम् तव आदेशतः नियोगात् नष्ट. हस्तान्निर्गत., क्षुत्क्षाम बुभुक्षाव्याकुल: भार्यया प ्या समम् सह शिशुकैः

वर्भकैः त्यक्त. नियुक्त. मन् अत्र अस्मिन् वने अरण्ये भ्रमामि भ्रमणम् (करोमि यत् च अन्यद् अपरम् न कृतम् विहितम्) तदपि कुरु ते तव तत् च अपि मया लुब्धकेन सह्यम् अवश्यमेव सोटव्यम् ।

समासः—क्षुत्क्षामः=क्षुधा क्षाम (तत्पु०)। बहुमृतः=ईषदूनो मृत (तद्धित)।

व्या०:—बहुमृत ='मृत' शब्द के पूर्व मे बहुच् (बहु) प्रत्यय । क्षाम=क्षै+क्त (त)। प्रत्यय के 'त' को 'म'। सह्यम्=सह्+यत् (य)।

शब्दार्थ:—कृतान्त=हे दैव । बहुमृत.=मृतकल्प, मरणासन्न । कमठः=कछवा । नियतम्=निश्चय ही । क्षुत्क्षाम =भूख से पीडित । सह्यम्=सहना पडेगा ।

हि० अनु०.—हे दैव, यह हरिण बन्धन मे भी आ गया और जब तक मृतकल्प (मरने को) हुआ तब तक तुमने उसे मुझसे छीन लिया । यह जो कछवा प्राप्त हुआ, वह भी निश्चय ही तुम्हारी आज्ञा से हाथ से निकल गया । अब मैं भूख से व्याकुल और स्त्री तथा बच्चो से वियुक्त होकर इस वन मे घूम रहा हूँ, जो कुछ अन्य नहीं किया हो, वह भी कर ला, तुम्हारा वह सब कुछ भी मुझे अवश्य सहना पडेगा ।

एव बहुविध विलप्य स्वगृह गत । अथ तस्मिन् व्याधे दूरतर गते सर्वेऽपि ते काककूर्ममृगमूषका परमानन्दभाज परस्परमालिङ्ग्य पुनर्जातमिवात्मान मन्यमानास्तदेव सर सप्राप्य महासुखेन सुभाषितकथागोष्ठीविनोदेन काल नयन्ति स्म । एव ज्ञात्वा विवेकिना मित्रसग्रह कार्य । न च मित्रेण सह व्याजेन वर्तितव्यमिति । उक्त च यत —

समास —काककूर्ममृगमूषका.=काकश्च कूर्मश्च मृगश्च मूषकश्च (द्वन्द्व)। परमानन्दभाज =परमश्चासौ आनन्द (कमधा०), तम् भजन्ति (उपपद तत्पु०)। सुभाषितकथागोष्ठीविनोदेन=सुभाषितानि च कथाश्च (द्वन्द्व), ताभ्यः गोष्ठ्य (तत्पु०), तासा विनोदेन (तत्पु०) मित्रसंग्रह =मित्राणाम् सग्रह (तत्पु०)।

व्या०:—विलप्य=वि+लप्+क्त्वा (ल्यप्=य) । परमानन्दभाजः=परमानन्द+ण्वि (X) । आलिङ्ग्य=आ+लिङ्ग+क्त्वा (ल्यप्=य) । सप्राप्य=सम्+प्र+आप्+क्त्वा (ल्यप्=य) । विवेकिना=विवेक+इनि (इन्) ।

शब्दार्थ —विलप्य=रोकर। पुनर्जातम्=दुबारा उत्पन्न हुआ। सुभाषित-कथागोष्ठीविनोदेन=अच्छी उक्तियों और कहानियों के लिए आयोजित बैठकों के आनन्द से। व्याजेन=कपट के साथ। वर्तितव्यम्=व्यवहार करना चाहिए।

हि० अनु०.—ऐसे अनेक प्रकार से (खूब) रोकर वह अपने घर को गया। तब उस बहेलिए के बहुत दूर चले जाने पर कौआ, कछुवा, मृग और चूहा, ये सभी परम आनन्द को प्राप्त हो परस्पर आलिंगन कर अपने को दुबारा उत्पन्न हुआ सा मानते हुए उसी तालाब पर पहुँच कर बड़े सुख के साथ सुभाषित और कथाओं के लिए की जाने वाली बैठकों के विनोद से समय को व्यतीत करने लगे। ऐसा जानकर समझदार व्यक्ति को मित्रों का संग्रह करना चाहिए और मित्र के साथ कपट का व्यवहार नहीं करना चाहिए। क्योंकि कहा भी है—

यो मित्राणि करोत्यत्र न कौटिल्येन वर्तते।
तैः सम न पराभूतिं सम्प्राप्नोति कथचन ॥१९९॥

अन्वयः—यः अत्र मित्राणि करोति, कौटिल्येन न वर्तते, तैः समम् कथचन पराभूतिम् न सम्प्राप्नोति।

व्या०—कौटिल्येन=कुटिल=ष्यञ (य)। पराभूतिम्=परा+भू+क्तिन् (ति)।

शब्दार्थ—कौटिल्येन=कुटिलता से। पराभूतिम्=पराभव को, पराजय को, नीचा देखने को।

हि० अनु०:—जो यहाँ मित्र बनाता है और उनके साथ कुटिलता से व्यवहार नहीं करता है, वह उनके साथ रहकर किसी प्रकार भी पराभव को प्राप्त नहीं करता अर्थात् उसे कभी नीचा नहीं देखना पड़ता।

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके
मित्रसम्प्राप्तिर्नाम द्वितीयं तन्त्रं समाप्तम्।

(मित्रसंप्राप्ति समाप्त)

मित्रसंप्राप्ति की कथाओं का हिन्दी में सार

पचतन्त्र का कथामुख

दक्षिण-प्रदेश मे महिलारोप्य नामक नगर है। वहाँ अमरशक्ति नाम का राजा था। उसके बहुशक्ति, उग्रशक्ति और अनन्तशक्ति नामक तीन पुत्र थे। वे महामूर्ख थे। अतः राजा ने अपने मन्त्रियों को बुलाकर उनमे कहा कि यह उन्हे ज्ञात ही है कि उसके पुत्र शास्त्रो से विमुख और विवेकहीन हैं, अतः कोई ऐसा उपाय कीजिए जिससे उनकी बुद्धि का विकास हो। उन मन्त्रियो में से एक ने कहा कि विभिन्न शास्त्रो का ज्ञान अनेक वर्षों मे होता है, तब कहीं जाकर समझ आती है। इसके बाद सुमति नामक मन्त्री बोला कि जीवन बहुत दिनो तक टिकने वाला नहीं है और शास्त्रो का ज्ञान बहुत वर्षो मे हो सकता है, इसलिए कोई सक्षिप्त उपाय सोचा जावे। आगे उसने कहा कि यहाँ पर विष्णुशर्मा नाम का ब्राह्मण बहुत बडा विद्वान् है, उसे इन बालको को सौंप दिया जावे, वह शीघ्र ही इनको ज्ञानवान् बना देगा। राजा ने यह सुन कर विष्णुशर्मा को बुलवाया और उससे कहा कि उसके ऊपर कृपा करने के लिए उन बालको को अर्थशास्त्र (राजनीति) मे अद्वितीय विद्वान् बना देने का वह (विष्णुशर्मा) प्रयत्न करें और इसके लिए उन्हे सौ ग्रामो का राज्य दिया जावेगा। विष्णुशर्मा ने राजा से कहा कि वह विद्या की बिक्री नहीं करता है। साथ ही इतनी बात है कि यदि वह इन बालको को छः महीने के भीतर नीति-शास्त्र का विद्वान् न बना दे तो अपने नाम का परित्याग कर देगा। यतः वह अस्सी वर्ष का होकर विषयविरत हो गया है, अतः उसे धन से कोई मतलब

नही है। यदि छ महीने के भीतर राजपुत्रो को वह अद्वितीय विद्वान् न बना दे तो भगवान् उसे सुगति प्रदान न करें।

राजा विष्णुशर्मा की इस असभाव्य प्रतिज्ञा को सुनकर प्रसन्न हुआ और पुत्रो को उसे सौंप कर उसने शान्ति का अनुभव किया। विष्णुशर्मा ने भी उन्हे लेकर उनके लिए मित्रभेद, मित्रसंप्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश और अपरीक्षितकारक, ये पाँच तन्त्र (भाग) बनाकर उन्हे पढाए। फलत वे राजकुमार छः महीने में नीतिशास्त्रज्ञ होगए। तब से यह 'पंचतन्त्र' नामक नीतिशास्त्र बालको के बोध के लिए भूतल मे प्रचलित हुआ।

मित्रसप्राप्ति की मुख्य कथा

वक्ता—विष्णुशर्मा; श्रोता—राजपुत्र।

प्रसग—(सभवत: विष्णुशर्मा ने राजपुत्रो से कहा कि) अब मित्रसप्राप्ति नामक द्वितीय तन्त्र प्रारम्भ होता है, जिसका कि यह प्रथम श्लोक है—

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः।
साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाखुवद् ॥

अर्थात् साधन और धन से हीन, किन्तु बुद्धिमान् और विद्वानों से सुनकर ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले जन, कौआ, कछुवा, मृग और चूहे के समान अपने कार्यों को शीघ्र ही सिद्ध कर लेते हैं।

जैसा कि सुना जाता है—

कथा:—दक्षिण-प्रदेश मे महिलारोप्य नामक नगर है। उससे थोडी दूर बरगद का एक बहुत बडा पेड है। उस पर असख्य पक्षी निवास करते थे जिनमे एक लघुपतनक नामक कौआ भी था। वह कौआ किसी दिन जीविका के लिए निकला तो सामने एक बहेलिए को आते हुए देखा, उसे देखकर वह शीघ्र ही बरगद के पेड पर आ गया और सब पक्षियो से बोला कि यह दुष्ट बहेलिया हाथ मे जाल और चावल लेकर आ रहा है। यह जाल को फैलाकर चावल बखेरेगा, सो इन चावलो को न छूआ जावे। उसके इतना कहने पर वह

बहेलिया वहाँ आ गया और जाल को फैलाकर और उस पर चावल बखेर कर थोडी दूर पर चुपचाप बैठ गया। बरगद पर रहने वाले पक्षियो ने उन चावलो को नही छुआ। इस बीच मे चित्रग्रीव नाम का कपोतराज हजारो कबूतरो के साथ वहाँ आया और लघुपतनक के मना करने पर भी उन चावलो पर टूट पडा और फलतः सपरिवार बँध गया।

चित्रग्रीव अपने को सपरिवार बँधा हुआ देखकर कबूतरो से बोला कि डरना नही चाहिए, अपितु सबको एक साथ बल लगाकर उडना चाहिए, अन्यथा मरण निश्चित है। कबूतरो के ऐसा करने पर बहेलिया कुछ दूर तक उनके पीछे जमीन पर दौडा और अन्त मे निराश होकर घर को लौट गया। लघुपतनक कौतुकवश कबूतरो के पीछे उडता गया।

चित्रग्रीव कबूतरो को अपने एक मित्र हिरण्यक नामक चूहे के बिल के पास ले गया। वहाँ उसने हिरण्यक को पुकारा। हिरण्यक निकलकर आया, उसने सबका स्वागत किया और उनका जाल काटकर उन्हें बन्धन-मुक्त किया। चित्रग्रीव कबूतरो के साथ अपने आश्रय-स्थान को लौट आया।

लघुपतनक नामक कौआ, जिसने कि यह सब देखा था, प्रसन्न हो हिरण्यक की मन ही मन प्रशसा करने लगा। उसके हृदय मे हिरण्यक को अपना मित्र बनाने की इच्छा हुई, जिसे कि उसने हिरण्यक के समक्ष प्रकट किया। पहले तो हिरण्यक ने मना किया, किन्तु लघुपतनक के बहुत आग्रह करने पर उसने उसे मित्र बनाना स्वीकार कर लिया। दोनो मित्र सानन्द रहने लगे।

एक दिन लघुपतनक ने हिरण्यक से रोते हुए कहा कि अब वह उस स्थान पर नही रहना चाहता है, क्योकि वहाँ घोर अकाल पडा हुआ है। वह अब अपने एक दूसरे मित्र मन्थरक नामक कछुवे के पास जावेगा और वही रहेगा। हिरण्यक ने यह सुनकर कहा कि उसे भी अपने उस वर्तमान स्थान से विरक्ति हो गई है, जिसका कि कारण वह फिर बतावेगा, और फलतः वह भी वहाँ नही रहना चाहता, अपितु उसी के साथ चलेगा।

कौए ने हिरण्यक को पीठ पर रख लिया और उडकर उस तालाब के पास पहुँचा, जहाँ कि मन्थरक रहता था। वहाँ मन्थरक से मुलाकात हुई।

हिरण्यक का परिचय मन्थरक को दिया गया और तीनो मित्र आनन्द से दिन व्यतीत करने लगे।

एक दिन वे तीनो परस्पर वार्तालाप कर रहे थे कि चित्राङ्ग नामक एक हरिण बहेलियो से भयभीत होकर उस तालाब मे घुसा। उसकी हडबडाहट से डरकर वे तीनो तितर-बितर हो अपनी अपनी सुरक्षा के स्थान पर पहुँच गए। बाद मे जब उन्हे ज्ञात हुआ कि आने वाला अन्य कोई नहीं, अपितु एक मृग है जो कि बहेलियो से डरकर अपनी रक्षा के लिए यहाँ आया है और बहेलिए भी अब अपने घर को लौट गए हैं, तो बाहर निकल आए और मृग को सान्त्वना दी तथा उसे अपना मित्र बना लिया। इसके बाद वे चारो मित्र साथ-साथ सुखपूर्वक रहने लगे।

एक दिन परस्पर मिलने के समय चित्राङ्ग नही आया तो वे व्याकुल हुए। कौआ उसको देखने के लिए उडा तो थोडी दूर पर चित्राङ्ग को जाल मे बंधा हुआ देखा। उसने चित्राग को सान्त्वना दी और लौट कर हिरण्यक और मन्थरक को यह समाचार दिया। इसके बाद वह बन्धन काटने के लिए हरिण्यक को चित्राग के पास ले गया, किन्तु कुछ देर बाद कछुवा भी उस ओर रेंगकर आता हुआ दिखाई दिया और कुछ काल के बाद वह वहाँ पहुँच भी गया जिससे वे तीनो उसकी सुरक्षा के लिए चिन्तित हो गए। इतने मे बहेलिया उधर की ओर आता हुआ दिखाई दिया, तो हिरण्यक ने झट चित्राग का बन्धन का दिया। चित्राग भाग गया। लघुपतनक उड गया। हिरण्यक पास के बिलक में घुस गया। कछुवा बेचारा वही रह गया। हरिण को बन्धन-मुक्त होकर भागा हुआ देखकर बहेलिया दुःखी हुआ। थोडी देर मे उसकी दृष्टि स्थल पर रेंगते हुए कछुवे पर पडी। उसने उसको कुशो की रस्सी से बाँधकर धनुष पर लटका लिया और कन्धे पर रखकर घर की ओर चल दिया।

कछुवे को बहेलिए के द्वारा लिया जाता हुआ देखकर हिरण्यक दु खी हो रोने लगा। बाद मे चित्राग और लघुपतनक भी रोते हुए हिरण्यक के पास पहुँचे। तब कौए ने कहा कि अब मन्थरक के छुटकारे का यह उपाय है कि चित्राग इस बहेलिए के रास्ते मे किसी तालाब के किनारे मरा हुआ सा होकर

गिर पड़े। वह उसके सिर पर बैठकर धीरे धीरे चोंच से प्रहार करेगा, जिससे बहेलिया इसे मरा समझकर, कछुवे को रखकर इसे पकड़ने आवेगा। इसी बीच में हिरण्यक कछुवे का बन्धन काट देगा, जिससे वह तालाब में घुस जावेगा। हिरण्यक और चित्राग कौए की राय से सहमत हो गए।

बाद में उनके ऐसा ही करने पर, उस बहेलिए ने मृग को कौए के साथ देखा। वह प्रसन्न हो, कछुवे को जमीन पर पटक कर हरिण की ओर दौड़ा। इतने में हिरण्यक ने कछुवे का बन्धन काट दिया। कछुवा तालाब में घुस गया और चित्राग भी बहेलिए के अपने पास आने के पूर्व ही उठकर कौए के साथ भाग गया। तब उस बहेलिए ने भौचक्का और दुःखी हो लौटकर देखा तो कछुवे को भी वहाँ नहीं पाया, तब वह रोने लगा और खूब रोने के बाद घर को लौट गया।

उस बहेलिए के बहुत दूर जाने पर कौआ, कछुवा, मृग और चूहा ये सभी इकट्ठे हुए और अति प्रसन्न हो परस्पर आलिंगन करने लगे। वे अपने को दुबारा उत्पन्न हुआ-सा समझ कर उसी तालाब पर पहुँचे और बड़े आनन्द के साथ मित्रता का सुख भोगते हुए समय व्यतीत करने लगे।

ऐसा समझ कर विवेकी व्यक्ति को मित्रों का संग्रह करना चाहिए और मित्रों के साथ कपट का व्यवहार नहीं करना चाहिए। जो मित्रों को बनाता है और उनके साथ कुटिलता का व्यवहार नहीं करता, वह कभी पराभव को प्राप्त नहीं होता।

'मित्रसंप्राप्ति' में इस मुख्य कथा के प्रसंग से अन्य छः अवान्तर कथाएँ वर्णित हैं, जो कि इस प्रकार हैं—

कथा—१ (ताम्रचूडहिरण्यककथा)

वक्ता—हिरण्यक मूषक, श्रोता—लघुपतनक कौआ और मन्थरक कछुवा।

प्रसंग—उस मुख्य कथा का एक पात्र लघुपतनक हिरण्यक से अलग मन्थरक के स्थान को जाने लगा तो हिरण्यक ने कहा कि उसे भी अपने वर्तमान स्थान से विरक्ति हो गई है, जिसका कि कारण वह फिर बतावेगा।

जब हिरण्यक और लघुपतनक दोनो मन्थरक के पास पहुँच गए, तब लघुपतनक ने हिरण्यक से कहा कि अब वह उन दोनों—लघुपतनक और मन्थरक—को अपने पूर्व स्थान से अपनी विरक्ति का कारण बतावें। तब हिरण्यक कहता है—

कथा —दक्षिण प्रदेश मे महिलारोप्य नामक नगर है। वहाँ श्री महादेवजी का एक मठ है। उसमे ताम्रचूड नाम का एक सन्यासी रहता था। वह खाने से बचे हुए भीख के अन्न को भिक्षापात्र मे रखकर, उस भिक्षापात्र को खूँटी पर लटका कर रात को सोता था। प्रात काल उसी अन्न को मजदूरो को देकर उनसे मठ की सफाई आदि कराता था। एक दिन मेरे साथियो ने आकर कहा कि उस भिक्षापात्र पर वे उछल कर नही पहुँच पाते हैं, अत मैं भी उनके साथ वहीं चलूँ और उस अन्न को खाया जावे। सभी साथियो के साथ मैं वहाँ पहुँचा और उछल कर भिक्षापात्र पर चढ गया। सब को खिलाकर और स्वय खाकर तृप्त हो लौट आया। इसी प्रकार प्रतिदिन उस अन्न को मैं खाता था और सन्यासी भी यथाशक्ति उसकी रक्षा करता था। सन्यासी एक फटा बाँस ले आया और सोता हुआ भी वह उसे पीटता रहता था, जिससे मैं बिना खाए हुए भी लौट आता था।

एक दिन उस सन्यासी का एक मित्र बृहत्स्फिक् नाम का एक सन्यासी उसके पास आया। रात को वे दोनो एक साथ लेटे हुए बातें कर रहे थे। बीच-बीच में ताम्रचूड बाँस को पीटता था, जिससे उसका मित्र रुष्ट हुआ। तब उसने बाँस पीटने का रहस्य उसे बताया। उसके मित्र ने कहा कि यह चूहा खजाने के ऊपर बैठा है। इसी से इसमे इतनी ताकत है। प्रात काल इसके बिल का खोदना चाहिए। यह सुनकर मैं चिन्तित हुआ।

तब मैं भयभीत होकर सभी साथियो के साथ अपने बिल के मार्ग को छोड कर दूसरे मार्ग से चलने लगा। सामने से बिलाव आया, वह हम सब पर झपटा, फलत कुछ मर गए, कुछ घायल हुए। तब वे साथी मुझ को कुमार्गगामी देखकर मेरी निन्दा करते हुए देह से खून टपकाते हुए असली बिल मे ही चले गए। मैं अकेला दूसरी ओर चला गया।

इसके बाद वे दोनों संन्यासी खून के चिह्नों के सहारे मेरे बिल पर पहुँचे और उसे खोद कर उन्होंने मेरा सब खजाना ले लिया। उनके चले जाने पर मैं अपने बिल में आया और यह सब देखकर बड़ा दुःखी हुआ। रात को फिर मैं मठ में गया; किन्तु भिक्षापात्र तक उछल नहीं सका। दुःखी होकर और यह देखकर कि मेरा खजाना तकिए में रखा हुआ संन्यासी के सिर के नीचे है, सुबह अपने बिल पर लौट आया। मेरे साथियों ने मुझे दुर्बल समझ मेरा साथ छोड़ दिया। मैं अकेला रह गया। मैंने संन्यासी के तकिए में रक्खी हुई खजाने की पेटी को काट कर पुनः खजाना लाने का निश्चय किया। मैं मठ में पहुँचा। और जैसे ही मैंने पेटी में छेद किया, वैसे ही वह संन्यासी जग गया। उसने फटा बाँस मेरे सिर पर मारा, मैं जैसे-तैसे बच सका, धन नहीं मिला क्योंकि प्राप्तव्य पदार्थ को मनुष्य प्राप्त करता है। अस्तु। इस सब सुख-दुःख का अनुभव कर मैं बड़ा दुःखी हुआ। तब यह मित्र (लघुपतनक) मुझे तुम्हारे (मन्थरक) के पास ले आया है। पूर्व स्थान से मेरी विरक्ति का यही कारण है।

कथा—२ (चतुरब्राह्मणीकथा)

वक्ता—बृहत्स्फिक्; श्रोता—ताम्रचूड।

प्रसंग—जब कथा १ के पात्र ताम्रचूड ने अपने मित्र बृहत्स्फिक् से हिरण्यक चूहे के भिक्षापात्र तक उछलने की चर्चा की तो बृहत्स्फिक् ने कहा कि निश्चय ही इस चूहे का बिल खजाने के ऊपर है, इसी से इसमें इतनी ताकत है, तभी तो कहा गया है—

> नाऽस्माच्छाण्डिली मातर्विक्रीणाति तिलैस्तिलान्।
> लुञ्चितानितरैर्येन हेतुरत्र भविष्यति॥

अर्थात् हे माता, यह शाण्डिली ब्राह्मणी अपने छिले हुए तिलों को बिना छिले हुए तिलों से यों ही नहीं बदल रही है, इसमें अवश्य ही कोई कारण

होगा। यह सुनकर जब ताम्रचूड ने कहा कि यह कैसे ? तब वृहत्स्फिक् कहता है—

कथा—किसी मैं वर्षा काल म किसी स्थान पर एक ब्राह्मण के घर रहता था। एक दिन प्रातःकाल ब्राह्मण ने ब्राह्मणी से कहा कि कल प्रातः दक्षिणायन सक्रान्ति है जो कि अनन्त दान का फल देने वाली है सो वह तो दान लेने के लिए दूसरे गाँव जावेगा उसे (ब्राह्मणी को) किसी एक ब्राह्मण को सूय भगवान् के उद्देश्य से कुछ भोजन दे देना चाहिए। यह सुनकर ब्राह्मणी क्रुद्ध हो बोली कि उस गरीब के घर कहाँ भोजन है, जो कि वह ब्राह्मण को दे देगी। ब्राह्मण ने कहा कि गरीब लोगों को भी थोडे म से ही थोडा दान अवश्य करना चाहिए। तब ब्राह्मणी ने कहा कि अच्छा, उसके पास कुछ तिल हैं उन्हे छील कर उनके चूर्ण से वह किसी ब्राह्मण को भोजन करा देगी। यह सुनकर उसका पति तो दूसरे गाँव चला गया। ब्राह्मणी ने तिलो को गर्म जल से मीड कर, कूट कर धूप मे रख दिया और फिर वह अन्य गृह काय मे लग गई, तभी एक कुत्ते ने आकर उन तिलों मे पेशाब कर दिया, इसे देख कर वह बहुत दुःखी हुई और सोचने लगी कि अब तो ये तिल अभोज्य हो गए, इसलिए वह किसी के घर जाकर इन छिले हुए तिलो के बदले बिना छिले तिलो को ले आवे।

बाद में जिस घर मे मैं (वृहत्स्फिक्) भिक्षा के लिए गया, उसी घर मे वह ब्राह्मणी भी तिलो की बिक्री के लिए गई और वहाँ बोली कि कोई बिना छिले तिलो के बदले छिले हुए तिल ले। उस घर की मालकिन जब ऐसा करने लगी तो उसके पुत्र ने कामन्दकीय नीतिशास्त्र को देख कर कहा—'माता, ये तिल लेने योग्य नही, इसके छिले हुए तिलो को बिना छिले तिलो के बदले नही लेना चाहिए, इसमे अवश्य ही कोई कारण होगा जो कि यह बिना छिले तिलो के बदले छिले हुए तिलो को दे रही है।' यह सुनकर उस घर की मालकिन ने वे तिल छोड दिए। इसलिए मैं कहता हूँ—'नाकस्माच्छाण्डिली मातः।'

कथा ३ (अतितृष्णश्रृगालकथा)

वक्ता-ब्राह्मण श्रोत्री—ब्राह्मणी।

प्रसग—जब कथा २ की पात्र ब्राह्मणी ने अपने पति ब्राह्मण से कहा कि

ग़रीबी के कारण वह किसा ब्राह्मण को भोजन नही दे सकती, तो उसके पति ब्राह्मण ने कहा कि दरिद्र लोगो को भी थोडे मे से ही थोडा दान देना चाहिए, क्योंकि कहा भी गया है—

अतितृष्णा न कर्तव्या तृष्णा नैव परित्यजेत् ।
अतितृष्णाभिभूतस्य शिखा भवति मस्तके ॥

अर्थात् अधिक तृष्णा नही करनी चाहिए और तृष्णा को छोडना भी नही चाहिए अति तृष्णा से अभिभूत के मस्तक मे शिखा हो जाती है ।

ब्राह्मणी ने कहा—'यह कैसे ?' ब्राह्मण कहता है—

कथा.—किसी वन्य प्रदेश मे एक बहेलिया था । वह शिकार के लिए वन को गया । वहाँ उसने एक विशालकाय सूअर देखा । उसे देखकर उसने उसके बाण मारा, उस सूअर ने भी क्रुद्ध होकर अपनी दाढो की नोक से उस बहेलिए का पेट फाड दिया, जिससे वह मर कर गिर पडा । बाद मे सूअर भी बाण की पीड़ा से मर गया । इसके बाद वहाँ एक स्यार आया । वह बडा भूखा था । उसने जब मरे हुए सूअर और बहेलिए को पडा देखा तो प्रसन्न हो सोचने लगा—'मेरे ऊपर विधाता अनुकूल है जो कि यह असमावित भोजन प्राप्त हुआ है, सो मैं इस भोजन को इस प्रकार खाऊँगा कि जिससे बहुत दिनो तक मेरा निर्वाह हो सके ।' ऐसा सोचकर पहले वह धनुष की नोक को मुँह मे डालकर उसमे बँधी ताँत को खाने लगा, जिससे उस ताँत के टूटते ही धनुष की नोक उसके तालु को फोडकर मस्तक के बीच से बाहर निकल आई, फलत. वह उसकी पीडा से उसी क्षण मर गया । इसलिए मैं कहता हूँ—'अतितृष्णा न कर्तव्या ।'

कथा—४ (प्राप्तव्यमयकथा)

वक्ता—हिरण्यक; श्रोता—लघुपतनक एव मन्थरक

प्रसंग—जब मुख्य कथा का पात्र हिरण्यक मूषक लघुपतनक कौआ और मन्थरक कछुवा को अपने धन-नाश का वह वृत्तान्त जो कि कथा १ मे वर्णित है,

सुना रहा था, तब उसने यह कहा था कि जब वह सन्यासी के तकिए मे रक्खे हुए धन को लेने का प्रयत्न कर रहा था, तभी वह सन्यासी जग गया, धन नहीं मिला। क्योंकि कहा भी गया है—

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य,
देवोऽपि त लङ्घयितुं न शक्त।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे,
यदस्मदीय न हि तत्परेषाम्॥

अर्थात् प्राप्तव्य अर्थ को मनुष्य प्राप्त करता है, देव भी उसको अन्यथा करने मे समर्थ नही है। इसलिए मैं न शोक करता हूँ और न मुझे विस्मय है, जो हमारा है वह दूसरों का नहीं हो सकता।

कौआ और कछुवे ने पूँछा—'यह कैसे ?' हिरण्यक कहता है—

कथा—किसी नगर मे सागरदत्त नामक वैश्य रहता था। उसके पुत्र ने सौ रुपये मे एक पुस्तक खरीदी, (जिसमे प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य।) आदि केवल एक श्लोक लिखा था। जब उसके पिता को यह ज्ञात हुआ तो उसने पुत्र को फटकारते हुए कहा कि यदि वह केवल एक श्लोक वाली पुस्तक को सौ रुपए मे खरीदता है तो इस बुद्धि से कैसे धन कमावेगा और इसलिए अब उसके घर मे न आवे। पिता के द्वारा घर से निकाल देने पर वह लडका अन्य किसी दूरस्थित नगर मे चला गया। कुछ दिनो के बाद वहाँ किसी नगरवासी ने उससे पूँछा कि वह कहाँ से आया है और उसका क्या नाम है तो उसने कहा कि 'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य।' अन्य नगर वासियो के ऐसा पूछने पर भी उसने यही उत्तर दिया। फलतः उस नगर मे उसका 'प्राप्तव्यमर्थ' यह नाम प्रसिद्ध हो गया।

इसके बाद एक दिन जब चन्द्रवती नामक राजकन्या नगर का निरीक्षण कर रही थी, तब उसकी दृष्टि एक राजकुमार पर पडी। उस पर आसक्त हो उस राजकन्या ने अपनी सखी को समागम की प्रार्थना के साथ उस राजकुमार के पास भेजा। राजकुमार रात मे राजकन्या के पास पहुँचने को सहमत हो

गया। उसे सखी ने यह भी बता दिया कि रात में महल के ऊपर से लटकने वाली मजबूत पट्टी के सहारे वह वहाँ चढ आवे। सखी लौट गई। रात को राजकुमार इस कृत्य को अनुचित समझ वहाँ नहीं गया। प्राप्तव्यमर्थ ने घूमते हुए महल से लटकती हुई पट्टी को देखा और कौतुकवश उसके सहारे महल पर चढ गया। राजकुमारी ने उसे राजकुमार ही समझ उसका स्वागत किया। और फिर पलग पर बैठाया। प्राप्तव्यमर्थ कुछ बोल नहीं रहा था, तब राजकुमारी ने उससे कहा कि वह उससे प्रेमालाप क्यो नहीं कर रहा है। उसने कहा—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' राजकुमारी ने उसे दूसरा व्यक्ति जानकर महल से नीचे उतार दिया।

प्राप्तव्यमर्थ महल से उतर कर एक फूटे मन्दिर में जाकर सो गया। वहाँ कोतवाल, जिस कि किसी व्यभिचारिणी स्त्री ने वहाँ आन का सकेत दे रक्खा था, पहुँचा। उसने जब प्राप्तव्यमर्थ को वहाँ सोता पाया तो उससे कहा कि यह सूना मन्दिर है, अत वह उसके घर जाकर सो जावे। प्राप्तव्यमर्थ उसके घर गया, किन्तु मतिभ्रम से कोतवाल के पलग पर न जाकर उसकी कन्या के पलग पर चला गया—जहाँ कि वह कन्या किसी पुरुष को सकेत देकर सोई हुई थी। प्राप्तव्यमर्थ के वहाँ पहुँचने पर उस कन्या ने उसे अपना प्रिय पुरुष ही समझा और उसका स्वागत कर, उसके साथ गान्धर्व विवाह कर लिया। फिर उसके साथ पलग पर स्थित हो उससे पूँछा कि वह उससे निःसकोच रूप से प्रेमालाप क्यों नहीं कर रहा है। उसने कहा—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य.।' यह सुनकर उस कन्या ने अपना माथा ठोका और खिन्न हो उसे घर से निकाल दिया।

वहाँ से निकल कर प्राप्तव्यमर्थ जब एक गली से होकर जा रहा था, तो वरकीर्ति नामक दूल्हे की बरात मिली। वह भी साथ में हो लिया। आगे जब सडक के पास सेठ के घर के द्वार पर बने हुए मण्डप में उसकी कन्या दुलहिन के वेश में उपस्थित हुई, तभी एक मतवाला हाथी वहाँ उपद्रव करता हुआ पहुँचा, जिसे देखकर वर और बराती तथा कन्या पक्ष के लोग वहाँ से भाग गए। इस अवसर पर भयभीत दुलहिन को देखकर प्राप्तव्यमर्थ उससे बोला—'डरो मत, मैं तुम्हारा रक्षक हूँ।' इस प्रकार उसे सान्त्वना देकर उसने उस

कन्या को दाहिने हाथ से पकड लिया तथा साहस कर उस हाथी को फटकारा। दैवयोग से हाथी के चले जाने पर वर आदि सब लौट कर वहाँ आए। वरकीर्ति दूल्हे ने अपनी दुलहिन बनने वाली कन्या को दूसरे के हाथ म देख कर अपने ससुर से शिकायत की। ससुर ने कहा कि वह भी हाथी के डर से भाग गया था, अभी आया है, उसे कुछ ज्ञात नही। यह कह कर उसने अपनी कन्या से इसका कारण पूँछा तो उसने कहा कि इस (प्राप्तव्यमथ) ने उसे प्राणसकट से बचाया है, अत वह उसे छोड अन्य किसी को पति नहीं बनावेगी। इस बात पर बडा झगडा हुआ और झगडे म सुबह हो गया। अन्य लोग भी कौतुक वश आकर इकट्ठे हो गये। राजकन्या भी वहाँ आगई और कोतवाल की कन्या भी आगई। जन समुदाय को इकट्ठा हुआ सुनकर राजा भी वहाँ आगया। राजा ने प्राप्तव्यमथ से वृत्तान्त पूँछा तो उसने कहा—'प्राप्तव्यमथ लभते मनुष्य।' तब राजकन्या ने स्मरण कर कहा—'देवोऽपि त लङ्घयितु न शक्त।' तब कोतवाल की कन्या ने कहा—'तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे।' यह सब सुनकर सेठ की कन्या ने कहा—'यदस्मदीय न हि तत्परेषाम्।' राजा ने इन सबको अभयदान देकर सबसे उनका अलग अलग वृत्तान्त पूँछा। उसे जानकर उसने प्राप्तव्यमर्थ के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया और उसे अपना बेटा मान कर युवराज बना दिया। कोतवाल ने भी अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। प्राप्तव्यमथ ने अपने माता पिता तथा परिवारी जन वही बुला लिए और सुखपूर्वक वहीं रहने लगा। इसलिए मैं कहता हूँ—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य।'

कथा—५ (सोमिलककथा)

वक्ता—मन्थरक, श्रोता—हिरण्यक और लघुपतनक।

प्रसग —जब मुख्य कथा के पात्र हिरण्यक ने अपने धन-नाश का वृत्तान्त मन्थरक और लघुपतनक को सुनाया तब धन नाश से दु खी हिरण्यक को सान्त्वना देते हुए म थरक ने कहा कि जो अपना नही है वह क्षण भर को भी

भोगने के लिए नहीं मिलता है। स्वयं आया हुआ भी धन विधाता के द्वारा छीन लिया जाता है। कहा भी है—

> अर्थस्योपार्जनं कृत्वा नैव भोगं समश्नुते।
> अरण्यं महदासाद्य मूढः सोमिलको यथा ॥

अर्थात् धन का उपार्जन करने पर भी उसका भोग नहीं कर पाता, जैसे मूर्ख सोमिलक धन को प्राप्त करके भी महान् वन में पहुँच कर (भोग को न प्राप्त कर सका)।

हिरण्यक ने कहा—'यह कैसे ?' मन्थरक कहता है—

कथाः—किसी स्थान पर सोमिलक नामक जुलाहा रहता था। वह बहुत उत्तम वस्त्र बनाता था, फिर भी भोजन और वस्त्र से अधिक धन उसके पास न हो पाता था, जबकि साधारण वस्त्र बनाने वाले अन्य जुलाहे उससे अधिक धनवान् हो गये थे। उसने इस स्थिति को अपनी पत्नी के समक्ष रख कर किसी अन्य स्थान पर धनोपार्जन के लिए जाने की इच्छा प्रकट की। पत्नी ने मना किया, किन्तु वह नहीं माना और वर्धमानपुर चला गया। वहाँ उसने तीन वर्ष रह कर तीन सौ सुवर्णमुद्राएँ (मोहरें) उपार्जित की। फिर वह घर को चल दिया। रास्ते में रात हो गई। वह एक बरगद के पेड के तने पर सो गया और स्वप्न में उसने दो पुरुषों को इस प्रकार बातें करते हुए सुना। एक कह रहा था—'हे कर्ता, तुम नहीं जानते कि इस सोमिलक को भोजन और वस्त्र से अधिक समृद्धि नहीं होती है, फिर तुमने इसे तीन सौ सुवर्णमुद्राएँ क्यों दे दीं। दूसरे ने कहा—'हे कर्म, मुझे तो उद्योगियों को अवश्य देना है, फिर उसका परिणाम या फल तुम्हारे अधीन है।' बाद में जब जुलाहा उठा तो उसकी गाँठ में सुवर्णमुद्राएँ नहीं थी। वह दुःखी हुआ और फिर वर्धमानपुर को लौट गया।

वहाँ उसने फिर एक ही वर्ष में पाँच सौ सुवर्णमुद्राएँ उपार्जित कीं। वह घर को चला। रास्ते में फिर रात हो गई, किन्तु फिर भी वह धन-नाश के डर से घर की ओर चलता ही रहा। रास्ते में उसने दो पुरुषों को पहले की

दूसरे ने कहा—'यह (खर्च कराना) मेरा काम है, उसका फल तुम्हारे अधीन है।' प्रातःकाल उसने देखा कि राजपुरुष ने आकर राजकृपा से प्राप्त धन का उपभुक्तधन को दिया है। यह देखकर सोमिलक ने कहा कि संचयरहित भी उपभुक्तधन अच्छा, किन्तु कृपण गुप्तधन अच्छा नहीं। सो विधाता मुझे उपभुक्तधन ही बनायें। फलतः वह उपभुक्तधन ही हो गया। इसलिए मैं कहता हूँ—'अर्थस्योपार्जनं कृत्वा।'

कथा—६ (वृषभ-शृगाल-कथा)

वक्ता—सोमिलक; श्रोता—पुरुष (कर्म)।

प्रसंग—जब कथा ५ के पात्र सोमिलक ने पुरुष (कर्म) से विपुल धन का वर माँगा, तब पुरुष ने उनसे कहा कि भोगरहित धन से वह क्या करेगा। इस पर सोमिलक ने कहा कि भले ही धन का भोग न हो, फिर भी उसे वह मिलना चाहिए। धन के लिए वह वर्षों से लालायित है और उसे वह अभी तक नहीं मिला। कहा भी है—

> शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा।
> निरीक्षितौ मया भद्रे दश वर्षाणि पञ्च च॥

अर्थात् ये दोनों लटकते हुए और साथ ही दृढ बँधे हुए हैं, ये न जाने गिरेंगे या नहीं, हे प्रिये, मैंने इनको पन्द्रह वर्ष तक देख लिया।

पुरुष ने कहा—'यह क्या ?' सोमिलक कहता है—

कथा—किसी स्थान पर तीक्ष्णविषाण नामक बड़ा बैल (साँड) रहता था। वह मदमस्त हो वन में विचरण करता था। उसी वन में प्रलोभक नामक एक स्यार रहता था। वह कभी अपनी स्त्री के साथ नदी के किनारे बैठा हुआ था। इसी बीच में वह साँड वहाँ पानी पीने के लिए आया। उसके लटकते हुए अण्डकोशों को देख कर गीदड़ी ने स्यार से कहा कि इस बैल के ये दो मांस-

भाँति ही बातचीत करते हुए सुना और फिर अपनी गाँठ को देखा तो उसमें सुवर्णमुद्राएँ नहीं थी । वह दुःखी होकर अपने को फाँसी लगाने लगा, तभी एक आकाशस्थित पुरुष ने कहा—'हे सोमिलक, यह दुस्साहस मत करो । मैंने तुम्हारा धन छीना है, मैं यह नहीं सहन कर सकता कि तुम्हारे पास भोजन और वस्त्र से अधिक एक कौडी भी रहे । फिर भी तुम मुझसे कुछ वर माँग लो । 'सोमिलक ने विपुल धन का वर माँगा । उस पुरुष ने कहा कि वह भोगरहित धन का क्या करेगा । सोमिलक ने कहा कि भले ही धन का भोग न मिले, फिर भी धन ही सही । उस पुरुष ने कहा कि यदि ऐसा है तो वह फिर लौट कर वर्धमानपुर जावे । वहाँ दो वैश्य-पुत्र रहते हैं, जिनमे से एक गुप्तधन है जो धन को जमा करके रखता है, दूसरा उपभुक्तधन है, जो धन का उपभोग करता है । उन दोनो के स्वरूप को देखकर बाद म वह एक के स्वरूप या स्थिति का वर माँग सकता है । यह कह कर पुरुष अन्तर्हित हो गया ।

सोमिलक वधमानपुर पहुँच कर पहले गुप्तधन के घर गया । वहाँ बडी मुश्किल से उसे भोजन दिया गया । खा पीकर जब वह सो रहा था तब स्वप्न म उसने दो पुरुषो को बाते करते हुए सुना । एक ने कहा—'हे कर्ता, क्या तुमने गुप्तधन के लिये अधिक व्यय का प्राविधान कर दिया है जो कि इसने सोमिलक को भोजन दिया है ।' दूसरे ने कहा—हे कर्म, मुझे तो पुरुष को उसकी आय मे से खर्च का अधिकार देना है, यह देखना तुम्हारे अधीन है कि पुरुष नियत खर्चे से अधिक न कर सके ।' सोमिलक जब उठा तो उसने देखा कि गुप्तधन को हैजा हो गया है, जिससे उसने उस दिन भोजन नहीं किया (खर्चा बराबर हो गया) ।

फिर सोमिलक उपभुक्तधन के घर गया । वहाँ उसका बडा सत्कार हुआ । जब खा पीकर वह सो गया तो स्वप्न मे उसने दो पुरुषो को बातें करते हुए सुना । एक कह रहा था—'हे कर्ता, इस उपभुक्तधन ने सोमिलक का उपकार करते हुए बहुत व्यय किया है सो इसका प्रबंध कैसे होगा ।'

दूसरे ने कहा—'यह (खर्च कराना) मेरा काम है, उसका फल तुम्हारे अधीन है।' प्रातःकाल उसने देखा कि राजपुरुष ने आकर राजकृपा से प्राप्त धन को उपभुक्तधन को दिया है। यह देखकर सोमिलक ने कहा कि सञ्चयरहित भी उपभुक्तधन अच्छा, किन्तु कृपण गुप्तधन अच्छा नहीं। सो विधाता मुझे उपभुक्तधन ही बनावे। फलतः वह उपभुक्तधन ही हो गया। इसलिए मैं कहता हूँ—'अर्थस्योपार्जनं कृत्वा।'

कथा—६ (वृषभ-शृगाल-कथा)

वक्ता—सोमिलक; श्रोता—पुरुष (कर्म)।

प्रसंग—जब कथा ५ के पात्र सोमिलक ने पुरुष (कर्म) से विपुल धन का वर माँगा, तब पुरुष ने उससे कहा कि भोगरहित धन से वह क्या करेगा। इस पर सोमिलक ने कहा कि भले ही धन का भोग न हो, फिर भी उसे वह मिलना चाहिए। धन के लिए वह वर्षों से लालायित है और उसे वह अभी तक नहीं मिला। कहा भी है—

> शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा।
> निरीक्षितौ मया भद्रे दश वर्षाणि पञ्च च॥

अर्थात् ये दोनों लटकते हुए और साथ ही दृढ़ बँधे हुए हैं, ये न जाने गिरेंगे या नहीं, हे प्रिये, मैंने इनको पन्द्रह वर्ष तक देख लिया।

पुरुष ने कहा—'यह क्या?' सोमिलक कहता है—

कथा—किसी स्थान पर तीक्ष्णविषाण नामक बड़ा बैल (साँड) रहता था। वह मदमत्त हो वन में विचरण करता था। उसी वन में प्रलोभक नामक एक स्यार रहता था। वह कभी अपनी स्त्री के साथ नदी के किनारे बैठा हुआ था। इसी बीच में वह साँड वहाँ पानी पीने के लिए आया। उसके लटकते हुए अण्डकोशों को देख कर गीदड़ी ने स्यार से कहा कि इस बैल के ये दो मांस-

पिण्ड लटक रहे हैं, ये शीघ्र ही गिरेंगे सो इसका पीछा किया जावे। स्यार ने मना किया, गीदडी नही मानी। तब दोनो ने उस बैल का पीछा किया और पन्द्रह वर्ष तक पीछा करते रहे किन्तु वे मासपिण्ड नहीं गिरे। तब खिन्न होकर स्यार ने अपनी स्त्री से कहा—'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इत्यादि। इसके बाद भी ये नही गिरेंगे, अतः अपने स्थान को लौट चलें। इसलिए मैं कहता हूँ—'शिथिलौ च सुबद्धौ च'।

मित्रसंप्राप्तिकथानां संस्कृते सारः

पंचतन्त्रकथामुखम्

दक्षिणप्रदेशे महिलारोप्य नाम नगरमस्ति । तत्र अमरशक्तिः नाम राजा बभूव । तस्य बहुशक्तिः उग्रशक्तिः अनन्तशक्तिश्चेति नामानः त्रयः पुत्राः आसन् । ते च महामूर्खाः आसन् । अतः राजा स्वमन्त्रिणः समाहूय तान् प्रावोच—'इद तु भवद्भिः ज्ञातमेव यद् मम पुत्राः शास्त्रविमुखा विवेकहीनाश्च, अत. कोऽपि उपायः क्रियताम् येन एतेषा बुद्धिप्रकाशः स्यात् ।' तेषामेकः प्रोवाच यद् विभिन्न-शास्त्राणा ज्ञानम् अनेकवर्षैः सपद्यते, ततः प्रतिबोधन भवति । अथ सुमतिः नाम मन्त्री प्रोवाच यद् जीवनम् क्षणभगुरम्, शास्त्राणा ज्ञानञ्च बहुवर्षसाध्यम्, अत. कोऽपि सक्षिप्तः उपायः विचार्यताम्, पुनः स उवाच यदत्र विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मणः अतीव विद्वान् अस्ति, तस्मै इमे बालकाः समर्पणीयाः, सः शीघ्रमेव एतान् प्रबुद्धान् करिष्यति । राजा इदं श्रुत्वा विष्णुशर्माणम् समाहूतवान् तमुवाच च यत्तदनुग्रहार्थं तस्य पुत्राः राजनीतौ निष्णाताः विधेयाः, एतदर्थं स तम् शासनशतेन योजयिष्यति । विष्णुशर्मा राजानमब्रवीत् यत् सः विद्याविक्रय न करोति, अशीतिवयस्य विषयोपरतस्य तस्य न धनेन किंचित् प्रयोजनम् । किन्तु पुनरपि सः कथयति यत् सः षण्मासाभ्यन्तरे एतान् बालकान् राजनीतिनिष्णतान् विधास्यति, नो चेत् तस्य सुगतिः न स्यात् ।

राजा विष्णुशर्मणः असभाव्या प्रतिज्ञा श्रुत्वा प्रसन्नो जातः पुत्राश्च तस्मै समर्प्य निर्वृतो बभूव । विष्णुशर्मणा तानादाय तेषा कृते मित्रभेद-मित्रसप्राप्ति-काकोलूकीय-लब्धप्रणाश-अपरीक्षितकारकाणीनि पञ्च तन्त्राणि रचयित्वा ते

पाठिता. । फलत: ते षण्मासाभ्यन्तरे नीतिशास्त्रज्ञा: जाता: । तत: प्रभृति इदं पञ्चतन्त्रकम् नाम नीतिशास्त्रम् भूतले प्रचलितम् जातम् ।

मित्रसंप्राप्ते: मुख्यकथा

वक्ता—विष्णुशर्मा, श्रोतार:—राजपुत्रा: ।

प्रसग:—(सम्भवत: विष्णुशर्मा राजपुत्रानुवाच यत्) अथेदमारभ्यते मित्रसंप्राप्तिर्नाम द्वितीय तन्त्रम् । यस्यायः प्रथमः श्लोकः—

असाधना अपि प्राज्ञा: बुद्धिमन्तो बहुश्रुता: ।
साधयन्त्याशु कार्याणि काकाखुमृगकूर्मवत् ॥

तद्यथानुश्रूयते—

कथा:—दक्षिणप्रदेशे महिलारोप्य नाम नगरमस्ति । तस्य नातिदूरे विशालो वटवृक्षोऽस्ति । तत्र असख्या: पक्षिण: न्यवसन् । तेषु एक लघुपतनको नाम काकोऽपि आसीत् । स एकदा यावद् जीविकार्थम् निश्चक्राम तावत् समक्षे एक लुब्धकम् आयान्तम् दृष्टवान् । तम् दृष्ट्वा स शीघ्रमेव वटवृक्षम् प्रति निवृत्य तत्रस्थान् पक्षिण: प्रोवाच यदय दुष्टो लुब्धक: पाशतण्डुलपाणि: समायाति, स जालम् प्रसार्य तण्डुलान् प्रक्षेप्स्यति तदेते तण्डुला. न ग्राह्या. । अत्रान्तरे स लुब्धक: तत्र समायात:, स जाल प्रसार्य तत्र तण्डुलान् प्रक्षिप्य नातिदूरे स्थितो ऽभवत् । वटस्था: पक्षिण: तान् तण्डुलान् न गृहीतवन्त: । इदानीमेव कश्चित् चित्रग्रीवो नाम कपोतराज: सपरिवार: तत्र समागत , लघुपतनकेन च निवार्यमाण: अपि तण्डुलेषु अपतत्, सपरिवार: निबद्धश्च ।

चित्रग्रीव: स्वं सपरिवारम् बद्धम् दृष्ट्वा कपोतानुवाच यत् तैर्न भेतव्यम् अपि तु सर्वै: हेलया उड्डयनम् कार्यम्, अन्यथा मरण निश्चितम् । कपोतेषु एवमेव कृतवत्सु, लुब्धक किंचिद् दूरम् तत्पृष्ठत: भूतलेऽधावत् अन्ते च निराशीभूय गृहम् प्रति निवृत्त: । लघुपतनक: कौतुकात् कपोतान् अनुजगाम ।

चित्रग्रीव: कपोतान् एकम् स्वम् मित्रम् हिरण्यकम् नाम मूषकम् प्रति नीत·

वान् । तत्र स हिरण्यकम् आहूतवान् । हिरण्यक बिलात् निर्गत्य तान् स्वागतेन अभिनन्दितवान्, तेषाम् जालञ्च विच्छिद्य तान् ससत्कारम् विसर्जयामास ।

लघुपतनक वृत्तमिद दृष्ट्वा हृष्ट सन् हिरण्यकेन सह मैत्रीम् कर्तुम् अभि लषितवान् । अन स हिरण्यकसमक्षे स्वकीय मैत्रीप्रस्तावम् उपस्थापितवान् । हिरण्यकेन पूवम् तु अनिच्छा प्रकटिता, किन्तु काकस्य दृढाग्रहेण स त स्व मित्र कर्तुम् सहमतो बभूव । मित्रयुगलम् सानन्दम् दिनानि व्यतीयाय ।

पुनरेकस्मिन् दिने लघुपतनक' रदन् हिरण्यकम् प्रोवाच यत् सः अन्यत्र गमिष्यति, यतो हि तत्र घोरम् दुर्भिक्षम् वर्तते, अत' स स्वमित्रस्य मन्थरकस्य समीप गमिष्यति । हिरण्यक' श्रुत्वेदम् प्रोवाच यत् तस्यापि तस्मात् स्थानाद् विरक्ति जाता, यस्या कारणम् स पश्चाद् वक्ष्यति । फलत. सोऽपि लघुपतनकेन सहैव मन्थरकसमीपम् गत । मित्रत्रयम् तत्र सानन्दम् न्यवसत् ।

एकस्मिन दिने त त्रय अपि सानन्दम् सुभाषितगोष्ठीसुखम् अनुभवन्त आसन् । तदैव चित्राङ्गो नाम मृग व्याधभीत तत्र सरसि प्रविष्ट । तम् दृष्ट्वा ते त्रयोऽपि इतस्तत' बभूवु । अथ यदा तै ज्ञातम् यदागन्तुक नान्य अपि तु एक मृगः अस्ति यश्च व्याधभीत सन् तत्र स्वरक्षार्थम् समागतोऽस्ति, व्याधाश्च निवृत्ता, तदा ते बहिर्निर्गता, मृगम् च सान्त्वयित्वा स्वमित्रम् कृतवन्त । चत्वारोऽपि ते सुखेन कालम् व्यतीयु ।

एकदा गोष्ठीसमय चित्राङ्गो नायात । लघुपतनक तम् द्रष्टुम् गत, नाति दूरे च स मृगम् बद्धम् दृष्टवान् । स निवृत्य हिरण्यकमन्थरकौ विज्ञापितवान्, हिरण्यकम् चसह नीत्वा मृगसमीप गतः । किंचित्कालानन्तरम् मन्थरकोऽपि तत्रैव अगमत् । अत्रान्तरे व्याध' मृगम् ग्रहीतुम् समागत । तदैव हिरण्यकन पाश- च्छिन्न । मृग पलायित । काकः उत्पपात । मूषक' तृणपुञ्जम् प्रविष्ट । किन्तु मन्थरक तत्रैव मन्दम् मन्दम् प्रसर्पन् अवशिष्ट । व्याधः मृगपलायनेन दु खित सन् मन्थरकम् दृष्ट्वा तमेव कुशमयपाशेन बद्ध्वा नीतवान् ।

अन्ये त्रय समेत्य मन्थरकमोक्षार्थम् मन्त्रणाम् चक्रु । तदनुसारेण मृग व्याधमार्गे सरस्तीरे मृतवत् पतित । काकेन तदुपरि मन्दः चञ्चुप्रहारः

कृत । व्याध मृगम् मृतम् मत्वा कच्छपम् भूतले निक्षिप्य मृगमुपाद्रवत् । अत्रान्तरे हिरण्यकेन मन्थरकस्य कुशमयपाश छिन्न । स मुक्त सन् सरसि प्रविष्ट । मूषकोऽपि तिरोहितो बभूव । मृग. अप्राप्तस्यैव व्याधस्य काकेन सह पलायित. । व्याध दु खितः सन् निवृत्त कच्छपमपि गतम् दृष्टवान् फलत स नितराम् दु खित सन् बहुविधम् विलप्य गृहम् प्रातिनवृत्त । तस्मिन् दूरम् गते सति, चत्वारोऽपि ते सखाय समेत्य परस्परम् आलिंगनम् चक्रु । ते स्वान् पुनर्जातानिव मन्यमाना सानन्दा सन्त तदेव सर प्रति गतवन्त । तत्र मैत्री-सुखम् अनुभवन्त सुखेन कालक्षपम् कतु म् आरब्धवन्त ।

अत विवेकिना पुरुषण सततम् मित्राणाम् सग्रह् काय, तैश्च सह कपट-व्यवहार न कर्तव्य ।

मित्रसप्राप्तौ अस्या मुख्यकथाया प्रसगेन षडन्या कथा वर्णिता सन्ति, ताश्च यथा—

कथा १ (ताम्रचूडहिरण्यककथा)

वक्ता—हिरण्यक, श्रोतारौ—मन्थरकलघुपतनकौ ।

प्रसङ्ग —हिरण्यकः पूर्वस्थानात् स्वविरक्ते कारणम् कथयति—

कथा—दक्षिणप्रदेशे महिलारोप्यम् नाम नगरम् अस्ति । तत्र एकस्मिन् श्रीमहादेव मन्दिरे ताम्रचूड नाम सन्यासी निवसति । स भुक्तशेषम् भिक्षान्नम् भिक्षापात्रे निधाय तत् च पात्रम् नागदन्ते अवलम्ब्य रात्रौ अस्वपत् । प्रातश्च तेनैव अन्नेन मन्दिरे मार्जनादिकम् अकारयत् । अहं प्रत्यहम् रात्रौ सपरिवारः तत्र गत्वा भिक्षापात्रमारुह्य तदन्नम् अनुयायिन. भोजयित्वा स्वयम् च अखादत् । सन्यासिना तद्रक्षार्थं विपुल प्रयास कृत । तेन जर्जरवश समानीत, तेन स सुप्तोऽपि भिक्षापात्रम् अताडयत्, येनाहम् अभक्षितेऽपि अन्ने निवृत्त अभवत् ।

एकस्मिन् दिने तस्य सन्यासिन सखा बृहत्स्फिग् नाम अन्य सन्यासी समागत । यदा रात्रौ तौ परस्परम् वार्तालापपरौ आस्ताम् तदा ताम्रचूडो

पुन पुन वशताडनपराऽभवत्, येन तस्य सखा रुष्टोऽभवत् । ताम्रचूडेन वशताडनहेतु प्रकटित । तस्य मित्रेण कथितम् यद् नूनमस्य मूषकस्य बिलम् निधानोपरि वर्तते, यस्य ऊष्मणा अयम् उच्चै प्रकूर्दते, तत् प्रातः अस्य बिलम् खननीयम् । इद श्रुत्वा अहम् चिन्तितोऽभवम् ।

प्रात तौ संन्यासिनौ मम बिलम् खनित्वा निधानम् नीतवन्तौ । अहम् दु खित सन् शक्तिहीन जात , येन तद् भिक्षापात्रम् प्राप्तुम् असमर्थं अभवम् । फलत ममानुयायिभि मम सङ्ग परित्यक्तः । अहमेकाकी मन्दिरे गत्वा तन्निधानम् पुनर्ग्रहीतुम् प्रयत्नम् कृतवान् किन्तु विफल अभवम । यतो हि 'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य ।' अस्तु । तत दु खित सन् अनेन मित्रेण लघुपतनकेन सह अत्र समागत ।

कथा २ (चतुरब्राह्मणीकथा)

वक्ता बृहत्स्फिग्, श्रोता—ताम्रचूड ।

प्रसग—यदा ताम्रचूडेन वशताडनहेतु प्रकटित । तदा तस्य मित्रेण कथितम् यद् नूनमस्य मूषकस्य बिलम् निधानस्योपरि वर्तते, यस्य ऊष्मणा अयम् उच्चै प्रकूर्दते । अतएव उक्तम्—

नाकस्माच्छाण्डिली मातर्विक्रीणाति तिलैस्तिलान् ।
लुञ्चितानितरैर्येन हेतुरत्र भविष्यति ।

कथा—एकदा अहम् वर्षाकाले कस्यचिद् ब्राह्मणस्य गृहे न्यवसम् । एकस्मिन् दिने प्रात ब्राह्मण ब्राह्मणीमाह यत्प्रभाते दक्षिणायनसक्रान्ति अनन्तफलदायिनी । स तु ग्रामान्तरम् गमिष्यति तया कस्मैचिद् ब्राह्मणाय भगवत सूर्यस्य उद्देशेन किंचिद् भोजनम् देयम् । ब्राह्मणी रुष्टा सती अकथयद् यद् दरिद्रस्य तस्य गृहे कुत भोजनप्राप्ति । ब्राह्मणेन कथितम् यद् दरिद्रै अपि स्वल्पात् स्वल्पतरम् देयम् । तदा ब्राह्मण्या कथितम् यद् अस्तु तद्गृहे अस्ति कश्चन तिलराशि , तिलचूर्णेन सा भोजयिष्यति ब्राह्मणम् '। ब्राह्मणस्तु बहिर्गत '। ब्राह्मणी तिलान् उष्णोदकेन समर्द्य आतपे स्थापितवती । तदैव कुक्कुर तत्र मूत्रोत्सर्गम् चकार ।

सा तान् तिलान् अभोज्यान् मत्वा, तै लुञ्चितै कस्माच्चिद् गृहाद् अलुञ्चितान् आनेतुम् विचारितवती। तदर्थम् सा पार्श्वगृहे गता। संयोगवशाद् अहमपि तत्रैव भिक्षार्थम् अगमम्। यदा तद्गृहस्वामिनी अलुञ्चितै तिलै तान् लुञ्चितान् ग्रहीतुम् आरब्धवती, तदैव तस्या पुत्र ताम् अकथयद् यद् अग्राह्या ते तिला। अत्र अवश्यमेव केनचिद् कारणेन भाव्यम्, येन एषा अलुञ्चितै लुञ्चितान् ददाति। इद श्रुत्वा तया ते तिला न गृहीता।

अतोऽहम् ब्रवीमि— नाकस्माच्छाण्डिली मात' इति।

कथा ३ (अतितृष्णशृगालकथा)

वक्ता—ब्राह्मण, श्रोत्री—ब्राह्मणी।

प्रसग —यदा पूर्वोक्तद्वितीयकथापात्रभूतया ब्राह्मण्या स्वपति ब्राह्मण कथित यत् सा दारिद्र्यवशात् कस्मैचिद् ब्राह्मणाय भोजनम् दातुम् न समर्था, तदा तस्या पति ब्राह्मण कथितवान् यद् दरिद्रै अपि स्वल्पात् स्वल्पतरम् देयम्। उक्त च यत —

अतितृष्णा न कर्तव्या तृष्णां नैव परित्यजेत्।
अतितृष्णाभिभूतस्य शिखा भवति मस्तके॥

ब्राह्मणी पृच्छति— कथमेतत्?' ब्राह्मण कथयति—

कथा—कस्मिंश्चिद् वन्ये प्रदेशे एक लुब्धक आसीत्। स पशुवधार्थम् वनम् गतवान्। तत्र स एकम् विशालकायम् शूकरम् दृष्टवान्। दृष्ट्वा च तम् स तीक्ष्णेन बाणेन आहतवान्। तेन शूकरेण अपि क्रुद्धेन सता स्वदंष्ट्राग्रेण तस्य लुब्धकस्य उदरम् विदारितम् यन स पञ्चत्वम् गत। तत शूकरोऽपि बाण-वेदनया गतासु अभवत्। पुन तत्र एक शृगाल आगत। स मृतौ तौ द्वौ दृष्ट्वा प्रसन्नोऽभवद्, अचिन्तयच्च— विधाताऽस्ति अनुकूल मयि, यद् इदम् असमाचितम् भोजनम् प्राप्तम्, अतोऽहम् भोजनमिदम् तथा भक्षयिष्यामि, येनेदम् बहुम्य दिनस्य स्यात्।' एव विचार्य स प्रथमम् धनुष्कोटिम् मुखे

प्रविश्य तत्र सञ्चितम् स्नायुपाशम् खादितुम् आरब्धवान्, येन तस्मिन् स्नायुपाशे खण्डिते सत्येव धनुष्कोटिः तस्य तालुप्रदेशम् विदार्य मस्तकमध्येन निष्कान्ता, फलतः स तत्क्षणात् मृतः। अतोऽहम् ब्रवीमि—'अतितृष्णा न कर्तव्या' इति।

कथा ४ (प्राप्तव्यमर्थकथा)

वक्ता—हिरण्यकः; श्रोतारौ—मन्थरकलघुपतनकौ।

प्रसंग—यदा हिरण्यकः मन्थरकलघुपतनकाभ्याम् स्वधननाशवृत्तान्तम् श्रावयन् आसीत्, तदा तत्प्रसङ्गेन तेन इदम् कथितम् यद् स सन्यासिभ्याम् अपहृतम् स्वम् धनम् पुनः प्राप्तुम् प्रयासम् कृतवान्, किन्तु विफलोऽभवत्। उक्तं च यत—

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः,
देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे,
यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्॥

काकक्रूर्मौ पृच्छतः—'कथमेतत्?' हिरण्यकः कथयति—

कथा—कस्मिश्चिद् नगरे सागरदत्तः नाम वणिक् न्यवसत्। तस्य पुत्रेण रूप्यकशतेन एकम् पुस्तकम् क्रीतम्, यस्मिन् 'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' इत्यादिकः पूर्वोक्तः एकः एव श्लोकः लिखितः आसीत्। इदम् वृत्तम् ज्ञात्वा तस्य पिता तम् कथितवान् यद् यदि स लिखितैकश्लोकम् पुस्तकम् रूप्यकशतेन क्रीणाति चेदनया बुद्ध्या स कथम् धनोपार्जनम् करिष्यति। तत् तेन तस्य गृहे न प्रवेशः कार्यः। पित्रा गृहाद् निःसारितः स किंचिद् अन्यद् दूरस्थितम् नगरम् गतवान्। तत्र केनापि स पृष्टः यत् तस्य किम् नाम, कुतश्च स समागतः? तेन कथितम्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' इति। अन्येन पृष्टः सन् अपि स तदेव उत्तरम् दत्तवान्। येन तस्य 'प्राप्तव्यमर्थ' इति नाम तस्मिन् न प्रसिद्धम् अभवत्।

दृष्ट्वा स्वम् श्वशुरम् वारणम् पृष्टवान् । तेन अनभिज्ञताम् प्रकटीकृत्य स्वकन्या पृष्टा । साब्रवीत्—'यदहम् अनेन सङ्कटाद् रक्षिता, तदेनम् मुक्त्वा नान्यः मम पतिः भविष्यति ।' अत तत्र विवादो जात. । तस्मिन् विवादे प्रचलिते सत्येव प्रभातोऽभवत् । कर्णपरम्परया तम् वृत्तान्तम् श्रुत्वा बहवः जनाः तत्र समेताः अभवन् । राजकन्या अपि समागता, दण्डपाशककन्यापि । राजापि तत्र समागतः । राजा प्राप्तव्यमर्थम् वृत्तान्तम् पृष्टवान्, तेन कथितम्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य.' । ततः राजकन्या स्मृत्वा प्राह—'देवोऽपि त लङ्घयितुं न शक्तः ।' दण्डपाशकन्या अब्रवीत्—'तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे ।' इदम् सर्वम् श्रुत्वा वणिककन्याऽकथयत्—'यदस्मदीय नहि तत्परेषाम् ।' राजा सर्वेभ्योऽभयदान दत्त्वा सर्वान् स्वस्ववृत्तान्तम् पृथक्-पृथक् वर्णयितुम् आदिदेश । ज्ञात्वा च तम् तेन स्वकन्या प्राप्तव्यमर्थाय दत्ता । यौवराज्ये च सः अभिषेचित. । दण्डपाशकेनापि स्वकन्या तस्मै समर्पिता । प्राप्तव्यमर्थः स्वकीयमातापितरौ अन्यांश्च कुटुम्बिनः तस्मिन्नेव नगरे समानीतवान्, तैश्च सह तत्रैव सुखेन अवस्थित । अतोऽहं ब्रवीमि—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' इति ।

कथा ५ (सोमिलककथा)

वक्ता—मन्थरक ; श्रोतारौ—हिरण्यकलघुपतनकौ ।

प्रसङ्ग—यदा हिरण्यकेन स्वधननाशवृत्तान्त मन्थरकलघुपतनकाभ्याम् श्राविता, तदा धननाशदुःखितम् हिरण्यकम् सान्त्वयन् मन्थरकः अकथयत् 'मुहूर्तमपि भोक्तुम् न लभ्यते, स्वयमागतमपि विधिना अपह्रियते ।

अथ एकस्मिन् दिने चन्द्रवती नाम राजकन्या नगरम् निरीक्षमाणा आसीत् । तदा तस्याः दृष्टिः एकस्मिन् सुन्दरे राजकुमारे न्यपतत् । तत्क्षणादेव सा तस्मिन् आसक्ता अभवत् । सा स्वसखीम् समागमप्रार्थनया सह राजकुमारम् प्रति प्रेषितवती । राजकुमारः रात्रौ समागमनाय सहमतो जातः । सख्या इदमपि कथितम् यत् स सौधावलम्बिनीम् दृढवरत्राम् गृहीत्वा तत्र आरोहतु । रात्रौ राजकुमारः कृत्यम् इदम् अनुचितम् मन्यमानः तत्र न गतः । प्राप्तव्यमर्थेन तत्र भ्रमता सता सौधावलम्बिताम् वरत्रा दृष्टा । कौतुकवशात् स तया सौधमारूढवान् । राजकुमारी तम् राजकुमारम् मन्यमाना स्वागतेन अभिनन्दितवती । पर्यङ्के तया सह स्थितः स तूष्णीमासीत् । अथ राजकुमारी दृष्टवती यत् कथम् न स तया सह प्रेमालापम् करोति । तेन कथितम्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः ।' राजकुमारी तम् अन्यम् जनम् ज्ञात्वा सौधात् नीचैः अवतारितवती ।

अथ स एकस्मिन् शून्ये भग्ने च मन्दिरे सुप्तः । तत्र कदाचिद् व्यभिचारिण्या दत्तसंकेतकः दण्डपाशकः तत्र समागतः । तेन स पृष्टः यत् कोऽस्ति सः । कथितवान्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः ।' तेन कथितम् यत् शून्यम् इदम् मन्दिरम्, तत् स तदीये स्थाने गत्वा स्वपितु । स तत्र गत्वा मतिभ्रमात् तस्य कन्यायाः पर्यङ्कमारूढवान् यत्र सा कन्या कञ्चन पुरुषम् संकेतम् दत्त्वा तम् प्रतीक्षमाणा सुप्ता आसीत् । सा तम् स्वप्रियम् मत्वा स्वागतेन अभिनन्दितवती । गान्धर्वविवाहेन च तेन सह परिणीतवती । किन्तु यदा तया ज्ञातम् यत् स कोऽपि अन्यः जनः, सा स्वभाग्यम् चुक्रोश, खिन्ना च सती तम् निःसारितवती ।

ततः निःसृत्य प्राप्तव्यमर्थः यदा वीथीमार्गेण गच्छन् आसीत् तदैव तत्र एका वरयात्रा गच्छन्ती आसीत् सोऽपि तया सह अभवत् । पुनः यदा राजमार्गसमीपस्थितश्रेष्ठिगृहद्वारे रचिते मण्डपे वधूवेशे वणिक्सुता प्रविष्टा, तदैव एकः मदमत्तः हस्ती उपद्रवम् कर्तुम् आरब्धवान् । येन उभयपक्षीयाः सर्वेऽपि जनाः पलायिताः । प्राप्तव्यमर्थः एकाकिनीम् भीताम् वणिक्कन्याम् दक्षिणेन पाणिना सगृह्य सान्त्वयामास । हस्तिनम् च स भर्त्सयामास । दैवयोगाद् गजे अपयाते सर्वे जनाः पुनः समेताः अभवन् । वरकीर्तिः नाम वरः कन्याम् अन्यहस्ते

दृष्ट्वा स्वम् श्वशुरम् कारणम् पृष्टवान् । तेन अनभिज्ञताम् प्रकटीकृत्य स्वकन्या पृष्टा । साब्रवीत्—'यदहम् अनेन सकटाद् रक्षिता, तदेतम् मुक्त्वा नान्यः मम पतिः भविष्यति ।' अत तत्र विवादो जात. । तस्मिन् विवादे प्रचलिते सत्येव प्रभातोऽभवत् । कर्णपरम्परया तम् वृत्तान्तम् श्रुत्वा बहव. जना. तत्र समेताः अभवन् । राजकन्या अपि समागता, दण्डपाशककन्यापि । राजापि तत्र समागतः । राजा प्राप्तव्यमर्थम् वृत्तान्तम् पृष्टवान्, तेन कथितम्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य' । ततः राजकन्या स्मृत्वा प्राह—'देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः ।' दण्डपाशककन्या अब्रवीत्—'तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे ।' इदम् सर्वम् श्रुत्वा वणिककन्याऽकथयत्—'यदस्मदीय नहि तत्परेषाम् ।' राजा सर्वेभ्योऽभयदान दत्त्वा सर्वान् स्वस्ववृत्तान्तम् पृथक्-पृथक् वर्णयितुम् आदिदेश । ज्ञात्वा च तम् तेन स्वकन्या प्राप्तव्यमर्थाय दत्ता । यौवराज्ये च सः अभिषेचित. । दण्डपाशकेनापि स्वकन्या तस्मै समर्पिता । प्राप्तव्यमर्थः स्वकीयमातापितरौ अन्याश्च कुटुम्बिनः तस्मिन्नेव नगरे समानीतवान्, तैश्च सह तत्रैव सुखेन अवस्थित । अतोऽह ब्रवीमि—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' इति ।

कथा ५ (सोमिलककथा)

वक्ता—मन्थरक ; श्रोतारौ—हिरण्यकलघुपतनकौ ।

प्रसङ्ग—यदा हिरण्यकेन स्वधननाशवृत्तान्त मन्थरकलघुपतनकाभ्याम् श्रावितः, तदा धननाशदुःखितम् हिरण्यकम् सान्त्वयन् मन्थरकः अकथयत् यदनात्मीयम् मुहूर्तमपि भोक्तुम् न लभ्यते, स्वयमागतमपि विधिना अपह्रियते । उक्तं च—

अर्थस्योपार्जनं कृत्वा नैव भोगं समश्नुते ।
अरण्यं महदासाद्य मूढ. सोमिलको यथा ॥

कथा—कस्मिंश्चिद् अधिष्ठाने सोमिलक. नाम कौलिकः न्यवसत् । स उत्तमानि वस्त्राणि निर्माय अपि निर्धनप्राय एव आसीत्, यदा च साधारणवस्त्रनिर्मातारः अपि अन्ये कौलिकाः धनसम्पन्नाः आसन् । अतः स स्वपत्नीमुवाच यत्

स कुर्वाचिदन्यत्र धनोपार्जनाय गमिष्यति गतश्च स वर्धमानपुरम् । तत्र वर्षत्रयेण स सुवर्णशतत्रयम् उपार्जितवान् । पुनश्च स स्वगृहम् प्रति निवृत्त । अर्धमार्गे रात्रि समागता । स एवस्य वटवृक्षस्य स्कन्धे सुप्त स्वप्ने च तेन द्वौ पुरुषौ वार्तालापम् कुर्वन्तौ श्रुतौ । एक कथयति— हे कर्त , किम् त्वम् न जानासि यदस्य सोमिलकस्य भोजनाच्छादनाधिका सम्पद्यता नास्ति पुन त्वया अस्मै सुवर्णशतत्रयम् कथम् दत्तम् ।' अपर आह— हे कर्मन् मया व्यवसायिनाम् अवश्यमेव देयम् । तत्परिणामस्तु त्वदायत्त' । यदा प्रबुद्ध स कौलिक स्वसुवर्णग्रन्थिम् स्पृशन् दृष्टवान् तदा स ताम् रिक्ताम् प्राप । स दु खित सन् पुन वर्धमानपुरम् गत ।

तत्र तेन एकेन एव वर्षेण स्वर्णशतपञ्चकम उपार्जितम् । स गृहम् प्रति प्रस्थित । अर्धमार्गे पुन रात्रि जाता, स स्वर्णापहारभयाद् अविश्रान्त एव गृहमेव गन्तुम प्रवृत्त । मार्गे तेन द्वौ पुरुषौ पूर्ववद् वार्तालापम कुर्वन्तौ श्रुतौ । पुन तेन स्वर्णग्रन्थि दृष्टा, ताम च रिक्ताम् प्राप्य स अतीव दु खित सन् आत्महत्याम कर्तुम् प्रवृत्त । तदा एक आकाशस्थित पुरुष तम उवाच— हे सोमिलक दु साहसम मा कार्षी । अहम् ते वित्तापहारक । तव भोजन वस्त्राधिका सम्पद्यता नास्ति, किन्तु यत त्वया मम दर्शनम कृतम, अत कचन वरम ब्रूहि । सोमिलक अवदयत्— 'यदि एवम् तद् देहि मे विपुलम धनम् ।' पुरुष अकथयत्— भोगरहितेन धनेन त्वम किम् करिष्यसि ।' सोमिलक कथयामास— भोगरहितमेव धनम तस्य स्यात् । पुरुष आह— 'यदि एवम् तद् गच्छ पुनरपि वर्धमानपुरम् । तत्र द्वौ वणिक्पुत्रौ स्त । एक गुप्तधन अपरश्च उपभुक्तधन । तयो स्वरूपम ज्ञात्वा एकस्य वर प्रार्थयिष्य ।

सोमिलक पूर्वम गुप्तधनगृहम गत । तत्र यथाकथचिद् भोजनम् लब्ध्वा सुप्त । स्वप्ने च स द्वौ पुरुषौ जल्पन्तौ अशृणोत् । एक कथयति— हे कर्त किम त्वया अस्य गुप्तधनस्य अधिक व्यय संपादित येन स सोमिलकाय भोजनम दत्तवान् । अपर आह— हे कर्मन्, मया पुरुषस्य लाभप्राप्ति (आयाद व्ययाधिकार) देया, तत्परिणामस्तु त्वदायत्त । प्रात सोमिलक पश्यति यत् गुप्तधन विषूचिकया पीड्यमान तद्दिने भोजनम न कृतवान् ।

पुन सोमिलक उपभुक्तधनगृहम गत । तत्र भोजनादिभि सत्कृत स सुष्वाप । स्वप्ने च स द्वौ पुरुषौ जल्पन्तौ श्रुतवान् । एक कथयति—हे कर्त, अनेन उपभुक्तधनेन सोमिलकसत्कारे महान् व्यय कृत, तस्य पूर्ति कुत भविष्यति ।' अपर आह—'हे कर्मन्, मम कृत्यमेतद् यद् उपभुक्तधनेन कृतम् । तत्परिणामस्तु त्वदायत्त ।' सोमिलक प्रात प्रबुद्ध सन् पश्यति यत् कश्चन राजपुरुष उपभुक्तधनाय राजप्रसादजम् धनम् दत्तवान् । इदम् सर्वम् दृष्ट्वा सोमिलक विचारितवान् यत् सचयरहितोऽपि उपभुक्तधन श्रेयान्, न च स कृपण गुप्तधन । तद् विधाता माम् उपभुक्तधनम् विदधातु । फलतश्च स उपभुक्तधन एव जात । अतोऽहं ब्रवीमि—'अर्थस्योपार्जन कृत्वा' इति ।

कथा ६ (वृषभशृगालकथा)

वक्ता—सोमिलक, श्रोता—पुरुष (कर्म) ।

प्रसङ्ग—यदा पञ्चमकथापात्रभूतेन सोमिलकेन पुरुषाद् विपुलधनस्य वर प्रार्थित, तदा पुरुषेण कथितम् यद् भोगरहितेन धनेन स किम् करिष्यति । सोमिलकेन उक्तम् यत् कामम् धनस्य भोगो न स्यात् पुनरपि तद् भवतु, यत स बहो कालाद धनाय स्पृहयित्वापि तद् न प्राप्तवान् । उक्त च—

शिथिलौ च सुबद्धौ च पतत पततो न वा ।
निरीक्षितौ मया भद्र दश वर्षाणि पञ्च च ॥

पुरुष आह—'कथमेतत् ?' सोमिलक कथयति—

कथा—कस्मिंश्चिद् वनोद्देशे तीक्ष्णविषाण नाम महावृषभ आसीत् । स मदमत्त सन् वन विचरणम् कुर्वन् आसीत् । तत्रैव वने प्रलोभक नाम शृगाल वसति स्म । स कदाचित् शृगाल्या सह नदी तटे स्थित आसीत् । तदैव स महावृषभ तत्र जलम पातुम् समागत । तस्य लम्बमानौ वृषणौ दृष्ट्वा शृगाली शृगालमाह यद अस्य वृषभस्य इमौ द्वौ मांसपिण्डौ लम्बमानौ स्त, एतौ शीघ्रमेव पतिष्यत तदस्य अनुगमनम् कार्यम् । शृगाल पूर्वम तु सहमतो न बभूव,

किन्तु पश्चात् शृगाल्या भर्त्सित सन् सहमतोऽभवत् । द्वाभ्यामपि तस्य वृषभस्य पञ्चदश वर्षाणि यावद् अनुगमनम् कृतम्, किन्तु तौ मांसपिण्डौ न पतितौ । तदा खिन्न सन् शृगाल· शृगालीम—'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इत्यादिकम् आह । पुन स कथितवान् यद् तयोस्तत्पश्चादपि पात न संभवी, अत· स्वस्थानमेव गच्छाव । अतोऽहं ब्रवीमि—'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इति ।